तसव्वुफ अथवा सूफीमत

लेखक

श्री चन्द्रबली पांडे

"हिन्दी" के सम्पादक

प्रकाशक

सरस्वती मंदिर;

जतनबर, बनारस ।

१९४५] [मूल्य ३)

निवेदन

'तसव्वुफ अथवा सूफीमत' का नाम ही कुछ ऐसा बन गया है कि उसके विषय में कुछ निवेदन कर देना अनिवार्य हो गया है। बात यह है कि हिन्दी के लोग 'सूफीमत' से तो भलीभाँति परिचित हैं किन्तु 'तसव्वुफ' का व्यवहार हिन्दी में अभी नया नया हो रहा है अतः उससे लोग प्रायः अपरिचित से ही हैं। उधर उर्दू की दशा यह है कि उसके लोग तसव्वुफ का अर्थ तो समझते हैं पर सूफी मत का अर्थ नहीं जानते। ऐसी स्थिति में उचित समझा गया कि हिन्दी में तसव्वुफ का व्यवहार भी चला दिया जाय जिससे हिन्दी के लोग भी उससे अभिज्ञ हो जायँ। यहाँ विचारणीय बात यह अवश्य है कि जिन सूफियों ने सूफीमत का हिन्दी में इतना प्रचार किया उन्होंने इस तसव्वुफ शब्द को ही क्यों छोड़ दिया। सो, इसका सीधा समाधान यह है कि सच पूछिए तो सूफियों ने न तो 'सूफीमत' शब्द का ही व्यवहार किया और न 'तसव्वुफ' शब्द का ही। सूफीमत का प्रयोग हिन्दी में तो 'संतमत' के आधार पर अँगरेजी के 'सूफ़ीज़्म' के सहारे सहज में ही चल पड़ा, परन्तु 'तसव्वुफ' का कहीं नाम तक नहीं दिखाई दिया। यद्यपि विचार से देखा जाय तो 'तसव्वुफ' और 'सूफीमत' का मूल एक ही है—दोनों का माद्दा वही 'सूफ' अथवा 'साद-वाव-फे' है तथापि दोनों के बनने में बड़ा भेद है। 'सूफ' से अरबी में 'तसव्वुफ' बना बिल्कुल अपने ढंग पर किन्तु अँगरेजी तथा हिन्दी में एक ही ढंग पर 'इज्म' तथा 'मत' जोड़ देने से 'सूफ़ीज़्म' और 'सूफीमत' सिद्ध हो गए जो बराबर एक ढंग पर चलते रहे। 'तसव्वुफ' शब्द को लेकर सूफी नहीं चले थे कि उसके प्रचार का आग्रह करते। नहीं, उन्हें तो अपने दीन तथा इसलाम का प्रचार करना था, कुछ अरबी भाषा और अरबी रूप का नहीं। निदान उन्होंने 'कलमा' को 'पाढत', 'कुरान' को 'पुरान' और 'इबलीस' को 'नारद' के रूप में

देखा और अपने मत को सर्वथा हिन्दी बना लिया। फिर उनकी रचना में 'तसव्वुफ' शब्द का दर्शन होता तो कहाँ से और कैसे होता ? किन्तु आज जब 'भाव' की उपेक्षा कर 'भाषा' पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है तब 'हिन्दी' का 'तसव्वुफ' से अपरिचित रह जाना ठीक नहीं, यही जान कर यहाँ तसव्वुफ का व्यवहार भी खूब किया गया है और यह आशा की गई है कि इस प्रकार हिन्दी के लोग भी इसलामी तसव्वुफ से भलीभाँति अभिज्ञ हो जायँगे।

'तसव्वुफ अथवा सूफीमत' की रचना ३३-३४ में हुई थी किन्तु उसका प्रकाशन हो रहा है ४४–४५ में। इस प्रकार रचना और प्रकाशन में जो १०–१२ वर्ष का अन्तर पड़ रहा है वह भी एक दृष्टि से विचारणीय है। उस समय लेखक के हृदय में भावना थी डाक्टर होने की और फलतः यह रचना भी रची गई थी उसी की भूमिका के रूप में। किन्तु घटना कुछ ऐसी घटी कि इस जन को काशी विश्वविद्यालय से नाता तोड़ना पड़ा और टूट गया उसीके साथ डाक्टर होने का विचार भी। हिन्दू-विश्व-विद्यालय में हिन्दी की उपेक्षा हो और यह जन कहीं और से डाक्टर बने यह उसकी भावना के सर्वथा प्रतिकूल था। अतः अपनी विवशता के कारण उसे इसको जहाँ का तहाँ छोड़ना पड़ा और फलतः आज तक यह कार्य अधूरा ही रह गया। जिस-तिस की प्ररणा से जहाँ-तहाँ से इसके प्रकाशन की बात भी चली पर अपनी अयोग्यता के कारण वह पूरी न हो सकी। निदान चुप हो बैठ रहा और हिन्दी में कुछ करते रहने के विचार से और ही कुछ लिखता-पढ़ता रहा। हाँ, समय-समय पर इसके अध्याय यत्र-तत्र प्रकाशित भी होते रहे। इस प्रकार 'उद्भव', 'विकास', 'परिपाक', 'आस्था', 'साधन' और 'प्रभाव' तो ना० प्र० पत्रिका में प्रकाशित हो गए और 'अध्यात्म' को श्री 'हरिऔध-अभिनन्दन-ग्रन्थ' में स्थान मिला। 'भारतका ऋण' काशी-विश्व-विद्यालय के 'जरनल' में पहुँचा और काँटे पर चढ़ भी गया। शोध कर भेजा गया तो सूचना मिली कि अमुक व्यक्ति से मिल लो। मिलनेकी बात जँची नहीं। किसी से मिलकर कुछ छपाने का विचार तब भी न था। परिणाम यह हुआ कि वह प्रकाशित न हो सका और जहाँ का तहाँ रह क्या गया, खो गया और हिन्दी को फिर कभी स्थान न मिला।

हाँ, इसी बीच एक घटना और घटी। काशी-विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में हिन्दी के 'निर्गुण सम्प्रदाय' पर अनुशीलन हो चला था। 'संत-सम्प्रदाय' पर शोध हो चुकी थी। 'सूफी-सम्प्रदाय' पर काम करना अपने राम को मिला था। सो देखा तो प्रकट दिखाई दिया कि हिन्दी के सन्त कवियों में भी कुछ सूफी हैं। संत-सूफी का प्रश्न उठा। सूफी के संकेत पर विचार हुआ। निष्कर्ष यह निकला कि जो जन्म से मुसलमान और कर्म से सूफी हो उसे ही सूफी माना जाय, किसी अन्य को नहीं। बस, सूफियों पर ध्यान दिया तो उनमें ऐसे भी निकल आए जो कुरान-पुरान को कुछ समझते ही नहीं और अपने राम को ही सब कुछ मानते हैं। अस्तु, देखा यह कि कोई कारण नहीं कि सूफी-परम्परा पर ध्यान रखते हुए भी हम उन संतों को सूफी न समझें जो जन्म से मुसलमान पर इसलाम के भक्त नहीं: हाँ, आत्माराम के पुजारी हैं। फिर क्या था, उन सभी संत कवियों को 'सूफी-सम्प्रदाय' में घसीट लिया गया जो मुसलमान होने पर भी 'निर्गुण' अथवा 'संत'-समाज में जा विराजे थे। इस प्रकार हिन्दी के सूफी कवियों में दो वर्ग निकल आए और उनका नाम भी सूफी परम्परा के अनुकूल ही रख दिया गया 'सालिक' और 'आजाद'। कहनेकी बात नहीं कि ऐसे 'आजाद' अथवा संतसूफियों में कबीर ही सर्वप्रधान थे जिनको लेकर उस समय परस्पर विवाद छिड़ गया और जो कुछ बीता उसका यह प्रसंग नहीं। यहाँ इसके छेड़ने का अभिप्राय इतना भर है कि पाठक इससे जान लें कि इससे इतने दिनों तक अलग हो जाने के कारण क्या हुए और किस प्रकार सूफी-साहित्य के अनुशीलन का कार्य अधूरा रह गया।

परन्तु सबसे विकट बात यह हुई कि सूफियों की खोज में यह 'प्रेम-पीर' का पुजारी जहाँ पहुँचा वहाँ कुछ और ही 'पीर' दिखाई दी। देखा कि भाषा को छोड़कर 'भाव' को कोई पूछता ही नहीं है। सभी उर्दू के हो रहे हैं; और जैसे-तैसे उस 'भाखा' को मिटाना चाहते हैं जिसमें 'प्रेम की पीर' कूट कूट कर भरी है। निदान 'भाव' को छोड़कर 'भाषा' का हो रहा और आज जब यह रचना छपकर प्रकाशित हो रही है तब 'भाषा' के रूप में ही सबके सामने आ रहा है। किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि यह 'भाषा' की रक्षा और कुछ नहीं उसी 'भाव' की रक्षा है

जिसने अपने सहज विकास में सूफी साहित्य का रूप धारण किया और जिसका यह तुच्छ सेवक सदा से उपासक रहा है।

हाँ, तो कहना यह था कि काशी-विश्व-विद्यालय का डाक्टर बननेके लिये जो रचना रची गई वह उस समय 'भूमिका' से आगे न बढ़ सकी। बढ़ती भी कैसे? जब उस समय विश्व-विद्यालय ही छोड़ दिया गया! परन्तु इतना हुआ अवश्य कि उस समय उसकी 'सारिणी' 'करणिक' महोदय के पास पहुँच गई और अपने आग्रह तथा रायबहादुर (डाक्टर) श्यामसुन्दरदासजी के पुरुषार्थ तथा महामना कुलपति मालवीयजी की अनुकंपा से हिन्दी भाषा में भी लिखकर डाक्टर बनने का अनुमति मिल गई और यह प्रकट हो गया कि कुछ मूर्तियों को छोड़कर वस्तुतः हिन्दू-विश्व-विद्यालय में भी कोई हिन्दी का विरोधी नहीं, और यदि है भी तो अपने विरोध के कारण, हिन्दी के विरोध के कारण कदापि नहीं। आज भी अपनी धारणा यही है। आज की स्थिति को कौन कहे।

'तसव्वुफ अथवा सूफीमत' की रचना 'परिशीलन' की ही दृष्टि से नहीं 'परिचय' की दृष्टि से भी हुई है। इस पुस्तक को प्रस्तुत करने का ध्येय वास्तव में यह रहा है कि एक ओर तो पाठक वस्तुतः तसव्वुफ के मूल में पैठ जायँ और दूसरी ओर उसकी प्रगति में रमते हुए शामी मतों के रूप से भी अभिज्ञ हो जायँ। साथ ही हिन्दी के सूफी साहित्य के अध्ययन की भूमिका तो यह है ही। सच पूछिए तो हिन्दी में सूफी-सम्प्रदाय दो रूपों में हमारे सामने आया है। इसमें से एक को तो हम 'आज़ाद' सूफियों का सम्प्रदाय कहते हैं और दूसरे को 'सालिक' सूफियों का। प्रथम से हमारा तात्पर्य उन सूफियों से है जो वस्तुतः स्वतन्त्र विचार के थे और अपने अनुभव के सामने किसी 'कुरान-पुरान' अथवा 'विधि-विधान' को कुछ नहीं मानते थे और दूसरे से उनसे जो इसलाम के पक्के भक्त पर उदार और हृदयालु थे और कुरान की बात हृदय में भी खूब देखते थे। हम इन्हीं इसलामी सूफियों को सच्चे अर्थ में सूफी कह सकते हैं, ऐसी बात नहीं। हाँ, तसव्वुफ का इसलामी प्रसार इन्हीं में है, इसमें सन्देह नहीं। आशा है, इन दोनों प्रकार के सूफियों के अध्ययन में इससे सहायता मिलेगी।

एक बात और। इन सूफियों के प्रेम का प्रभाव हमारे यहाँ के कुछ कवियों पर भी पड़ा है और हमारे यहाँ के भक्ति-भाव का प्रभाव कुछ अन्य मुसलमान कवियों पर भी। अस्तु, इस प्रभाव की जानकारी में भी इस 'भूमिका' से कुछ सहायता मिले, यह दृष्टि भी इसकी रचना में अपने सामने रही है और अपने अध्ययन का एक अंग यह भी रहा है। संक्षेप में, प्रथम खंड तो पुस्तक के रूप में यह प्रकाशित हो रहा है किन्तु शेष तीन खंड अभी विचार के रूप में ही पड़े हैं। यदि समय और हृदय ने साथ दिया तो उनका अध्ययन भी कभी इससे अधिक अच्छे और व्यवस्थित रूप में सब के सामने आ सकेगा। अन्यथा तोप के लिये तो तुलसी बाबा का यह पद है ही—

"डासत ही भव-निसा सिरानी कबहुँ न नाथ नींद भरि सोयो।"

अन्त में निवेदन इतना ही करना है कि यदि श्री राम बहोरीजी शुक्ल तथा श्री विश्वनाथ प्रसादजी मिश्र की कृपा और प्रेरणा न होती तो इसका प्रकाशन भी न होता और न होता पाठकों का इससे वह लगाव जो इस प्रकार आज इससे आप ही हो रहा है। रही अपनी बात। सो आज इसे इस रूप में प्रकाशित देखकर न तो उल्लास ही हो रहा है और न उत्साह ही। हाँ, इस को देखकर इतना दुःख अवश्य होता है कि यदि इसे छपना ही था तो तब क्यों न छपी जब इस पर 'दुइ बोल' लिखनेवाला भी कोई विद्यमान था। आज स्वर्गीय पंडित रामचन्द्रजी शुक्ल का अभाव जितना खल रहा है उतना पहले कभी नहीं खला। बस। यह तो उन्हीं के आशीर्वाद का प्रसाद है, फिर किसी को दूँ क्या ? हाँ, इसके अध्ययनमें श्री मौलवी महेशप्रसाद जी आलिम फाजिल से जो सहायता बराबर मिली है उसके उल्लेख की आवश्यकता नहीं। किन्तु यदि अन्त की अनुक्रमणिकाओं से किस का लाभ हो गया तो इसका श्रेय श्री ज्ञानवती त्रिवेदी को अवश्य है जिन्होंने अस्वस्थता की दशा में भी इस पर श्रम किया है, अन्यथा इसका होना तो अपने लिये कठिन ही था। शेष में, त्रुटियों के लिये क्षमायाचना के अतिरिक्त यदि और कुछ बचा तो उन विद्वानों का आभार जिनके आधार पर यह रचना खड़ी है। अच्छा होता यदि इस रचना में मूल का अधिक हाथ होता पर डाक्टरी की चीज में

अँगरेजी की अवहेलना कैसे हो सकती थी और शक्ति का भी तो उस समय अच्छा अभाव था ! अस्तु, जो बना सो बना, जो बचा सो आगे देखा जायगा। 'भूमिका' को शिखर समझना भूल है, पर उसकी उपेक्षा भयावह भी।

उपयोगिता के विचार से अन्त में जो परिशिष्ट दिए गए हैं उनके विषय में केवल यही कहना है कि यहाँ उनके अध्ययन का मार्ग भर दिखाया गया है। क्या ही अच्छा होता यदि उन पर ग्रन्थ भी प्रकाशित हो जाते। आशा है 'मुसलमानों की संस्कृत-सेवा' में कुछ 'भारत' के 'ऋण' पर और विचार हो जायगा परंतु प्रथम पर तो अभी कुछ होता नहीं दिखाई देता। यद्यपि है वह भी अपने अध्ययन का आवश्यक अंग। निदान, कहना यह रहा कि लिपि और अज्ञता के कारण जो नाम ठीक से नहीं पढ़े गए अथवा विस्मृति और विचार के कारण जहाँ-तहाँ जो-सो हो गए उनका कुछ परिमार्जन तो अनुक्रमणिका से हो जायगा और शेष का दूर होना किसी अगले संस्करण में ही संभव है। सच तो यह है कि अभी शब्दों की एकरूपता का पक्का विधान हिन्दी में नहीं हो पाया है; फिर उसकी चिन्ता क्या ? क्या कोई माई का लाल यह बीड़ा उठाकर हिन्दी को कृतार्थ करेगा ? दोष-दर्शक को पहले से ही साधुवाद। कारण, उसके बिना किसी को आत्मदर्शन नहीं होता।

विनीत

चन्द्रबली पांडे

२८-१-४५

माघी पूर्णिमा,

काशी, विश्वविद्यालय।

विषय-सूची

तसव्वुफ अथवा सूफीमत

१. उद्भव

सूफीमत के उद्भव के संबंध में विद्वानों में गहरा मतभेद है। यह मतभेद सूफीमत के दार्शनिक पक्ष की गहरी छान-बीन का फल नहीं है। मत तो किसी वासना, भावना या धारणा की संरक्षा अथवा उसके उच्छेद के प्रयत्न का परिणाम होता है। अतः जो लोग उसके मर्म से परिचित होना चाहें उन्हें सर्वप्रथम उसके

---

(१) सूफी शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में भी अनेक मत हैं। कुछ लोगों की धारणा है कि मदीना में मसजिद के सामने एक सुफ्फा (चबूतरा) था। उसी पर जो फकीर बैठते थे वे सूफी कहलाए। दूसरे लोगों का कहना है कि सूफी शब्द के मूल में सफ (पंक्ति) है। निर्णय के दिन जो लोग अपने सदाचार एवं व्यवहार के कारण औरों से अलग एक पंक्ति में खड़े किए जायँगे वास्तव में उन्हीं को सूफी कहते हैं। तीसरे दल का कथन है कि सूफी वस्तुतः स्वच्छ और पवित्र होते हैं। सफा होने के कारण उनको सूफी कहते हैं। चौथे दल के विचार में सूफी शब्द सोफिया (ज्ञान) का रूपांतर है। ज्ञान के कारण ही उनको सूफी कहा जाता है। पर अधिकतर विद्वानों का मत है कि सूफी शब्द वास्तव में सूफ (ऊन) से बना है। सूफधारी ही वास्तव में सूफी के नाम से ख्यात हुए। निकल्सन, ब्राउन, मारगोलियथ प्रभृति विद्वानों ने सिद्ध कर दिया है कि वास्तव में सूफी शब्द सूफ से बना है। अनेक मुसलिम आलिमों ने भी इसे स्वीकार किया है। अस्तु, हमको यही व्युत्पत्ति मान्य है। बपतिस्मा देनेवाला जान या यूहन्ना भी सूफधारी था, पर अब सूफी का प्रयोग मुसलिम संत या फकीर के लिये ही नियत सा समझा जाता है।

इतिहास पर ध्यान देना चाहिए। इतिहास के आधार पर अध्ययन करने से किसी मत का सच्चा स्वरूप अपने शुद्ध और निखरे रूप में प्रकट होता है और उसके उद्भव तथा विकास का ठीक ठीक पता भी चल जाता है। परंतु पश्चिम के पंडितों ने सूफीमत के विवेचन में, उसके मूल-स्रोत की उपेक्षा कर, या तो उसके इसलामी स्वरूप अथवा केवल उसके आर्य-संस्कार पर ही अधिक ध्यान दिया है। जिन मनीषियों ने निष्पक्ष भाव से सूफीमत के उद्भव के विषय में जिज्ञासा की है उनके निष्कर्ष भी प्रायः भ्रमात्मक ही रहे हैं। संस्कार लाख प्रयत्न करने पर भी अपनी झलक दिखा ही जाते हैं। अतः किसी मत के विवेचन में संस्कारों का बड़ा महत्त्व होता है। उन्हीं के परिचय के आधार पर किसी मत के सच्चे स्वरूप का आभास दिया जा सकता है। सूफीमत इसलाम का एक प्रधान अंग माना जाता है। यद्यपि अनेक सूफियों ने अपने को मुहम्मदी मत से अलग रखने की पूरी चेष्टा की तथापि उनके व्याख्यान में मुहम्मद साहब का पूरा प्रभाव दिखाई देता है। स्वयं मुहम्मद साहब अपने मत, इसलाम, को अति प्राचीन सिद्ध करते थे। उनका कहना था कि मूसा और मसीह के उपासकों ने इस प्राचीन मत, इसलाम, को भ्रष्ट कर दिया है; अतः अल्लाह ने उसके सच्चे स्वरूप के प्रकाशन के लिये मुझको अपना रसूल चुना है। सूफियों में जिनका ध्यान मुहम्मद साहब की इस प्रवृत्ति की ओर गया उनको आदम[१] ही सर्वप्रथम सूफी दिखाई पड़े; किन्तु जो सूफी मुहम्मद साहब को इसलाम का प्रवर्त्तक मानते हैं उनके विचार में अंतिम रसूल ही तसव्वुफ के भी विधाता हैं। परंतु तो भी सूफियों की व्यापक विचार-धारा के लिये कुरान में पर्याप्त सामग्री न थी। निदान, उनमें कुछ ऐसे प्रतिभाशाली व्यक्ति निकले जो हदीस के आधार पर सिद्ध करने लगे कि गुह्य-विद्या का प्रचार स्वयं मुहम्मद साहब ने नहीं किया, उन्होंने कृपा कर उसका भार अली या किसी अन्य साथी को, उसकी गुह्यता के कारण, सौंप दिया। मुसलमानों में जो कट्टर थे उनको सूफियों के विचारों में कुछ इसलामेतर भावों का समावेश देख पड़ा; अतः उन्होंने तसव्वुफ को इसलाम से कुछ

---

(१) स्टडीज़ इन तसव्वुफ़, पृष्ठ ११८।

भिन्न समझा। इस प्रकार स्वतः इसलाम में तसव्वुफ़ के संबंध में मतभेद रहा। कभी उसके विषय में मुसलिम एकमत न हो सके।

मुसलमानों के पतन के बाद मसीहियों का सितारा चमका। सूफियों और मसीही संतों में बहुत कुछ साम्य था ही। मसीहियों ने उचित समझा कि सूफियों को पूरा नहीं तो कम से कम आधा तो अवश्य ही मसीही सिद्ध किया जाय। निदान, उन्होंने कहना शुरू किया कि आरंभ के सूफी यूहन्ना वा मसीह के शिष्य थे। पादरियों के लिये तो इतना कह देना काफी था, पर मसीही मनीषियों को इतने से संतोष न हो सका। उन्होंने देखा कि जैसे कुरान की सहायता से तसव्वुफ इसलाम का प्रसाद नहीं सिद्ध हो सकता वैसे ही इंजील के आधार पर भी उसको मसीही मत का प्रसाद नहीं कहा जा सकता। तब तसव्वुफ आया कहाँ से? आर्य-उद्गम तो उनको रुचिकर न था, फिर भी, उन्हें उन विद्वानों को शांत करना था जो तसव्वुफ़ को आर्य-संस्कार का अभ्युत्थान अथवा वेदांत का मधुर गान समझते थे। अस्तु, उन्होंने नास्टिक और मानी मत के साथ ही साथ नव-अफलातूनी मत की शरण ली। अब नव-अफलातूनी-मत की सहायता से उन प्रमाणों का निराकरण किया गया जिनके कारण तसव्वुफ भारत का प्रसाद समझा जाता था। किंतु जब उससे भी पूरा न पड़ा तब विवश हो, इतिहास के आधार पर, बाद के सूफियों पर भारत का प्रभाव मान लिया गया और तसव्वुफ अंशतः प्राचीन आर्य-संस्कृति का अभ्युत्थान सिद्ध हुआ।

तो भी मुसलिम साहित्य के मर्मज्ञ पंडितों के सामने सूफीमत के उद्भव का प्रश्न बराबर बना रहा। अंत में उनको उचित जान पड़ा कि इसलाम की भाँति ही उसको भी कुरान का मत मान लिया जाय। निदान, निकल्सन[1] तथा ब्राउन[2] सदृश मर्मज्ञों ने सूफीमत का मूल-स्रोत कुरान में माना। माना कि कुरान में कतिपय स्थल सूफियों के सर्वथा अनुकूल हैं और उन्हीं के आधार पर

---

(१) ए लिटेरेरी हिस्टरी आव पर्शिया, पृ० ३०१।

(२) ए लिटेरेरी हिस्टरी आव दी अरब्स, पृ० २३।

सदा से सूफी अपने मत को इसलाम के अंतर्गत सिद्ध करते भी आ रहे हैं ; परंतु विचारणीय प्रश्न यहाँ केवल यह है कि सूफियों का उक्त समूचा अर्थ वास्तव में कहाँ तक ठीक है । सूफियों ने शब्दों को तोड़-मरोड़कर इसलाम और तसव्वुफ को एक करने की जो घोर चेष्टा की उसका प्रधान कारण है कि फकीह (धर्मशास्त्री) सदैव फकीरों के प्रतिकूल रहे हैं । यदि हम सूफियों की इस बात को मान भी लें कि उनका मत कुरान-प्रतिपादित है तो भी सूफीमत का उद्भव कुरान से सिद्ध नहीं हो पाता । हम देख चुके हैं कि कुरान अथवा मुहम्मद साहब का मत प्राचीन परंपरा का एक विशेष रूप है । यही कारण है कि इसलाम में प्राचीन नबियों, विशेषतः मूसा, ईसा और दाऊद की पूरी प्रतिष्ठा है, और मुसलमान तौरेत, इजील और जबूर को आसमानी किताब मानते हैं । अस्तु, कुछ सूफियों का[1] कहना है कि सूफीमत का, आदम में बीज-वपन, नूह में अंकुर, इब्राहीम में कली, मूसा में विकास, मसीह में परिपाक एवं मुहम्मद में मधु का फलागम हुआ । एक और प्रवाद[2] है कि सूफियों के अष्टगुणों का आविर्भाव क्रमशः इब्राहीम, इसहाक, अयूब, जकरिया, यही, मूसा, ईसा एवं मुहम्मद साहब में हुआ । सारांश यह कि सूफीमत के आदि-स्रोत का पता लगाने के लिये इसलाम से परे, मुहम्मद साहब से और भी आगे बढ़कर शामी जातियों की उस भावभूमि पर विचार करना चाहिए जिसके गर्भ में सूफीमत का मूल आज भी छिपा है ।

सूफीमत के मूल-स्रोत का पता लगाने के लिए यह परम आवश्यक है कि हम उसके सामान्य लक्षणों से भली भाँति अभिज्ञ हों । इसमें तो किसी को भी संदेह नहीं हो सकता कि जिस वासना, भावना या धारणा के आधार पर सूफीमत का प्रासाद खड़ा किया गया उसके मूल में प्रेम का निवास है । प्रेम पर सूफियों का इतना व्यापक और गहरा अधिकार है कि लोग प्रेम को सूफीमत का पर्याय समझते हैं । सूफियों के पारमार्थिक प्रेम के संकेत पर पश्चिम में प्रेम का इतना गुणगान किया गया

---

(१) दी अवारिफुल मारिफ़, पृ० ७ ।

(२) तसव्वुफ इसलाम, पृ० ११ ।

कि इसका लोक से कुछ संबंध ही न रह गया। प्रेम के सुनहरे पंख पर बैठकर लोग न जाने कहाँ कहाँ की झाँकी लेने लगे। बात यह है कि मसीह का मूलमंत्र विराग है। सूफियों के प्रेम-पक्ष की प्रबलता अथवा उनके राग की वर्षा से जब यूरोप आप्लावित हो गया तब उसे मसीही मत में भी विरति के साथ रति[1] की सूझी और फलतः उसका भी सत्कार करना पड़ा। अब प्रेम में पाषंड का प्रचार होने लगा। अस्तु, आजकल प्रेम का लक्ष्य प्रेम ही जो सिद्ध किया जाता है, जगह जगह स्वर्गीय प्रेम के जो गीत गाए जाते हैं, प्रेम को दुनिया से जो अलग खड़ा किया जाता है, उसका प्रधान कारण उक्त धर्म-संकट ही है। मसीह की दुलहिनों अथवा भक्त संतों ने प्रेम को जो अलौकिक रूप दिया उसके मूल में वही रति-भाव है जिसको लेकर सूफी साधना के क्षेत्र में उतरे और शामी सुधारकों के कट्टर विरोध के कारण उसको कुछ दिव्य बनाकर जनता के सामने रखते रहे। प्रेम के संबंध में यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि वह एक मानसी प्रक्रिया है जिसका ध्येय आनंद है। अंतरायों के कारण रति-व्यापार में जितना ही अधिक विघ्न पड़ता है, काम-वासना और भी परिमार्जित हो उतना ही प्रखर प्रेम का रूप धारण करती है। इसी परिमार्जन के प्रसाद से रति को प्रेम की पदवी प्राप्त होती है। देवपरक होने पर यही रति भक्ति का रूप धारण करती है। प्रवृत्ति-मार्गी इसलाम में विवाह आधा स्वर्ग समझा जाता है, अतः प्रेममार्गी सूफियों को रति के संबंध में इतना ढोंग नहीं रचना पड़ता जितना निवृत्ति-मार्गी मसीही संतों और उन्हीं की देखादेखी आधुनिक प्रेम-पंथी कवियों को प्रतिदिन करना पड़ता है।

सूफियों ने जिस सहज रति पर अपना मत खड़ा किया उसका विरोध बहुत दिनों से शामी जातियों में हो रहा था। आदम के स्वर्ग से निकाले जाने की कथा के मूल में रति का निषेध स्पष्ट झलकता है। हौवा की प्रेरणा से आदम का पतन हुआ। स्त्री-पुरुष का सहज संबंध गर्हित समझा गया। फिर क्या था, शामी जातियों में रति की निंदा आरम्भ हुई और आगे चलकर वह मसीही मत में पाखंड में परिणत हो

---

(१) ए शार्ट हिस्टरी आव वीमेन, पृ० २५०; दी लगसी आव दी मिडिल एजेज, पृ० ४०७।

गई। मूसा अपने पूर्वजों की भूमि पर अधिकार जमाना चाहते थे। मुहम्मद साहब को भी अरब या बनी इसमाईल का कई प्रकार से उत्थान करना था। संन्यास से उन्हें चिढ़ और संयत संभोग से प्रेम था। निदान मूसा और मुहम्मद ने प्रवृत्ति-मार्ग पर जोर दिया और संयत संभोग का विधान किया। पर मसीह और उनके प्रधान शिष्य पौलुस ने विरति का पक्ष लिया और उनके प्रभाव से लोग लौकिक रति से विमुख हो गए। उधर अफलातून ने यूनानी गुह्य टोलियों की सहज रति को परम रति का चोला दे अलौकिक प्रेम का प्रतिपादन किया था, इधर सूफियों के प्रेम-प्रचार से रति को प्रोत्साहन मिला। फलतः यूरोप में मसीही संतों का उदय हुआ जो कुमारी मरियम या मसीह के प्रेम में तड़पने लगे। संयोग के लिए कलप उठे। निदान, मसीह के निवृत्ति-प्रधान मार्ग में आध्यात्मिक प्रणय का स्वागत हुआ और लौकिक रति अलौकिक प्रणय में परिणत हो गई।

अच्छा तो गत विवेचन से स्पष्ट होता है कि काम-वासना या रति-भावना को ही विरोध एवं अंतरायों के कारण प्रेम का रूप प्राप्त होता है और उन्हीं के कारण धीरे धीरे भीतर ही भीतर परिमार्जित होती रहने से सामान्य रति को परम प्रेम की पदवी मिलती है; और इसी से तो सूफी आज भी इश्क मजाजी को इश्क हकीकी की सीढ़ी समझते हैं और किसी 'बुत' से दिल लगाने में नहीं हिचकते ? उनकी इस बुत-परस्ती का लक्ष्य कोरा इश्क नहीं बका है और बका वा परमानंद के लिए ही सूफी किसी प्राणी से प्रेम कर परम प्रेम का अनुभव करते और सदा बड़ी तत्परता से उसका विरह जगाते रहते हैं।

विचारणीय प्रश्न यहाँ पर यह उठता है कि सामान्य रति को परम रति की पदवी क्यों मिली और क्यों सूफी इस प्रकार इश्क हकीकी को महत्त्व दे उसके रहस्योद्घाटन में लीन हुए, एवं शामी जातियों में रति का विरोध क्यों छिड़ा और लोग भीतर ही भीतर उसके स्वागत में मग्न क्यों रहे, तथा कहाँ तक उनको अपने गुह्य-प्रयास में सफलता मिली और अंत में क्यों उनके मादन भाव को व्यापक रूप मिल गया ? सो अब तो इसमें संदेह नहीं कि परम प्रेम के लिए आलंबन का परम होना अनिवार्य है। प्राणी परम के लिए लालायित तभी होता है जब सामान्य से उसे सुख,

संतोष नहीं होता—सुख-संतोष के अभाव का प्रधान कारण भविष्य का भय है। प्राणी यदि सुखी रहे और मरण के भय से बच भी जाय तो उसे किसी परमेश्वर की भी आवश्यकता न पड़े, किसी अन्य देवी-देवता की तो बात ही क्या ? आत्म-रक्षा के लिए मनुष्य ने न जाने किसकी किसकी उपासना की, पर उसे सुख-संतोष कहीं नहीं मिला। अंत में शिथिल हो उसने किसी परमेश्वर की शरण ली और उसके प्रसाद एवं संयोग के लिए तड़पना आरंभ किया। उसने दिव्य दृष्टि से देख लिया कि वास्तव में उसके अतिरिक्त इस प्रपंच में और कुछ भी नहीं है। वही सब कुछ है और सब कुछ उसी का रूप है। अद्वैत की इस भावना से वह आगे न बढ़ सका। उसके परमेश्वर भी उसी में लीन हो गए और वह ब्रह्म बन गया—अमृत और आनंद हो गया।

अमृत एवं आनंद की कामना से मनुष्य अन्य प्राणियों से आगे बढ़ा। उसने देखा कि रति, प्रजाति और आनंद का विधान स्त्री-पुरुष के सहज संबंध में निहित है। आरंभ में शायद उसको इस बात का पता न था कि जनन सृष्टि की एक सामान्य क्रिया है। अपनी शक्ति की कमी का अनुभव कर उसकी पूर्ति के लिए मानव ने किसी अलौकिक शक्ति का पता लगा लिया था। उसने मान लिया था कि संतान का उदय किसी देवता का प्रसाद है। संतानों के मंगल के लिए उसने उचित समझा कि सर्वप्रथम संतान को उस देवता को चढ़ा दे जिसकी कृपा से उसे सुख और संतोष मिलता है और जिसके कोप से सर्वनाश हो जाता है।

मानव ने देखा कि स्त्री-पुरुष के सहज संबंध में जो सुख मिलता है उसकी कामना उसके देवता को भी अवश्य होगी। यदि उसके देवता को उसकी लालसा न होती तो वह उसके सुख में दुःख उपस्थित कर किसी प्राणी को उसके बीच से उठा क्यो ले जाता और निधन के अनंतर भी स्वप्न में उन प्राणियों का दर्शन उसे क्यों होता। अतः उसने उचित समझा कि प्रथम संतान[1] को अपने देवता पर चढ़ा दे और उसके आनंद के लिए उसका विवाह भी उसी संतान से कर दे।

---

(१) प्रथम प्रसव को किसी देवता पर चढ़ाने की प्रथा अजीब नहीं। भारत में भी इस प्रथा का पता चलता है। भवानी को संतान का चढ़ाना यद्यपि गाली सा हो गया

इतना तो स्पष्ट ही है कि विवाह से रति की बाढ़ सीमित हो जाती है। प्रणय का अर्थ प्रेम नहीं, रति की मर्यादा को स्थिर करना है। प्रणय की प्रतिष्ठा हो जाने पर रति का क्षेत्र निर्धारित हो जाता है। रति के क्षेत्र के निर्धारित हो जाने से प्रेम का परिमार्जन आरंभ होता है। परिमार्जन से प्रेम को परम प्रेम की पदवी प्राप्त होती है। यदि यह ठीक है तो समर्पित संतान की कामवासना के परिमार्जन में ही सूफियों का परम प्रेम छिपा है।

उपनिषदों[1] में स्पष्ट कहा गया है कि प्रजाति और आनंद का एकायन उपस्थ है। परम पुरुष ने रमण[2] की कामना से द्विधा फिर बहुधा रूप धारण किया। रमण के लिए ही रमणी का सृजन हुआ। ऋषियों ने देखा कि उपस्थ में प्रजाति और रति का विधान तो है पर उसमें अमृत और शाश्वत आनंद कहाँ है? संतान भी मर्त्य होती है और आनंद भी क्षणिक होता है। अस्तु, सहजानंद में तो शाश्वत आनंद नहीं मिल सकता। शाश्वत आनंद तो तभी उपलब्ध हो सकता है जब सहजानंद के उपासक भी सहज रति का आलंबन किसी शाश्वत सत्ता को बना लें। भारत में परमात्मा के साकार स्वरूप को खड़ा कर जिस माधुर्य-भाव का प्रचार किया गया उसी का प्रसार शामी जातियों मे निराकार का आलंबन ले मादन-भाव के रूप में हुआ।

है तथापि प्रथम फल को लोग स्वयं नही खाते, किसी संत फकीर को दे देते हैं। दक्षिण में देवदासियाँ अभी मिलती है और बहुत से लोग आज भी दिखाई पड़ते है जिनको उनके माता-पिता ने किसी साधु को दे दिया और फिर बड़ा होने पर उससे मोल लिया या उसे साधु हो जाने दिया। प्रणय की भी कुछ वही दशा है। कूप एवं वापी तक का विवाह करा देते है। शामी जातियों में विशेषता यह थी कि उनकी समर्पित संतान परस्पर देव-रूपमें संभोग करना साधु समझती थीं, उसको प्रतीक के रूप में ग्रहण नही करती थीं।

(१) बृ० आ० २ अ० ४ ब्रा० ११, बृ० आ० ४ अ० ५ ब्रा० १४, तै० उ० भृगुबल्ली ० अ० ३, कौ० ब्रा० उ० १० म० ७।

(२) बृ० आ० प्र० अ० च० ब्र० ३।

शामी जातियों में बाल, कादेश, ईस्तर प्रभृति जो देवी-देवता थे उनके मंदिरों में समर्पित[1] संतानों का जमघट था। उक्त मंदिरों में जो अतिथि आते थे उनके सत्कार का भार उन्हीं समर्पित संतानों पर था। अतिथि-सत्कार की उनमें इतनी प्रतिष्ठा थी कि किसी प्रकार का रति-दान पुण्य ही समझा जाता था। प्रणय की प्रतिष्ठा और सतीत्व की मर्यादा निर्धारित हो जाने से सत्त्व-प्रधान संतानों ने उक्त दान से अपने को अलग रखना उचित समझा। अपने प्रियतम के संयोग के लिए वे सदैव तड़पती रहीं। किसी अन्य अतिथि को रति-दान दे उसके सुख से सुखी नहीं हुई। सूफियों के व्यापक विरह का उदय उन्हीं में हुआ।

यद्यपि संसार के सभी देशों में देवदासियों का विधान था; पर वास्तव में सूफियों का परम प्रेम उसी प्रेम का विकसित और परिमार्जित रूप है जिसका आभास हमें अभी अभी शामी जातियों की समर्पित संतानों में मिला है। इंजे[2] महोदय एवं कतिपय अन्य मनीषियों ने एक ओर यूनान की गुह्य टोलियों में मादन-भाव का प्रसार और दूसरी ओर अफलातून के अलौकिक प्रेम के प्रतिपादन को देखकर, यह उचित समझा कि यूनान को ही मादन-भाव के प्रवर्त्तन का सारा श्रेय दिया जाय; परंतु जैसा कि हम देख चुके हैं, उक्त गुह्य मंडलियों का संबंध किसी देश-विशेष से नहीं, प्रत्युत उस सत्त्व से है जिसकी प्रेरणा से सद्भावना का उदय और संवेदना का प्रसार होता है और मनुष्य-मात्र का जिस पर समान अधिकार है। अस्तु, सूफीमत के उद्भव के संबंध में यह ध्यान रखना चाहिए कि उसके मादन-भाव का उदय शामी जातियों के बीच में हुआ और फिर अपनी पुरानी भावना तथा धारणा की रक्षा के लिए सारग्राही सूफियों ने अन्य जातियों के दर्शन तथा अध्यात्म से सहायता ले धीरे धीरे एक नवीन मत का सृजन किया। सूफीमत के उद्भव को लेकर जो मतभेद चल पड़े हैं उनके मूल में इस तथ्य की अवहेलना ही दिखाई देती है कि लोग उसके समीक्षण में सर्वप्रथम उसकी भावना, सहज वासना और मूल

---

(१) दी रेलिजन आव दी सेमाइट्स, पृ० ५१५।

(२) क्रिश्चियन मिस्टीसिज्म, पृ० ३६९, ३४९-५५।

संस्कारों पर ध्यान नहीं देते। तसव्वुफ, नव-अफलातूनी-मत और वेदांत में चिंतन की एकता होने पर भी उनके प्रसार में बड़ी विभिन्नता है जो उनके प्रचारकों में देश-काल की भिन्नता के कारण आ गई है। निदान, सूफीमत के उद्भव के लिये हमें शामी जातियों की आदिम प्रवृत्तियों को ही ढूँढ़ना है अर्थात् उन्हीं में उसके आदि-स्रोत का पता लगाना है, अन्यत्र कदापि नहीं।

हम पहले ही कह चुके हैं कि बाल, कादेश, ईस्तर प्रभृति देवी-देवताओं के वियोगी शामी जातियों मे विरह जगा रहे थे। पर वास्तव में इनमें अधिकांश कामुक थे जो मंदिरों के अखाड़ों में अपनी काम-कला दिखाते तथा नर-नारियों को भ्रष्ट करते थे। देवदास तथा देवदासियाँ कामुकों के शिकार हो गए थे। विरले ही व्यक्ति अपने व्रत के पालन में सफल हो रहे थे। वस्तुतः मंदिर व्यभिचार के अड्डे बन गए थे। समाज का बल-वीर्य प्रतिदिन नष्ट होता जा रहा था। अतएव यहोवा[1] के कट्टर[2] उपासकों ने मंदिरों के 'पवित्र व्यभिचार' का घोर विरोध किया। यहोवा एक रुद्र-सेनानी था। उसने नबियों से स्पष्ट कह दिया कि यदि बनी-इसरा-एल उसकी छत्रच्छाया में अन्य देवी-देवताओं को नष्ट-भ्रष्ट कर एकदम नहीं आ जाते तो उनका विनाश निश्चित है। फिर क्या था, देखते ही देखते यहोवा का आतंक छा गया और अन्य देवी-देवताओं के मंदिर नष्ट कर दिए गए। उनके प्रणयी भक्त या तो यहोवा के संघ में भर्ती हो गए या प्रच्छन्न रूप से रति-व्यापार करते रहे। कर्मशील नबियों के घोर कांडों का प्रभाव सत्त्वशील प्राणियों पर अच्छा ही पड़ा। देवदासियाँ परदे में बाहर जाने लगीं और कामवासना का भाव मंद पड़ा। प्रेमियों के प्रत्यक्ष प्रियतम ज्यों ज्यों परोक्ष होने लगे त्यों त्यों उनका विरह बढ़ता और प्रेम खरा उतरता गया और अंत में उसने इस दबाव के कारण परम

---

(१) यहोवा के संबंध में लोकमान्य तिलक का मत है कि वह वैदिक 'यह्व' का रूपांतर है।

(२) यरमियाह २६. ७ १६। राजाओं की पहली पुस्तक १४.२४;१५.२२। अमूस ११.७। हूसीअ ४.१४।

प्रेम का रूप धारण कर लिया। उपस्थ में जो संभोग की प्रवृत्ति थी वह इस उपासना में भी बनी रही और सूफी वस्ल के लिए सदा तरसते रहे।

सूफियों के प्रेम के प्रसंग में जो कुछ निवेदन किया गया है उसकी पुष्टि में मीराँ और आंदाल के प्रेम भी प्रमाण हैं। मीराँ बचपन में अपनी माँ से सुन चुकी थी कि गिरधर गोपाल की मूर्त्ति से उसका प्रणय होगा। फलतः उसे गिरधर गोपाल के प्रेम में 'लोकलाज' खोनी पड़ी और संतमत में आ जाने के कारण कुछ अधिक स्वच्छंद होना पड़ा। आंदाल संभवतः देवदासी थी। वह माधव मूर्त्ति पर आसक्त थी और स्वयं कृष्ण से प्रणय चाहती थी। कृष्ण की मूर्त्ति में भगवान् का व्यापक अमूर्त्त रूप भी विराजमान था। वास्तव में वही उसका आलंबन था [illegible] कहा जाता है कि अंत में उसी में वह समा भी गई। उसके प्रणय को कृष्ण ने स्वीकार किया। मसीह की कुमारी दुलहिनों के प्रेम में भी यही बात है। यही कारण है कि सूफी साफ-साफ कह देते हैं कि इश्क मजाजी इश्क हकीकी की सीढ़ी है और उसी के द्वारा इंसान खुदी को मिटा खुदा बन जाता है। सूफियों का प्रेम आज भी मूर्त्त से अमूर्त्त की ओर जाता है; वे यों ही अमूर्त्त की तान नहीं छेड़ते। हाँ, इतना अवश्य करते हैं कि अल्लाह को अमूर्त्त ही रहने देते हैं। निदान, हम देखते हैं कि वास्तव में सूफियों के प्रेम का उदय उक्त देवदास एवं देवदासियों में हुआ और कर्मकांडी नबियों के घोर विरोध के कारण उसको परम प्रेम की पदवी मिली।

नबियों के घोर विरोध का तात्पर्य यह नहीं है कि किसी नबी में मादन-भाव के प्रति अनुराग ही नहीं रह गया। शामी धर्मग्रंथों में न जाने कितने स्थल ऐसे हैं जिनमें मादन-भाव की पूरी प्रतिष्ठा है। मादन-भाव के संबंध में अधिक न कह हमें केवल इतना कह देना है कि इलहाम के विधाता वे नबी ही थे जो शामियों में नबी-संतानें के नाम से ख्यात थे और विशेष-विशेष अवसरों पर किसी देवता के चढ़

---

(१) स्टडीज़ इन टामिल लिटेरेचर, पृ० ११३।

(२) ए हिस्टरी आव हेब्रू सिविलीज़ेशन, पृ० ३६१; इसराएल पृ० ४४४—६;

जाने से अभुआते तथा खेलते थे। उनका दावा था कि देवता उनके सिर पर आते थे। वे भविष्य के मंगल के लिए कभी कभी कुछ निर्देश भी कर देते थे। कभी कभी तो उनको इष्टदेव का प्रत्यक्ष दर्शन मिल जाता था और उसकी आज्ञा उन्हें स्पष्ट सुनाई पड़ती थी। जब कभी किसी देव-स्थान या विशेष उत्सव में उन पर देवता आता था तब जो कुछ उनके मुँह से निकलता था वह उस देवता का आदेश समझा जाता था। उनकी भावभंगियाँ देवता की भावभंगियाँ होती थीं। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह इलहाम ही उनको सामान्य जनता से अलग करता था, और दर्शकों के हृदय में उनको देवता की कृपा का पात्र समझने की प्रेरणा करता था। जिन कर्मकांडी नबियों ने मादन-भाव का अनुमोदन नहीं किया, प्रत्युत: 'पवित्र व्यभिचार' तथा अन्य देवी-देवताओं का विध्वंस कर सेनानी यहोवा की छत्र-च्छाया में उसकी एकाकी सत्ता की घोषणा की, उनकी भी इलहाम पर पूरी आस्था रही। इलहाम के आधार पर ही उनका मत खड़ा रहा। सूफियों ने इलहाम को कभी नहीं छोड़ा। उनके मत में इलहाम पर सब का अधिकार है। रसूलों के लिये सूफ़ीमत में 'वही' का विधान है और जन-सामान्य के लिए इलहाम का।

इलहाम के सम्यक् संपादन के लिए कुछ साधन भी अवश्य होते हैं। सच तो यह है कि कुछ मादक द्रव्यों के सेवन से मनुष्य की चित्तवृत्ति में जो विलक्षण सुखद परिवर्तन आ जाता है, प्रायः उसी को आरंभ-काल में लोग देवता का प्रसाद समझते थे। उत्तेजक द्रव्यों के सेवन का प्रधान कारण आनंद की वह उमंग ही है जिसमें प्राणी संसार की झंझटों से मुक्त हो, कुछ काल के लिए, आनंदघन और सम्राट् बन जाता है। मादक द्रव्यों का प्रयोग साधु-संत व्यर्थ ही नहीं करते, उनके सेवन से

दी रेलीजन आव दी हेब्रूज़ पृ० ११६, १७१; एशियानिक एलीमेंट इन ग्रीक सिविलीजेशन पृ० १६२।

(१) समूएल पहली, १०. ११,-१२; राजाओं की पहली पुस्तक १९.१८-१९, १८.४२; राजाओं की दूसरी पुस्तक २.१५।

उनके फक्कड़पन में पूरी सहायता मिलती है। जिन नबियों के संबंध में हम विचार कर रहे हैं उनकी भी गुह्य मंडली की दृष्टि में

"पृथिव्यां यानि कर्माणि जिह्वोपस्थनिमित्ततः।
जिह्वोपस्थपरित्यागी कर्मणां किं [1]करिष्यति" ॥

अक्षरशः सत्य था। उपस्थ में जिस रति और आनंद का विधान है उसका निदर्शन हम पहले ही कर चुके हैं। जिह्वा के संबंध में यहाँ इतना जान लेना पर्याप्त है कि उक्त मंडली सुरापान खूब करती थी। जब सुरा का रंग जमता था तब लोग नाना प्रकार की उछल-कूद, लपक-झपक और बक-झक में मग्न हो जाते थे और नाच-गान में इतनी तत्परता दिखाते थे कि उग्र उपद्रवों के कारण उनको मूर्च्छा आ जाती थी। फिर क्या था, उनके सिर पर देवता आ जाता था और वे इलहाम की घोषणा करने लगते थे। नाच-गान की प्रथा बहुत पुरानी है। जीवमात्र में उसकी प्रवृत्ति देखी जाती है। सूफियों के 'समाअ' और तज्जनित 'हाल' का प्रचार नबियों की उक्त गुह्य-मंडली में भी अच्छी तरह था, भावावेश के परिणाम कभी कभी अनर्थकारी भी होते हैं। उक्त नबियों में कतिपय ऐसे भी थे जो अपने शरीर पर घाव करते थे और जनता पर प्रकट करते थे कि उन आघातों से उन्हें तनिक भी कष्ट नहीं होता; क्योंकि उन पर देवता की असीम कृपा है और उसके विज्ञापन के लिए ही वे वैसा किया करते हैं। आगे चलकर सूफियों ने प्रियतम के घाव को जो फूल समझ लिया उसका मुख्य कारण यही है। घाव तो उसे लोग तब समझते जब उन पर देवता सवार न होता। देवता के प्रसाद को फूल समझना ही उचित था। हिंदी कवि विहारी ने भी सूफियों की देखादेखी 'सरसई' को कभी सूखने नहीं दिया, खोंट खोंटकर उसे बराबर हरा ही रहने दिया; क्योंकि उनकी नायिका को वह क्षत उसके प्रियतम से प्रसाद के रूप में मिला था जो उसके प्रेम को सदा हरा-भरा रखता था।

---

(१) कुलार्णव तंत्रम्, नवम उल्लास, १३३।

(२) हूसीअ ७.१४; ए हि० आव हे० सिविलीजेशन, पृ० १००।

अपनी शक्ति में कमी देख मनुष्य जिस देवता की कल्पना करता है उसकी शक्ति अपार होती है। फलतः देवता जिस व्यक्ति पर कृपालु होता है उसमें असंभव को संभव करने की क्षमता आ जाती है। उक्त नबियों पर देवता की कृपा थी ही। जनता उनके पीछे लगी फिरती थी। लोग उनको अपना दुखड़ा सुनाते और उन्हें उपहार से लादते रहते थे। धनी-मानी भी उनकी शरण में जाते थे। पानी बरसाने, उपज बढ़ाने, रोगी को अच्छा करने क्या मृतक को जिला देने तक की क्षमता उनमें मानी जाती थी। करामत से वे जनता में अपनी धाक जमाए रहते थे और कभी कभी राजकीय आंदोलनों में भी योग देते थे। उनका रहन-सहन सामान्य न था। उनकी निराली चाल-ढाल तथा विलक्षण वेश-भूषा हँसी की चीज होती थी। वे नग्न या अर्धनग्न रहते और झुंड में चला करते थे। कभी कभी उनकी संख्या ४०० तक पहुँच जाती थी। उनकी मंडली में किसी संपन्न व्यक्ति का शामिल होना आश्चर्य की बात समझी जाती थी। उनमें एक मुखिया होता था जिसका आदेश सभी मानते थे। उसकी आज्ञा के पालन और सेवा-शुश्रूषा में लोग इतना तत्पर रहते थे कि उसकी मंडलीवाले उसके लिए किसी भी गर्हित काम के करने में संकोच नहीं करते थे। संक्षेप में वह उनका गुरु या मुरशिद था। उनमें पीरी-मुरीदी की प्रतिष्ठा थी।[1]

उक्त नबियों के अतिरिक्त कुछ महानुभाव ऐसे भी थे जिनको लोग काहिन[2] या रोह कहते थे। नबी उल्लास एवं भावावेशवाला भक्त होता था। वह जनता में बहुत कुछ अलौकिक रूप में प्रतिष्ठित रहता था। परंतु काहिन उससे सर्वथा भिन्न एक विचक्षण व्यक्ति माना जाता था। लोग उसके पास भविष्य की चिंता में जाते थे। उससे शुभाशुभ और कुशल-मंगल के प्रश्न करते थे। जो बातें उनकी समझ में नहीं आती थीं उनका रहस्य वे उससे जानना चाहते थे। वह भी शकुन-विचार में मग्न रहता था। स्वप्न तथा अन्य बाह्य लक्षणों के आधार पर वह अपनी सम्मति देता

---

(१) इसराएल, पृ०. ४४६।

(२) इसराएल. पृ० ४२२-३; ए. हि. आव हे० सिविलीजेशन, पृ. १३९; रेलिजन आव दी हेब्रूज, पृ० ७५,१२१।

था। कभी कभी किसी जिन या प्रेत से भी उसे सहायता मिल जाती थी। संक्षेप में, वह एक ज्योतिषी के रूप में माना जाता था। उसमें सूफियों का नजूम था। कभी कभी उसको पुजारी का काम भी करना पड़ता था। समूएल[1] इसके लिए ख्यात थे। मूसा भी यह्वोवा के पुजारी थे।

प्रायः लोग कह बैठते हैं कि पीर-परस्ती या समाधि-पूजा सूफियों में भारत के संसर्ग से आई। जो लोग शामी जातियों के इतिहास से सर्वथा अनभिज्ञ हैं एवं मानव-स्वभाव से भी भली भांति परिचित नहीं हैं उनकी बात जाने दीजिए। हम आप तो जानते हैं कि सूफियों की वली-पूजा अति प्राचीन है। यह्वोवा के कट्टर कर्मकांडी क्रूर उपासकों के प्रताप से बाल आदि प्राचीन देवताओं की प्रतिष्ठा नष्ट हो गई किंतु उनका प्रभाव बराबर काम करता रहा। यह्वोवा की एकाकी सत्ता का विधान कर उसके फौजी उपासकों ने जिस शासन का अनुष्ठान किया वह संकीर्ण एवं इतना कठोर था कि उसमें हृदय का समुचित निर्वाह न हो सका। जिस बाल को नष्ट कर यह्वोवा की प्रतिष्ठा खड़ी हुई उसके कतिपय गुणों का आरोप यद्यपि उसमें हो गया तथापि उससे जनता की तृप्ति न हुई[2]। उसने 'वली' के रूप में बाल की आराधना की। फरिश्ते भी वास्तव में उन्हीं देवी-देवताओं के रूपांतर हैं जिनका नाश यह्वोवा अथवा अल्लाह के क्रूर भक्तों ने कर दिया था और जो मानव-स्वभाव की रक्षा के लिए फिर दूसरे रूप में प्रतिष्ठित हो गए। प्राचीन काल से ही यह धारणा चली आती है कि मरण के उपरांत भी जीवन रहता है। शव को मिट्टी कहकर उसका तिरस्कार नहीं किया जाता, प्रत्युत विधि-विधानों के साथ उसको दफनाया जाता है। वह उसी कब्र में पड़ा पड़ा दुःख-सुख भोगता और अपने उपासकों की देख-रेख करता है। स्वयं मुहम्मद साहब कब्र के इस जीवन के कायल थे। शामियों की तो यहाँ तक धारणा थी कि शव[3] अपने वाहकों को मार्ग बताता है। बात यह है कि

---

(१) समूएल पहली, ९.१९; रेलिजन आव दी हेब्रूज़, पृ० ७५।

(२) राजाओं की पहली पुस्तक, २-६,९ उत्पत्ति, ३७.३५।

(३) इसराएल, पृ० ४२७।

मानव-हृदय जिसकी आराधना करता है उससे सहसा अलग नहीं हो पाता। वह उसकी सारी चीजों का ध्यान रखता है। पीर-परस्ती या समाधि-पूजा का यही रहस्य है। शामी जातियों में पादप-पूजा भी प्रचलित थी। सीरिया में आज तक उसकी प्रतिष्ठा है। अस्तु, सूफियों की समाधि-पूजा परंपरागत है। वे आज भी पीर की समाधि को हज समझते हैं।

सूफीमत में 'जिक्र' की बड़ी प्रतिष्ठा है। जिक्र की पद्धति-विशेष के संबंध में यह स्मरण रखना चाहिए कि उसके स्वरूप में देशकाल के अनुकूल परिवर्तन होता रहता है। उक्त नबियों में जिक्र का क्या स्थान था, यह हम ठीक ठीक नहीं कह सकते, परंतु इतना जानते अवश्य हैं कि उनमें उपवास और मुद्रा-विशेष का प्रचलन था। इलियाह[1] यहोवा की आराधनामें घंटों घुटनों के बीच सिर दबाए पड़ा रहता था। प्रतीत होता है कि इलियाह के पहले भी कतिपय योग-मुद्राओं का प्रचार था और नबी उनके अभ्यास में लगे रहते थे।

उक्त नबियों के विषय में अब तक जो कुछ निवेदन किया गया है उसका सारांश यह है कि यहोवा की प्रतिष्ठा से प्रथम ही इब्रानी जाति में जो गुह्य-मंडली थी उसमें उल्लास का पूरा विधान था। उल्लास के संपादन के लिए मादक द्रव्यों, विशेषतः सुरा का सेवन किया जाता था। सुरा के प्रभाव से जो आनंद उत्पन्न होता था वह तो था ही; संगीत के आवेश में जो अभिनय, उछल-कूद, लपक-झपक बक-झक आदि उपद्रव होते थे उनसे उल्लास का रंग और भी चोखा हो जाता था और उसी को लोग देवता का प्रसाद समझने लग जाते थे। नाट्यों की अधिकता एवं भावों के प्रबल उद्रेक के कारण नबियों को मूर्च्छा आ जाती थी। इस दशा में जो कुछ उनके मुँह से निकल पड़ता था वही इलहाम होता था। उनकी चेतना देवता की चेतना समझी जाती थी। आज भी बहुत सी अशिक्षित जातियों में इस हाल और इलहाम का दर्शन हो जाता है और हम उनके पात्रों को 'दरसनियों' के रूप में प्रतिष्ठित पाते हैं।

---

(१) राजाओं की पहली पुस्तक, १८.४२

एक ओर तो नबियों का यह उल्लास काम कर रहा था और दूसरी ओर से यहोवा के कट्टर सिपाहियों का विरोध चल रहा था। इससे हुआ यह कि विरोध एवं विध्वंस के कारण बाल, कादेश, ईस्तर प्रभृति देवी-देवताओं की मर्यादा भंग हो गई और उनके विवाहित-व्यक्तियों को, या तो उन पर अश्रद्धा हो जाने के कारण, उनको तिलांजलि दे, यहोवा के संघ मे भरती होना पड़ा या उनके वियोग में, उनकी अमूर्त्त सत्ता का, मूर्त्त के आधार पर, विरह जगाना पड़ा। शामी जातियों में मूर्त्तियों के चुंबन, आलिंगन आदि की जो व्यवस्था थी वह मूर्तियों के साथ प्रत्यक्ष रूप में तो नष्ट हो गई, पर परोक्ष रूप से वही आज तक सूफियों के बोसे और वस्ल में विराजमान है। आज भी मक्का के संग-असवद के चुंबन तथा हज के अन्य विधानोंमें उसकी झलक स्पष्ट दिखाई देती है।

उपर्युक्त समीक्षण के सिंहावलोकन में हम भली भाँति कह सकते हैं कि सूफीमत के सर्वस्व मादन-भाव का मूल स्रोत वही गुह्य मंडली है जिसमें कहीं सुरा-सेवन हो रहा है, कहीं राग आलापा जा रहा है, कहीं उछल-कूद मची है, कहीं कोई तान छिड़ी है, कहीं गला फाड़ा जा रहा है, कहीं स्वाँग रचा जा रहा है, कहीं हाल आ रहा है, कहीं इलहाम हो रहा है, कहीं झाड़-फूँक मची है, कहीं करामत दिखाई जा रही है, कहीं कुछ हो रहा है, कहीं कुछ। कहीं कोई किसी हाल में बेहाल है तो कहीं कोई किसी मौज में मग्न। संक्षेप में सर्वत्र उन्हीं क्रिया-कलापों का सत्कार हो रहा है जो आजकल की दरवेश-मंडली में प्रतिष्ठित हैं और जिनके व्याकरण में सूफी आज भी मस्त हैं।

हाँ तो उक्त नबियों की धाक तब तक जमी रही, उनका रंग तब तक चोखा रहा, जब तक यहोवा के कट्टर सिपाही जोर में न आए। यहोवा की पूरी प्रतिष्ठा स्थापित हो जाने पर भी उनका प्रभाव काम करता रहा। शाऊल सा प्रतिष्ठित व्यक्ति भी उनके चक्कर में आ गया। इलियाह और एलीशा भी उनसे प्रभावित हो गए। एलीशा के समय में तो उनका संघ स्थापित हो गया था और पवित्र नगरों में प्रायः उनके मठ भी बन गए थे। परंतु यहोवा के धुरीण सेवकों को संतोष न हुआ।

यरमियाह[1] उनके विनाश पर तुल गया। अमूस, और हूसीअ ने भी कुछ उठा नहीं रखा। फलतः देवदास (अमरद)[2] कुत्ते कहलाए और देवदासियों की दुर्गति होने लगी; परंतु उक्त नबियों की वेतसी-वृत्ति और मानव-भाव-भूमि ने उनकी सदैव रक्षा की और उनकी परंपरा समय समय पर फलती-फूलती और अपना बल दिखाती रही। हाँ, उन्हीं की भावना का प्रसाद प्रचलित सूफीमत है जो अन्य मतों के संसर्ग से इतना ओत-प्रोत हो गया है कि अब उसके उद्गम के विषय में न जाने कितने मत चल पड़े हैं; किन्तु निश्चय ही सूफियों के परदादा उक्त नबी ही हैं जो सहजानंद के उपासक और उल्लास के परम भक्त थे। सत्त्व-शुद्धि के लिये उनमें नाना प्रकार के उपचार प्रचलित थे और वे प्रियतम[3] के संयोग के लिये परम प्रेम का राग अलापते थे। जिन मनीषियों[4] ने उनकी पूरी छान-बीन और आधुनिक दरवेशों का प्रत्यक्ष दर्शन किया है उनकी भी कुछ यही राय है। हाँ, मसीह या मुहम्मद तक ही दृष्टि दौड़ानेवाले समीक्षक अभी उसको स्वीकार नहीं करते। फिर भी आशा होती है कि उक्त विवेचन के आधार तथा अन्य पंडितों के प्रमाण पर किसी मनीषी को इसमें आपत्ति न होगी कि वास्तव में मादन-भाव के जन्मदाता उक्त नबी ही हैं और उन्हीं की भावना एवं धारणा की रक्षा का सच्चा प्रयत्न सूफीमत वा तसव्वुफ है।

---

(१) यरमियाह, २६.७-१६, २३.६-४०। (२) विवाद, २३.१८।

(३) इसराएल नामक पुस्तक (पृ० २४३) में लाड्स महोदय लिखते है कि देव-संतानों या देवताओं का विवाह नर-नारियों के साथ यहोवा के उपासकों को भी मान्य था। अरब भी इस विश्वास के कायल थे कि किसी जिन का प्रणय किसी इंसान के साथ हो जाता है। अरबी सा उद्भट विद्वान् भी इस प्रकार के प्रणय में विश्वास करता था। कहने का तात्पर्य यह कि इस प्रकार के प्रणय में उस समय जनता का पूरा विश्वास था और प्रियतम के परम होने के कारण प्रेम को भी परम होना पड़ा। देखिए—उत्पत्ति, ६.१-४।

(४) इसराएल, पृ० ४४४; दी स्पिरिट आव इसलाम, पृ० ४७१; ए० ए० इन ग्री० सि०, पृ० १९२; दी रे० आव दी हेब्रूज, पृ० ११६।

२. विकास

गत प्रकरण में हमने देख लिया कि सेनानी यहोवा के साहसी सिपाही, नबियों के उल्लास के विरोध में किस तत्परता से काम कर रहे थे। बात यह है कि यहोवा एक विदेशी देवता था। उसकी कृपा न जाने क्यों इसराएल-कुल पर इतनी हो गई कि उसने मूसा द्वारा उसका उद्धार किया। कहा जाता है कि इसराएल का अर्थ ही होता है कि देवता युद्ध करता है। यहोवा रणक्षेत्र में स्वयं प्रतीक के रूप में विराजता और सेना का संचालन करता था। जिस संपुट में उसका प्रतीक होता था उसको किसी अन्य भूमि पर रख देना उचित नहीं समझा जाता था। एलीशा (मृ० ७८१ पू०) को उसके संपुट की संस्थापना के लिये मिट्टी लादकर रण-क्षेत्र में ले जानी पड़ी थी। कहने की आवश्यकता नहीं कि यहोवा के उपासकों की इस संकीर्णता और कठोरता में मादन-भाव का निर्वाह न था। परन्तु भावों एवं मतों के इतिहास से स्पष्ट अवगत होता है कि किसी भी भाव अथवा मत का विनाश नहीं होता; अधिक से अधिक उनका तिरोभाव हो जाता है—अवसर पाने पर उनमें फिर बहार आती है और उनकी सुरभि से सिक्त हो संसार फिर उन्हीं का गीत गाता है। मादन-भाव के विकास में भी यही बात है। यहोवा के कट्टर कर्म-कांडी मादन-भाव के विरोध में जी-जान से मर मिटे, पर उसमें 'बाल' आदि देवी-देवताओं के गुणों का[2] आरोप हो ही गया। जो स्त्रियाँ अन्य जातियों से इसराएल-घरों में आती थीं उनके देवता भी उनके साथ लगे आते थे। घोर विरोध करने से किसी प्रकार अन्य देवों का बहिष्कार तो हो गया, पर साथ ही साथ यहोवा में उनके गुणों का आरोप भी हो गया। परिणाम यह हुआ कि उसकी

(१) राजाओं की दूसरी पुस्तक, ५.१७।

(२) इसराएल पृ० ४०५ ४०७।

आराधना में मादन-भाव की ओप बराबर बनी रही और समय पाकर 'क़बाला' के रूप में फूट निकली। यहाँ यहूदियों के 'क़बाला'[1] एवं 'तालमंद' के विषय में अधिक न कह केवल इतना कह देना पर्याप्त है कि उनमें गुह्य-विद्या का बहुत कुछ सन्निवेश है और वे हैं भी एक प्राचीन परंपरा के उज्ज्वल रत्न। उनके अवलोकन से मादन-भाव के इतिहास पर पूरा प्रकाश पड़ता है।

हाँ, तो यहोवा इसराएल की संतानों का नायक था, नेता था, स्वामी था, शासक था, अधिपति था, संक्षेप में प्रियतम के अतिरिक्त सभी कुछ था। उसकी दृष्टि में उसके सामने किसी अन्य देवता की उपासना अक्षम्य व्यभिचार ही नहीं, घोर पातक एवं भीषण पाप की जननी भी थी। उनके विचार में यहोवा रति-क्रिया से सर्वथा मुक्त था, अतः उसके मंदिर अथवा भाव-भजन में किसी प्रकार उल्लास को आश्रय नहीं मिल सकता था। फिर भी हम स्पष्ट देखते हैं कि उसके मंदिरों में देवदासों तथा देवदासियों की चहलकदमी तो थी ही; उसके भावुक भक्तों ने उसके लिये[2] पत्नी का विधान भी कर दिया था। यद्यपि यहोवा के साहसी सेवकों ने धीरे-धीरे उसके भवन से पवित्र व्यभिचार को खदेड़ दिया तथापि उसका सूक्ष्म रूप उसके उपासकों में बना रहा और यहोवा व्यक्ति-विशेष का पति भले ही न रहा हो, पर इसराएल-कुल का भर्त्ता तो अवश्य था। हूसीअ[3] ने यहोवा के इस रूप पर ध्यान दिया। उसको अपनी पत्नी के प्रेम-प्रसार में यहोवा के प्रेम का प्रमाण मिला। उसने उसी प्रकार जुम्र को, जो संभवतः देवदासी थी, प्यार किया, उससे विवाह किया, उसके व्यभिचार को क्षमा किया, जिस प्रकार यहोवा ने इसराएल की संतानों से प्रेम किया, उनका पाणि-ग्रहण किया, और उनके व्यभिचारों को क्षमा कर सदैव उनका पालन-पोषण करता रहा। यहोवा और हूसीअ के प्रेम-प्रसार में वास्तव में केवल आलंबन का विभेद है, रति-प्रक्रिया का कदापि नहीं। जाति और व्यक्ति

---

(१) हेब्रू लिटेरेचर, भूमिका।

(२) इसराएल, पृ० १२४।

(३) सोशल टीचींग्ज़ आव दी प्राफेट्स एण्ड जीजज़, पृ० ५४।

समष्टि एवं व्यष्टि की यह भावना मसीही मत में भी फूलती-फलती रही और आगे चलकर उसमें माधुर्य या मादन-भाव का पूरा प्रचार भी हो गया।

मादन-भाव अथवा देवात्मक रति-विधान में आलंबन की विशेषता ही मुख्य होती है। यह आलंबन जितना ही मोहक होता है उतना ही अलभ्य भी। सच बात तो यह है कि इस अलभ्यता के कारण ही रति को परम प्रेम की पदवी मिलती है। यदि आलंबन सहज में उपलब्ध हो जाय तो शायद प्रेम को अलौकिक सिद्ध करने का साहस किसी भी विचारशील व्यक्ति को न हो। सूफियों ने इश्क मजाजी को इश्क हकीकी की सीढ़ी मानकर यह स्पष्ट कर दिया कि इश्क मजाजी भी कोई चीज है। बिना उसकी सहायता लिये इश्क हकीकी का गीत गाना पाषंड है। सूफियों ने इश्क हकीकी को इश्क मजाजी के परदे में इस तरह दिखाया है कि उसको देखकर सहसा यह नहीं कहा जा सकता कि उनका वास्तविक आलंबन अमरद[1] है या अल्लाह है। 'गीतों का गीत' 'श्रेष्ठगीत' अथवा 'सुलैमान के गीत' में भी प्रेम की ठीक यही दशा है। अधिकांश अर्वाचीन विद्वानों का, जो मादन-भाव के विरोधी तथा विज्ञान के कट्टर भक्त हैं, मत है कि प्रकृत गीतों में ईश्वर के प्रेम का वर्णन नहीं है। उनका कहना है कि प्राचीन काल में विवाह के अवसर पर जो गीत गाए जाते थे उन्हीं के संग्रह का नाम 'श्रेष्ठगीत' है। जो लोग उक्त गीतों को एक ही व्यक्ति की रचना समझते हैं उनमें भी कुछ ऐसे हैं जो इनको विवाहपरक ही मानते हैं, उन्हें

---

(१) अमरद फारसी का प्रचलित माशूक है। इसके संबंध में श्री हरिऔधजी का कथन "उक्त भाषाओं (अरबी, फारसी और उर्दू) में माशूक आम तौर से अमरद होता है" (रसकलस, भूमिका, पृ० १२३)। आप अन्यत्र लिखते हैं—"तब भला मरदानगी कैसे रहे, मूँछ बनवा जब मरद अमरद बने।" "स्पष्ट अर्थ इसका यह है कि मूँछ बनवाकर मरद अमरद अर्थात् नपुंसक या हिजड़ा वा जनाना बन जावे। परन्तु श्लेष से व्यंजना यह है कि बिना मूँछ का लौंडा बन जावे, क्योंकि फारसी में बिना मूँछ-दाढ़ी के लौंडे को अमरद कहते हैं" (बोलचाल, भूमिका, पृ० ६७)। अमरद वास्तव में अरबी शब्द है, फारसी के प्रचलित शब्द मर्द से उसका कुछ भी संबंध नहीं है।

ईश्वरपरक नहीं बताते। परन्तु परम्परागत प्रमाणों से सिद्ध होता है कि उनका धार्मिक महत्त्व अवश्य ही सदा बना रहा है। फीलो, ओरिगन, टर्टुलियन आदि[1] मनीषियों की दृष्टि में आध्यात्मिक विवाह ही इन गीतों में इष्ट है। परमात्मा और जीवात्मा, ईश्वर और भक्त ही इन गीतों के दुलहा तथा दुलहिन हैं। ध्यान देने से इन गीतों की क्रियाओं तथा सर्वनामों में लिंग-विपर्यय गोचर होता है। स्त्रीलिंग के स्थल पर पुल्लिंग का प्रयोग भी इनमें मिल जाता है। जान पड़ता है कि इन गीतों में स्त्री और पुरुष दोनों ही क्रमशः आश्रय तथा आलंबन है। एकिब[3] इनको सर्वपुनीत और जोजेफस[3] इनको ईश्वरपरक समझता था। हूसीअ भी इनसे अनभिज्ञ नहीं। सारांश यह कि इन गीतों के अध्यात्म का आभास धर्मपुस्तक में भी मिलता है और इन्हीं के आधार पर मसीह दुलहा तथा संघ वा संस्था दुलहिन बनते चले आ रहे हैं। सच तो यह है कि इनमें सूफियों का इश्क हकीकी इश्क मजाजी के परदे में छिपा है। लौकिक प्रेम के आधार पर अलौकिक प्रेम का निरूपण ही इनका प्रतिपाद्य विषय है। आज भी सूफी इन गीतों की पद्धति पर पद-रचना करते हैं। अस्तु इन 'सन्धा'[1] गीतों को उन नबियों का प्रसाद समझना चाहिये जो उल्लास के विधायक और मादन-भाव के भक्त थे।

उक्त गीतों के अतिरिक्त प्राचीन धर्मपुस्तक में कतिपय स्थल और भी ऐसे हैं जिनके आधार पर भली भाँति सिद्ध किया जा सकता है कि नबियों की उक्त परंपरा बराबर चलती रही। प्रेम के अनन्तर सूफियों में संगीत का प्रचार है। प्राचीन धर्म-

---

(१) क्रिस्चियन मिस्टीसिज्म, पृ० ३७०।

(२) दी सांग आव सांग्ज़, पृ० ८।

(३) दी सांग आव सांग्ज़, पृ० ८८।

१ इसको कुछ पंडितों ने 'सन्ध्या' माना है और 'सन्धा भाषा' को अशुद्ध समझा है। परन्तु तंत्र-साहित्य में अधिकांश प्रयोग 'सन्धा' शब्द का ही हुआ है अतः 'सन्धा भाषा' के ढंग पर हमने 'सन्धा' गीत का व्यवहार किया है।

पुस्तक में संगीत-प्रिय नबियों[1] की कमी नहीं। एलीशा को यहोवा की प्रसन्नता के लिये उसके मंदिर में संगीत का विधान करना पड़ा। दाऊद[2] यहोवा के संपुट[3] के सामने नाचता था। स्त्रियाँ संगीत के साथ वीरों का स्वागत करती थीं। इब्रानी शब्द हग (उत्सव) का अर्थ भी नाच होता है। प्रेम-गीत का प्रधान बाजा उगाव था जिसका धात्वर्थ उत्कंठित करना होता है। प्रेम और प्रणय के गीत के साथ ही साथ सुरा के भी गीत गाये जाते थे। इस प्रकार उनमें प्रेम, संगीत और सुरा का प्रचार था। यसिआयाह[4] में प्राचीन नबियों का उल्लास था। वह तीन वर्ष तक यरुशलेम में नग्न भ्रमण करता रहा। उसने प्रतीक का प्रयोग कर मादन-भाव को प्रोत्साहित किया। एक महाशय की दृष्टि में तो उसने 'अहं ब्रह्मास्मि' की घोषणा कर अद्वय का प्रतिपादन किया। सचमुच ही उसके गान में वेदना है, करुणा है, कामुकता है। संक्षेप में वह अंशतः सूफी है। उसके अतिरिक्त अन्य नबियों में भी हाल, इलहाम और करामत की पूरी प्रतिष्ठा थी। यहूशूअ[5] की आज्ञा का पालन मार्तंड तक करता था। तात्पर्य यह कि मादन-भाव के अन्य अवयवों का भी आभास प्राचीन धर्म-पुस्तक में बराबर मिलता है। यहोवा के उपासकों में भी मादन-भाव का कुछ न कुछ अंश अवश्य था, जो अवसर पाकर अपना पूरा रंग दिखा जाता था।

मसीह के आविर्भाव से शामी जातियों में निवृत्ति-मार्ग की प्रतिष्ठा हुई। मसीह

---

(१) इसराएल, पृ० २७५।

(२) समूएल, दूसरी ६. १४।

(३) प्रायः लोगों की धारणा है कि यहोवा की उपासना में प्रतिमा या प्रतीक की प्रतिष्ठा न थी, किन्तु खोज से पता चलता है कि यहोवा का प्रतीक एक सम्पुट में रखा जाता था और लोग उसे संग्राम में भी साथ रखते थे। इस दृष्टि से उसकी उपासना शालिग्राम की उपासना के तुल्य थी। दी रे० आव दी हेब्रू, पृ० ९२, ९४; इसराएल पृ० ४२७।

(४) ए. हि० आव हेब्रू, सि०, पृ० ३२३, ३२७; दी रे० आव दी हेब्रू, पृ० १७०।

(५) यहूशूअ, ८-१८, २६; १०-१२-१३।

के गुरु यूहन्ना एक एसीन थे। एसीन संप्रदाय के विषय में एक समीक्षक[1] का निष्कर्ष है कि एसीनों का यदि एक अंश शामी है तो तीन अंश बौद्ध। निवृत्ति-प्रधान एसीनों से मसीह को संसार से अलग रहने की शिक्षा मिली। वे आजीवन ब्रह्मचारी रहे और विरति पक्ष को दृढ़ करते रहे। उनका हृदय मूसा से कहीं अधिक उदार और कोमल था। अतएव उनकी भक्ति-भावना में परमपिता की प्रतिष्ठा हुई, सेनानी यहोवा की नहीं। जिस करुणा और जिस मैत्री को लेकर मसीह आगे बढ़े उनमें हृदय की उदात्त वृत्तियों का पूरा प्रबंध था। पर उनके उपरांत ही उनके उपासकों की दृष्टि संकीर्ण हो गई ; और मसीही संघ में पौलुस और यूहन्ना के मत चल पड़े। पौलुस का कहना था कि स्वयं अलौकिक अथवा दिव्य मसीह ने उसे दीक्षा दी थी। फिर क्या था, उसके संदेश चारों ओर जाने लगे। वह मसीह का कट्टर खलीफा बन गया। यद्यपि वह मसीही संघ का उद्भट पंडित और प्रचारक था, स्वयं ब्रह्मचारी और प्रणय का विरोधी था तथापि उसने विवाह का रूपक ग्रहण किया। उसका संदेश है–"तुम (रोमक) भी अन्य से विवाहित हो सको, जो मृतक से जी उठा है।" स्पष्टतः पौलुस के इस कथन में उपास्य और उपासक के बीच में पति-पत्नी का संबंध है। पौलुस के अन्य[2] संदेशों से पता चलता है कि उस समय नबियों की प्राचीन परंपरा कायम थी। पौलुस के उपरांत यूहन्ना ने मसीह को जो रूप दिया वह दार्शनिक तथा बहुत कुछ अ-शामी है। उसका प्रभाव शामी मतों पर इतना गहन पड़ा कि उसकी मीमांसा यहाँ नहीं हो सकती। उसके प्रज्ञात्मक स्वरूप पर विवाद न कर हमें स्पष्ट कह देना है कि उसमें भी मादन-भाव की झलक है। उसने परमेश्वर को प्रेमरूप तो सिद्ध किया ही ; एक[3] स्थल पर मसीह को दुलहा तथा उनके भक्तों को दुलहिन बनने का संकेत भी कर दिया। हो सकता है कि पौलुस तथा

---

(१) वाज जीजस इनफ्लूएंस्ड बाई बुद्धिज्म, पृ० ११४।

(२) कुरिन्थियों के नाम पहली पत्री, १४·३७; ११·३; इफेसियों के नाम पत्री, ५·२२-२३,२५ ; क्रिश्चियन मिस्टीसिज़्म, पृ० १७२।

(३) यूहन्ना, ३-२६।

यूहन्ना पर रोम तथा यूनान की गुह्य टोलियों का भी प्रभाव पड़ा हो और अफलातून के प्रेम ने भी कुछ कर दिखाया हो ।

अफलातून ने[१] जिस प्रेम का निरूपण किया था वह उसकी वासना और चिंतन का परिणाम था । यूनानियों अथवा आर्यजातियों में बुद्धि की उपासना थी । शामियों की तरह आर्य बुद्धि को पाप की जननी नहीं समझते थे । फलतः अफलातून ने जिस प्रेम का प्रवचन किया उसका प्रसार शीघ्र ही शामी संघ में हो गया । जिस भाव की आराधना में लोग उन्मत्त थे उसीका एक प्रकांड पोषक मिल गया । फिर भी अफलातून के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि मादन-भाव का उदय यूनान की गुह्यटोलियों में ही हुआ । हम पहले ही कह चुके हैं कि वासना का मुक्त विलास, संभोग की स्वच्छन्द लीला, आवेश का अलौकिक आदर, व्यभिचार का पवित्र स्वागत, संगीत का उत्क्रांत विधान एवं नाना प्रकार की अजीब बातों के साथ सुरा-सेवन प्रभृति अनोखे कृत्यों का पूरा प्रसार संसार के सभी देशों की गुह्यमंडलियों में था । इन मंडलियों की रति-प्रक्रिया और उल्लास के साध्य आनंद का आस्वादन आगे चलकर अलौकिक प्रेम के रूप में परिस्फुटित हुआ और लोग सहजानंद के उपासक बने रहे । भारत में सहजानंद के जो व्याख्यान हुए उनके संबंध में कुछ निवेदन करने की आवश्यकता नहीं । यहाँ केवल यह स्पष्ट करना है कि आर्यजातियों ने बुद्धि के बल पर सहजानंद का जैसा निरूपण किया वैसा शामी जातियों में न हो सका, पर वे उसके प्रसाद से वंचित न रहे । शामी जातियों में अन्य जातियों से भाव ग्रहण करने की तत्परता बनी रही । यहूदी जाति व्यापार में अति कुशल थी और भारत तथा यूनान के व्यापार में मध्यस्थ का काम करती थी । फलतः उस पर

---

(१) अफलातून पर विचार करते समय रम्जे महोदय के इन शब्दों पर ध्यान रखना चाहिए–Plato was guided by ancient ideas, and was not inventing novelties, his model is often to be sought in Anatolia or farther east." Asianic elements in Greek civilization p. 254.

आर्यसंस्कृति का पूरा प्रभाव पड़ा। इस प्रभाव में पणि, हित्ती, मितानी आदि जातियों का पूरा योग था। यहूदी जाति में जो कई संप्रदाय चल पड़े थे उसका प्रधान कारण बाहरी प्रभाव ही था। यूनान, ईरान और भारत के संसर्ग में आ जाने से शामी जातियों में "बुद्धं शरणमन्विच्छ" का सिंहनाद हुआ। फीलो (मृ० ६७ प०) ने मूसा और अफलातून के मतों के समन्वय का प्रयत्न किया। यहूदी संघ में वाद-विवाद, तर्क-वितर्क होने लगे। एसीनों[1] में गुह्य-विद्या का प्रचार हो गया और वे एक प्रकार के संन्यासी या भिक्षु बन गए। मसीह आरंभ में एसीन थे। यद्यपि उनपर आर्य-प्रभाव कम न था तथापि उनमें ज्ञान की अपेक्षा भक्ति ही अधिक थी। उनके उत्साही भक्त ज्ञान की उपेक्षा कर जिस 'प्रसाद' वा 'कृपा' को लेकर आगे बढ़े उसमें आश्वासन की अपेक्षा अभिशाप ही अधिक था। उनकी दृष्टि में एकमात्र परमपिता के एकाकी पुत्र पर ही विश्वास लाना मुक्ति का मार्ग था। किंतु मनुष्य स्वभावतः चिंतनशील प्राणी है। अंधकार में वह अधिक दिन तक नहीं ठहर सकता। अतएव, जिनका मसीह पर विश्वास नहीं जमा उनमें बुद्धि का व्यापार बढ़ा। मसीही संघ ने उनको नास्टिक की उपाधि दी।

कहा जाता है कि नास्टिक मत का प्रवर्त्तक साइमन[2] नामक मग था। मग जाति का तसव्वुफ में कितना योग है, इसका अनुमान शायद इसी से किया जा सकता है कि सूफी आज भी 'पीरेमुगाँ' का जाप जपते हैं और उनसे मधु-पान की याचना करते हैं। इससे स्पष्ट अवगत होता है कि नास्टिक मत वस्तुतः सूफी मत का सहायक है। नास्टिक मत यथार्थ में एक यौगिक मत का नाम है। उसमें उस समय के सभी प्रचलित मतों का योग है। सारांश यह कि सारग्राही जीवों ने अपनी मधुकरी वृत्ति से जिज्ञासा के आधार पर जिस तत्त्व का संग्रह किया वही नास्टिक मत के नाम से ख्यात हुआ। नास्टिक मत के व्यर्थ के विश्लेषण में न पड़, हम इतना ही कह देना अलं समझते हैं कि उसमें केवल मादन-भाव का

---

(१) वाज़ नीज़ज़ इनफ़्लूएंस्ड बाई बुद्धिज़्म, पृ० ११४-१५।

(२) इनसाइक्लोपीडिया आव रेलिजंस एंड एथिक्स।

प्रचार ही नहीं, अपितु उसका प्रतिपादन भी हो रहा था। सूफियों का एक पुराना नाम[1] नास्तिक भी है। पौलुस के संदेशों में जिन विवादियों का उल्लेख किया गया है वे वास्तव में नास्तिक ही हैं। तसव्वुफ पर नास्टिक मत का प्रभाव सभी मानते हैं, पर इस बात पर ध्यान नहीं देते कि सूफी मत का एक पुराना रूप नास्टिक मत भी है। हमारी दृष्टि में वास्तव में दोनों एक ही मत के दो भिन्न-भिन्न रूप हैं जो अपनी प्राचीन परम्परा का पूरा पूरा पता देते हैं।

नास्टिकों की बिखरी शक्ति का संपादन कर मानी ने जिस मत का प्रवर्त्तन किया वह सहसा भारत से स्पेन तक फैल गया। मसीही उससे दहल उठे। मादन-भाव के विकास अथवा सूफीमत के इतिहास में मानी मत के योग पर पूरा ध्यान नहीं दिया जाता। मानी ने मतों का समन्वय कर जो स्थिति उत्पन्न की उसका प्रभाव स्वयं मुहम्मद साहब पर कम न पड़ा। मुहम्मद साहब ने मसीह के जीवन तथा मरण के संबंध में जो संदेह किया उसकी प्रेरणा इसी मत से मिली थी। उन पर भी आरंभ में मानी मत का आरोप किया गया था। कुछ लोग उन्हें भी मानी का अनुयायी समझते थे। यही नहीं, हल्लाज को इसी मत का प्रचारक कहकर दंड दिया गया और आगे चलकर मानी के भक्त जिंदीक के नाम से ख्यात हुए।

मसीही संघ को व्याकुल करने तथा अपने को मसीह एवं बुद्ध घोषित करने-वाला मानी[2] जन्मतः पारसी था। उसका जन्म संवत् २७२ में बगदाद में हुआ था। जिज्ञासा की प्रबल प्रेरणा से उसने भारत तथा चीन की यात्रा की। उस पर बौद्धमत का अकथ प्रभाव पड़ा। मसीही लेखक उसको टिरिविथस[3] (त्रिविशत) बुद्ध कहते हैं। पीरोज[4] की मुद्राओं पर उसका नाम 'बुल्द'मय अंकित है। कहा

(१) दी अर्ली डेवेलपमेंट आव मोहेम्मेडनिज्म, पृ० १४४।

(२) ओरिजिन आव मानीकीज्म, पृ० १५।

(३) थीज्म इन मीडीवल इंडिया, पृ० ९१।

(४) ओरिजिन आव मानीकीज्म (मुसलिम रिव्यूअ का लेख)

गया है कि वास्तव में यह 'बुल्द' बुद्ध का रूपांतर है। मानी मत में बुद्धमत की भाँति ही स्त्री-पुरुष दोनों ही दीक्षित होते थे। मानीमत भी व्यापक, शांत, तपी और असंसारी है। बुद्धि, विवेक, विचार, भावना और कल्पना उसके मत के प्रधान अंग या पंचगुण हैं। उसने ईश्वर को केवल प्रकाश प्रतिपादित किया। उसके मत में ईश्वर की कृपा का विशेष महत्त्व है। संक्षेप में गुरु-शिष्य-परंपरा का विधान कर, मूर्त्तियों का खंडन तथा जन्मांतर का निरूपण कर मानी ने जिस समन्वयवादी मत का प्रचार किया उसका दर्शन सूफीमत के रूप में प्रायः मिला करता है। सूफियों का स्वतंत्र दल, जो जिंदीक के नाम से प्रसिद्ध है, वस्तुतः मानीमत का अवशिष्ट है। स्वयं मानी को प्राण-दंड मिला और उसके मत की प्राण-प्रतिष्ठा तसव्वुफ में हो गई। एक विद्वान् ने ठीक ही कहा है कि मानीमत के अवशिष्ट पदों में माधुर्य-भाव का अर्चन करना चाहिए। अन्य महाशय का उपालंभ[२] है कि केवल रति के आधार पर परमेश्वर की आराधना करना मानीमत का अपराध है; इन जिंदीकों को काम-वासना में ईश्वर की भक्ति सूझती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि सूफीमत का सामान्य रूप मानीमत में खिल उठा।

शामी शांति के भूखे थे। पर शांति की ओट में मसीहियों ने जिस अशांति का बीज बोया उससे हमारा कुछ मतलब नहीं। यहाँ हमको तो केवल इतना देख लेना है कि रोम तथा यूनान में पहुँचकर मसीही मत किस रूप में ढल गया। रोमक शक्ति के उपासक थे। उनका अधिकतर सम्बन्ध शासन से रहा है। उनमें भी गुह्य टोलियाँ थीं, किन्तु उनसे प्रकृति विषय में कुछ विशेष सहायता नहीं मिलती। यूनानी सौंदर्य के भक्त थे। उनकी जिज्ञासा ने काम-वासना को जो परम रूप दिया वह सदा पल्लवित होता रहा। अफलातून की प्रतिभा ने जिस प्रेम का निरूपण किया वह विषय-जन्य होने पर भी अलौकिक था। प्रज्ञा और प्रेम के प्रणय से अफलातून ने जिस समाज का स्वप्न देखा उसका प्रत्यक्ष दर्शन भले ही किसी को न मिला हो, किन्तु उसके

---

(१) ओरीजिन आव मानीकीज़्म, पृ० ३०।

(२) स्टडीज़ इन दी साइकालोजी आव दी मिस्टिक्स, पृ० १६१-२।

प्रभाव से सारा देश लहलहा उठा। यूनान में उसके उपरांत जो ज्ञानधारा बढ़ी उसमें शामी मत प्रायः डूब से गए। फीलो के समान यहूदी पंडित ने मूसा और अफलातून का समन्वय कर मादन-भाव का पक्ष लिया। पौलुस[1] और यूहन्ना के संबंध में यह स्मरण रखना चाहिए कि उन पर आर्य जाति का प्रभाव सर्वमान्य है। पौलुस ने मरण में जीवन एवं आदर्श में परम प्रकाश का प्रतिपादन किया, यूहन्ना ने मसीह को जो 'प्रेम', 'प्रकाश' और 'प्रगति' कह उनको 'शब्द' सिद्ध किया, इन सब बातों का सारा श्रेय आर्य जाति को ही है। फीलो की भाँति ही क्लेमेंट (मृ० २७७ प०) ने भी मसीह और अफलातून के मतों को एक में जोड़ दिया। यूनान के दार्शनिक[2] विचारों में भारत का कितना योग है, इसका निश्चय अभी तक न हो सका, पर इतना तो निर्विवाद है कि प्लोटिनस (मृ० ३१७ प०) ने भारतीय दर्शन के आधार पर अफलातून के प्रेम और पंथ को पुष्ट किया। भारत के संसर्ग से यूनान में जो दार्शनिक लहर उठी, इसकंदरिया में जो जिज्ञासा जगी, उनके प्रवाह से शामी मतों में चिंतन का प्रचार हो गया। फीलो, पौलुस, यूहन्ना, क्लेमेंट तक ही उसका प्रवाह बद्ध न रहा, ओरिगन (मृ० ३१० प०), टर्टुलियन, आगस्टीन (मृ० ४८७ प०) और डायोनीसियस (मृ० ४८२ प०) प्रभृति संत भी इसके प्रवाह में अभिषिक्त हुए। ओरगिन[3] ने 'श्रेष्ठगीत' की टीका की और शिक्षितों तथा अशिक्षितों के धर्म में अधिकार-भेद ठहराया। टर्टुलियन[4] ने स्पष्ट

---

(१) क्रिश्चियन मिस्टीसिज़्म पृ० २०, ६७।

(२) रम्जे महोदय का कथन है "Every attempt to create a European Greek domination on the Asianic coasts has resulted in disaster and ruin" (A. E. in G. Civilization p. 301)

(३) क्रिश्चियन मिस्टीसिज़्म, पृ० १०१।

(४) ,, ,, एप्पेंडिक्स, डी।

कहा कि यदि जीवात्मा दुलहिन है तो शरीर दहेज है। आगस्टीन[1] अपने को ब्रह्म कहना ही चाहता था कि शामी-संकीर्णता के कारण रुक गया। डायोनीसियस मसीही संतों में एक पहेली सा हो गया। नव-अफलातूनी-मत के सेक के प्रभाव से उसने मसीही मत में भक्ति-भाव को जो रूप दिया वह सर्वथा सूफियों के अनुकूल है। बहुत से लोग तो डायोनीसियस को सूफीमत का सारा श्रेय दे देने में भी नहीं हिचकते। सारांश यह कि आर्य जाति की कृपा से मादन-भाव की धारा स्वच्छ, संयत एवं सबल हो शामीसंघ को आप्लावित करती रही और अपनी रक्षा के लिये कुछ तर्क-वितर्क भी करने लगी।

प्लोटिनस संसार के उन इने-गिने व्यक्तियों में है जो किसी ईश्वर का संदेश लेकर नहीं आते, प्रत्युत अपनी अनुभूति से उसे कण-कण में देखते ही नहीं औरों को भी उस दिव्य चक्षु का पता बताते हैं जो मनुष्यमात्र की थाती है और जिसे विभु ने आदर्श-रूप से सबके हृदय में रख दिया है। प्रसिद्ध ही है कि तृष्णा की शान्ति के लिये वह[2] पारस तक आया था। उस पर वेदांत का इतना व्यापक एवं गहन प्रभाव पड़ा कि वह सहज ही भारत का ऋणी सिद्ध हो जाता है। पृथिवी से लेकर नक्षत्र-मंडल तक उसे जिस एकाकी सत्ता का आलोक मिला उसका निदर्शन[3] उसने इतने अनूठे तथा मनोरम ढंग से किया कि उसके उपरांत सभी उस पर मुग्ध हो उस एक की आराधना में तल्लीन हो गए। सूफीमत के अध्यात्म में उसका योग अचल है। बाह्य दृष्टि को फेरकर अभ्यंतर की जो उसने परीक्षा की तो उसमें उसको उस एक का दर्शन मिला जिसको देखकर फिर और कुछ देखना शेष नहीं रह जाता। उसने हृदय के भीतर झाँकने का अनुरोध किया और संसार से उड़ भागने की दीक्षा दी। उसकी दृष्टि में आत्मा का न तो जन्म होता है न मरण। उसके विचार में 'सत्यं शिवं सुंदरं' का आधार दृश्य से परे और अज्ञेय

---

(१) दी मिस्टिक्स आव इसलाम, पृ० ११८।

(२) ए लिटरेरी हिस्टरी आव पर्शिया, पृ० ४२०।

(३) दी फिलासफी आव प्लोटिनस, पृ० १२, १४, २३।

है। समाधि में उसका साक्षात्कार हमें हो जाता है; अतः हम परमानंद से वंचित नहीं रह सकते। प्लोटिनस का यह आनंद प्रज्ञा एवं प्रेम का प्रसव है, किसी उमंग या उल्लास का फल नहीं। इसमें संयम है, नियम है, तप है; किन्तु हठ का नाम नहीं। प्लोटिनस दृढ़ता के साथ आग्रह करता है कि यदि आत्मा परमात्मा के अनुरूप न होती तो उसको उसका साक्षात्कार किस प्रकार संभव था। संक्षेप में, प्लोटिनस ने जिज्ञासु प्रेमियों के लिये एक राजमार्ग निर्धारित कर दिया, जिस पर चलकर न जाने कितने पथिक अपने लक्ष्य में लीन हुए। सूफियों ने उसके ऋण को स्वीकार कर उसे 'शेख अकबर' के रूप में अपना लिया। इसकंदरिया का यह अनुपम प्रसव शामी संतों का सद्गुरु हो गया। वास्तव में प्लोटिनस ने संत मत को जीवन-दान दिया और साक्षात्कार के मार्ग को प्रशस्त तथा प्रांजल कर दिया।

फीलो, प्लोटिनस तथा डायोनीसियस के प्रयत्न से मादन-भाव को जो प्रोत्साहन मिला इससे उसके बाह्य तथा आभ्यंतर दोनों पक्ष पुष्ट हो चले थे; किंतु वह पंख पसार संसार में स्वच्छंद विहार नहीं कर सकता था। मादन-भाव के संबंध में अब तक जो कुछ निवेदन किया गया उससे इतना तो स्पष्ट ही है कि उसको सदैव समझ-बूझकर आगे बढ़ना एवं फूँक फूँकर पाँव बढ़ाना पड़ा—संभवतः इसी से उसमें अधिक रमणीयता भी आ गई। यहोवा के उपासकों ने उसके विध्वंस की जो उग्र चेष्टा की उससे हम भली भाँति परिचित हैं। मसीही प्रचारकों को भी वह क्षम्य न था। मसीह ने पिता का राज्य पृथिवी पर स्थापित करने का संकल्प किया, चपत खाकर गाल फेरने की शिक्षा दी, जनता में प्रेम-भाव का प्रचार किया; किंतु भक्तों ने गाल फेरकर चकमा देना आरंभ किया। खाकर मुँह फेरना उचित समझा। मुँह ने प्यार करना आरंभ किया और हाथ ने वध। एक मसीही[2] मर्मज्ञ ने ठीक ही कहा है कि मसीहियों का प्रेम केवल पारस्परिक था; वह भी इसलिये कि लोग समझ सकें कि उनमें प्रेम है। फलतः मसीही-संघ का ध्येय धावा और ध्वंस हो गया। संग्रह एवं

---

(१) दी रेलिजन्स आव इंडिया (हापकिंस), पृ० ५६६।

(२) दी फ़ोर्थ गास्पेल (स्काट), पृ० ११५।

शासन में उसे 'पिता का राज्य' दीख पड़ा। उसमें जो साधु थे उनकी भी दृष्टि में मसीह ही परमपिता के एकाकी पुत्र थे। उनकी लाड़िली दुलहिन उक्त संस्था ही थी। फिर यह किस प्रकार संभव था कि उसके देखते किसी अन्य को सुहाग मिले। सेवा एवं प्रेम का भाव उनमें इतना अवश्य था कि दलितों के साथ सहानुभूति प्रकट कर उनके घाव को धो या उन्हें 'बपतिस्मा' दे दें। धर्माधिकारियों की धाक इतनी जमी थी कि उनकी व्यवस्था में किसी को आपत्ति करने का अधिकार न था। स्त्री की यह[1] दशा थी कि उसकी दृष्टि ही पाप की जननी थी। हौवा की संतान पतन की प्रतिमा समझी जाती थी। धर्मांधों की इस घोर व्यवस्था में संस्था[2] को ही दुलहिन का सौभाग्य मिला। व्यक्ति-विशेष तो लुक-छिपकर ही मसीह के विरह का अनुभव कर सकता था। यहूदियों की भी यही प्रवृत्ति थी। उनकी दृष्टि में इसराएल के अतिरिक्त किसी अन्य जाति पर ईश्वर की अनुकंपा हो नहीं सकती थी। सच पूछिए तो शामी जाति इस समय सिकुड़कर 'इसराएल-वंश' की कृपा-कोर जोह रही थी। उसी का बोलबाला था।

संयोगवश अरब के कुरेश-वंश के काहिन-कुल का एक दीन बालक समय के प्रभाव से एक संपन्न रमणी की चाकरी करता था। वह अपनी कुशलता एवं शील-स्वभाव के कारण उसका स्वामी बन गया। व्यापार में जो विचार हाथ आए, मक्का

---

(१) ए शार्ट हिस्टरी आव वीमेन, पृ० २१६।

(२) देवदासियों की मर्यादा नष्ट होने पर भी शामी मतों में अलौकिक प्रणय किसी न किसी रूप में बना रहा। पौलुस प्रभृति मसीही प्रचारकोंने केवल संस्था या मसीही संघ पर ध्यान दिया। सूफियों के प्रभाव से जब यूरोप में प्रेम का प्रवाह उमड़ा और 'क्रूसेड' तथा 'शिवालरी' के कारण पुरुषों का अभाव हो गया तब यह आवश्यक हो गया कि मसीही संघ रमणियों के प्रति उदार हो। सूफियों के अलौकिक प्रेम से प्रोत्साहित हो मसीहियों ने भी मसीह और मरियम को रति का अलौकिक आलंबन चुना। धर्म का सहारा मिल जाने के कारण इन प्रेमियों की प्रतिष्ठा बढ़ी और मसीह की दुलहिनों का सम्मान हुआ।

के मंदिर में जो दृश्य उपस्थित हुए, सत्संग में जिन मतों का परिचय मिला, उनसे उसका चित्त व्याकुल तथा विह्वल हो उठा। वह सोचने लगा कि अल्लाह की सारी कृपा इब्राहीम के एक ही पुत्र की संतानों पर क्यों ? इसमाईल की संतानों ने उसका क्या बिगाड़ा है ? धीरे धीरे उसमें जाति तथा अल्लाह की चिन्ता बढ़ी। अरब स्वभावतः स्वतन्त्र होते हैं। मत की पराधीनता उसे खलने लगी। व्यग्र हो वह अल्लाह की आराधना में तन्मय हो गया। वह नगर के बाहर चला जाता और 'हेरा' की एकान्त गुफा में अल्लाह की आराधना में घंटों पड़ा रहता। अन्त में अल्लाह का साक्षात्कार उसे एक किशोर के रूप में हो ही गया। वह भावावेश में आने लगा। अल्लाह ने जिब्रील के द्वारा उसके पास, व्यक्त और अव्यक्त, प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में इसमाईल-वंश के लिये एक ग्रन्थ भेजना आरम्भ कर दिया। वह पढ़ न सका। जिबरील ने कहा—'पढ़'। बस, कुरान की रचना आरम्भ हो गई।

मुहम्मद साहब (मृ० ६८९ वि०) कर्मशील नबी बन गए थे। उन्हें विश्वास हो गया था कि यहूदियों और मसीहियों की आसमानी किताबें अपने वास्तविक रूप में नहीं हैं। अतः उन्होंने घोषणा कर दी कि यहूदी और मसीही 'अहले किताब' होते हुए भी सच्चे मत से भ्रष्ट हो गए हैं और इब्राहीम के असली मत की अवहेलना कर अन्य मतों का प्रचार करते रहे हैं। उनका यह भी दावा है कि अल्लाह प्रत्येक जाति को, उसी की भाषा में आसमानी किताब भेजता है। अरबों के लिये उसकी आसमानी किताब कुरान है जो उसके आखिरी रसूल पर नाजिल हो रही है। मुहम्मद साहब ने कुरान के प्रमाण पर अपने को रसूल सिद्ध किया और नाना देवी-देवताओं का खंडन कर अल्लाह का एकाकी शासन प्रतिष्ठित किया। अरबों को सहसा उन पर विश्वास न हुआ। उनका विरोध आरंभ हुआ। उनकी ओर से कहा गया कि मुहम्मद साहब उम्मी हैं, पढ़ना-लिखना जानते ही नहीं, फिर भला कुरान उनकी रचना किस प्रकार हो सकती है ? जब लोगों ने विश्वास न किया

(१) स्टडीज इन इसलामिक मिस्टीसिज्म, पृ० ८३।

तब उनको चुनौती दी गई कि वे एक दूसरी किताब कुरान की टक्कर की बना तो दें। फिर भी लोगों को संतोष न हुआ। वे मुहम्मद साहब को[1] शाइर (कवि), काहिन (दैवज्ञ), मजनून (उन्मत्त) आदि न जाने क्या क्या कहते रहे। मुहम्मद साहब को जान बचाकर मक्का से मदीना प्रस्थान करना पड़ा। बद्र के संग्राम में मुहम्मद साहब अजीब ढंग से विजयी हुए। लोगों को विश्वास हो गया कि मुहम्मद अल्लाह के रसूल हैं, और कुरान आसमानी किताब है। मुहम्मद साहब का पक्ष पुष्ट हो चला। अनेक वीर-धुरीण अरब उनके दल में आ गये। बहुतों से सम्बन्ध भी स्थापित कर लिया। अनेक पारिवारिक और राजनीतिक प्रश्न उठे। सबका समाधान कुरान से कर दिया गया। मुहम्मद साहबका महत्त्व बढ़ा। अल्लाह के साथ उनका भी नाम जोड़ दिया गया। उनके उठने-बैठने, चलने-फिरने, आने-जाने, खाने-पीने, कहने-सुनने आदि सभी व्यापारों पर पूरा ध्यान दिया गया। संक्षेप में उनके मत, इसलाम, का प्रचार होने लगा।

मुहम्मद साहब की मनोवृत्तियों के विषय में अथवा उनके सूफीत्व के संबंध में विद्वानों में गहरा मतभेद है। विज्ञान के कट्टर भक्त तो उनको अपस्मार से ग्रस्त ही समझते हैं। ऐसे महानुभावों का भी अभाव नहीं जो उनको प्रच्छन्न[2] रसूल एवं निपुण नीतिज्ञ मानते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि मुहम्मद ईश्वर के मद मे मस्त रहनेवाला[3] कवि था। वह अपनी तरल भावनाओं की परीक्षा नहीं कर पाता था और सदा भाव-भक्ति में मग्न रहता था। उसका अंतिम जीवन प्रौढ़ावस्था की अपेक्षा कम सूफियाना था। यथार्थतः वह धार्मिक अथवा भक्त नीतिज्ञ था। आर्चर[4] महोदय के मत में मुहम्मद साहब मन एवं कर्म से वास्तव में भक्त थे। अरब के निकटवर्ती प्रांतों में उस समय किसी प्रकार की योग-प्रक्रिया प्रचलित थी। कतिपय अरब उससे

---

(१) मिस्टिकल एलिमेंट्स इन मोहम्मद, पृ० ७१।

(२) दी आइडिया आव पर्सनालिटी इन सूफ़ीज़्म, पृ० ४।

(३) एस्पेक्ट्स आव इसलाम, पृ० १८७, २५९।

(४) मिस्टकल एलिमेंट्स इन मोहम्मद, पृ० २६, ८७।

परिचित थे। मुहम्मद साहब को धर्म-जिज्ञासा में उसका पता चला। फलतः उसके उपार्जन में वे लीन हुए। यद्यपि अभीष्ट भावावेश में उनके विचार तथा शब्द व्यक्त होते थे तथापि उनके दैवी होने में संदेह नहीं।

मुहम्मद साहब के जीवन का जो परिचय दिया गया है उससे स्पष्ट है कि मुहम्मद साहब के भक्त होने में कुछ संदेह नहीं। वणिक-वृत्ति से मुहम्मद साहब ने जो कुछ ज्ञान अर्जित किया, 'हेरा' की गुहा में एकांत भाव से उसी का परिमार्जन कर अल्लाह की प्रेरणा से उसके प्रचार पर ध्यान दिया। मुहम्मद साहब का शेष जीवन एक भक्त सेनानी का जीवन हो गया। आप संचालक और संस्थापक बन गए। अल्लाह का आदेश अब व्यवस्था का काम करने लगा। मुहम्मद साहब अब अल्लाह से कहीं अधिक उसके संदेश की चिंता करने लगे। उनको किसी प्रकार अल्लाह की एकता और अपनी दूतता का प्रचार करना आवश्यक जान पड़ा। उन्होंने 'ईमान' और 'दीन' से कहीं अधिक 'इसलाम' पर जोर दिया। यही कारण है कि लोग उनको सच्चा सूफी नहीं समझते और केवल एक कुशल नीतिज्ञ मानते हैं। स्वयं सूफियों का कहना है कि मुहम्मद साहब ने स्वतः गुह्यता के कारण सूफीमत का प्रचार नहीं किया; उसकी दीक्षा अली या किसी अन्य साथी को कृपा कर दे दी। सूफी इस अधिकार-भेद से पूरा लाभ उठाते और इसे अपने मत का दुर्ग समझते हैं।

मुहम्मद साहब के संबंध में अब तक जो कुछ निवेदन किया गया उसका निष्कर्ष यह है कि मुहम्मद साहब वास्तव में सूफी नहीं थे। उनमें दार्शनिक संतों की क्षमता नहीं थी। उनकी भक्ति-भावना को देखकर हम उन्हें अभ्यासी कर्मशील भक्त कह सकते हैं। उनकी भक्ति-भावना में दास्य भाव की प्रधानता है, माधुर्य या मादन-भाव[1] का आभाद नहीं। मुहम्मद साहब आमोद-प्रिय जीव थे। प्रमदा पर उनकी विशेष ममता थी, फिर भी उनको स्त्री-पुरुष के सहज-संबंध में किसी सनातन सत्ता का संकेत नहीं मिलता था। अल्लाह के वे एक प्रपन्न सेवक थे, विरही या संभोगी कदापि नहीं। उनमें 'हाल' था, 'इलहाम' था, करामत थी, वासना थी;

---

(१) आइडिया आव पर्सनालिटी इन सूफ़ीज्म, पृ० १।

पर प्रेम और संगीत का उनमें निवास न था। संगीत से तो उन्हें चिढ़ थी। प्रेम एवं संगीत के अतिरिक्त सूफियों के प्रायः सभी लक्षण मुहम्मद साहब में विराजमान थे। प्रेम का वासनात्मक भाव उनमे पर्याप्त था, अभाव उसकी अलौकिकता अथवा परिष्कार का अवश्य था।

मुहम्मद साहब के इसलाम से शामी जातियों में नवीन रक्त का संचार हुआ। इसलाम के उदय के पहले ही सूफीमत के सभी अंग पुष्ट हो चले थे। उनके एकीकरण की आवश्यकता थी। मुहम्मद साहब के आंदोलन से उसको तत्कालीन लाभ तो न हो सका पर आगे चलकर अमरबेलि की भाँति उसने मुहम्मदी पादप को छा लिया और उसीके रस से अपना रस-संचार करता रहा। यहोवा के लाड़लों में उतनी शक्ति न थी जितनी अल्लाह के कट्टर उपासकों में। फलतः मादन-भाव के भावकों को अधिक सावधानी और तत्परता से काम लेना पड़ा। कुछ बात ही विचित्र है कि सीमा सौंदर्य को उगा देती है। इसलाम के सीमित क्षेत्र में मादन-भाव लहलहा उठा। युवती को परिधान मिला। परदे में आ जाने के कारण सूफीमत को इसलाम में प्रतिष्ठा मिली।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मुहम्मद साहब के जन्म से प्रथम ही सूफीमत का उद्भव तथा विकास हो चुका था। 'श्रेष्ठगीत' सूफी साहित्य का अनमोल रत्न है तो सही किंतु उसमें वह आब कहाँ जो जिज्ञासा को भी शांत कर दे। डायोनीसियस ने भक्ति-भावना का प्रतिपादन एवं महामिलन का आभास तो दिया पर उसमें वह आलोक कहाँ जो द्रष्टा और दृश्य को दृष्टि में लय कर सबको आकाश बना दे! यहूदी और मसीही उल्लास को इतना न तपा सके कि वह सचमुच सच्चा सुवर्ण बनता। इसलाम के परितः व्यवधान से सूफीमत को जो पुटपाक मिला उसी में मादन-भाव का सच्चा प्रेम-रसायन तैयार हुआ। मादन-भाव के इसी परिपाक में सूफीमत को दर्शन का रूप मिला। सूफियों की संचित सामग्री को लेकर इसलाम ने उसको किस प्रकार तसव्वुफ का रूप दिया, इसका निदर्शन हम अगले प्रकरण में करेंगे। यहाँ तो हमें इतना ही कह कर संतोष करना है कि मुहम्मद साहब ने भावावेश में जो कुछ कहा वह सर्वथा सूफियों के प्रतिकूल न था : उसमें उनके लिये भी कुछ गंध थी।

३. परिपाक

मादन-भाव ने किस प्रकार मत का रूप धारण कर लिया, इसका कुछ निदर्शन गत प्रकरण में हो गया। अब हमें देखना यह है कि किस प्रकार उसकी इसलाम में प्रतिष्ठा हुई और वह सूफीमत के रूप में विख्यात हुआ। सूफीमत का वास्तव में इसलाम से वही संबंध है जो किसी दर्शन का किसी मार्ग से होता है। सूफीमत भी इसलाम की तरह अपनी प्राचीनता का पक्षपाती है। इसलाम की भाँति ही उसके प्रसार में भी कुरान का पूरा योग रहा है। कुछ लोगों का तो कहना ही है कि सूफी शब्द की व्युत्पत्ति मदीने के उस चबूतरे[1] से है जिस पर बहुत से संत आकर बैठते थे और मसजिद के दान से अपना जीवन-निर्वाह करते थे। कुछ भी हो, इतना तो स्पष्ट है कि 'हेरा' की गुहा में मुहम्मद साहब का जो दर्शन हमें मिला वह सर्वथा सूफियाना था। कुरान उसी अभ्यास का फल था। समझ में नहीं आता कि मुहम्मद साहब ने उस मार्ग की उचित व्यवस्था क्यों नहीं की, जिसके प्रसाद से उनको अल्लाह के अंतिम और प्रिय रसूल होने की सनद मिली। कुरान में अल्लाह के जिस स्वरूप का परिचय दिया गया उसकी जिस शक्ति, अनुकंपा और क्षमा का प्रस्ताव किया गया, उसका समीक्षण अन्यत्र किया जायगा। यहाँ तो केवल यह कहना है कि कुरान में कतिपय स्थल इस ढंग के अवश्य हैं जिनके आधार पर शब्द-शक्ति की कृपा से सूफीमत का प्रतिपादन इसलाम के भीतर भली भाँति किया जा सकता है। भक्ति में, चाहे उसकी भावना किसी प्रकार की क्यों न हो, उपास्य की सन्निकटता अनिवार्य होती है। प्रपन्न मुहम्मद जब कभी सेना, शासन, संग्राम आदि से शिथिल हो किसी चिंतन के उपरांत अल्लाह की शरण लेते और उसके आलोक का आभास देते तब उसमें कुछ न कुछ वह झलक आ ही जाती

---

(१) स्टडीज़ इन तसव्वुफ, पृ० १२१।

थी, जो न जाने कितने दिनों से अरब के पथिकों को गुमराह होने से बचाती, भटकते को मार्ग दिखाती और त्यागी यतियों की पर्णकुटी की शोभा बढ़ाती थी। अल्लाह की व्यक्तिगत सत्ता का स्वर्गस्थ विधान संग्राम में सहायक तो था किंतु दलित हृदयों का उद्धार, उनका परितः परिमार्जन, उसका सामीप्य ही कर सकता था। यदि कुरान के अवतरण का विधान—अल्लाह, जिबरील, मुहम्मद, जनता—बना रहता तो सूफी महामिलन का स्वप्न न देख पाते। सूफियों को तो प्रियतम के गले का हार भी दुःखद था, फिर भला वे किसी मध्यस्थ को कब तक सह सकते थे।[1] निदान उनको अपने मत के प्रतिपादन के लिये कुरान के पदों का अभीष्ट अर्थ लगा मुहम्मद साहब को 'महबूब' और 'नूर' बनाना पड़ा। मुहम्मद साहब के सत्कार से उनके बहुत से अंतराय दूर हुए और सूफी इसलामी जामे में अपने मत का प्रचार करने लगे। धीरे धीरे इसलाम में उनको शाश्वत पद मिल गया और तसव्वुफ इसलाम का[2] दर्शन हो गया।

इसलाम की दीक्षा में यदि अल्लाह अनन्य है तो मुहम्मद उसका दूत। मुहम्मद साहब का नाम जो अल्लाह के साथ कलमा में जुट गया तो इसलाम उससे क्रूर और संकीर्ण हो गया। बेचारे सूफियों को भी इसलाम की रक्षा के लिये मुहम्मद साहब को बहुत कुछ सिद्ध करना पड़ा। मुसलिम संसार में अल्लाह और कुरान के अनंतर मुहम्मद और हदीस का स्थान है। वास्तव में मुहम्मद साहब ने जो कुछ

---

(१) "खुदा उस वक्त (कयामत के दिन) कहेगा—ऐ मुहम्मद! जिनको तुमने पेश किया वे तुम्हें जानते हैं, मुझे नहीं जानते। ये लोग (सूफी) मुझे जानते हैं, तुम्हें नहीं जानते"। जायसी-ग्रंथावली, भूमिका, पृ० १६८।

(२) इसलाम का वास्तव में कोई निजी दर्शन नहीं है। शामी मतों में आसमानी किताबों पर इतना जोर दिया गया कि उनमें दर्शन के लिये जगह न रही और बुद्धि पाप की जननी मानी गई। पर आर्यों के प्रभाव से इसलाम में चिंतन का आरंभ हो गया। मुसलिम 'फिलासफी' को यूनान का प्रसाद समझते हैं। तसव्वुफ में ही मुसलिम मनीषियों को संतोष हुआ और उसी में इसलाम की रक्षा भी दिखाई पड़ी।

आवेश की दशा में कहा वह कुरान और जो कुछ होश की हालत में कहा वह हदीस के नाम से ख्यात हुआ। आवेश देवात्मक होने के कारण प्रधान और हदीस सामान्य होने के कारण गौण है। हदीस की भाँति ही सुन्ना का भी महत्त्व इसलाम में गौण है। सुन्ना में रसूल के क्रिया-कलापों का विधान है। इसलाम में विधि, निषेध, नित्य, निमित्त, काम्य आदि कर्मों की मीमांसा सुन्ना के आधार पर होती रही। इस प्रकार संतों के सामने कुरान के साथ ही हदीस एवं सुन्ना का भी प्रश्न उठा।

धार्मिक ग्रंथों में कुरान क्षेपकों से बहुत ही सुरक्षित है। तृतीय खलीफा उसमान (मृ० ७१२ वि०) ने चाहे उसमें कुछ परिवर्त्तन किया हो, पर उनके अनंतर कुरान का रूप स्थिर और व्यवस्थित हो गया। परंतु हदीस और सुन्ना, सुगम होगा यदि दोनों ही को 'आप्त' कहें, बहुत दिनों तक अस्थिर रहे। संप्रदायों की मनचाही व्याख्या के लिये हदीस कितने दिनों से चिंतामणि किंवा कल्पलता का काम करते आ रहे हैं। उसमान के वध के कारण इसलाम में जो विभेद हुए उनके प्रतिपादन के लिये हदीस ही उपयुक्त थे; क्योंकि कुरान का रूप उस समय तक स्थिर हो गया था और उसमें कुछ हेरफेर करना असंभव था। पक्ष के पुष्टीकरण एवं विपक्ष के निराकरण के लिये हदीस का व्यापार चल पड़ा। पक्षापक्ष की खींच-तान और वादियों की छीन-छान में हदीस का विस्तार बहुत दिनों तक होता रहा। संत भी सजग थे। उन्होंने भी परिस्थिति से लाभ उठा अनेक हदीस[1] गढ़ डाले। जब इसलाम के कट्टर अनुयायी काम, क्रोध, लोभ आदि दुष्ट वृत्तियों के लिये अनृत[2] हदीस गढ़ रहे थे, पाखंड का प्रचार कर रहे थे, तब सारग्राही संत आत्मरक्षा, जीवोद्धार एवं भगवद्भक्ति के लिये यदि इस क्षेत्र में उतर पड़ें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। वह भी उस समय जब उनको बहुत कुछ अर्थ-प्रवर्तन करना था, हदीसों का दुष्ट निर्माण नहीं।

प्रायः यह देखा जाता है कि जन-समाज भावों की उपेक्षा कर क्रिया के अनुसरण में अधिक तत्परता दिखाता है। इसलाम इसका अपवाद नहीं। मुहम्मद साहब

---

(१) दी मिस्टिक्स आव इसलाम, पृ० ५३।

(२) दी ट्रेडिशन्स आव इसलाम, पृ० १३।

अरबों के उत्थान में मग्न थे। अरबों[1] के लिये अरबी में कुरान उतर रही थी। किंतु उनके अनुयायियों ने उनके भावों पर ध्यान नहीं दिया। उनके सामने सेनानी मुहम्मद का वह रूप नाच रहा था जो इसलाम के प्रसार के लिये संग्राम में निरत था, संहार में मग्न था, संग्रह में लगा था, ध्वंस और धावा को ध्येय समझता था। चट उन्होंने उसी का तांडव आरंभ किया। मुहम्मद के एकदेशीय संदेश को, अरबी कुरान और अरबी दीक्षा के आधार पर विश्वव्यापक बनाने की उग्र चेष्टा आरंभ हुई। भाग्यवश उमर (मृ० ७००) सरीखा पटु, विचक्षण, त्यागी, कुशल, वीर नीतिज्ञ मिला। उमर की छत्रछाया में इसलाम को जो गौरव मिला था वह सहसा नष्ट हो गया। उसमान उसकी रक्षा न कर सके। उमर के प्रभुत्व से मिस्र तथा ईरान जैसे सभ्य और संपन्न देश इसलाम के शासन में आ गए। शाम भी अछूता न बचा। इसलाम को सँभलकर काम करना पड़ा। इसलाम विकट परिस्थिति में पड़ गया। एक ओर तो जो लोग स्वर्ग के लोभ अथवा स्वर्ण की लालसा से लड़ रहे थे उन्हें संभोग की वासना सताने लगी, दूसरी ओर जो भद्र मुसलिम बन गए थे उनकी प्रतिभा इसलाम का मर्म समझना चाहती थी। बुद्धि विभेद की जननी और विज्ञान की माता है। लोभवश इसलाम में अरब और अरबेतर का प्रश्न उठा। शासन और साम्राज्य के लिये मुसलिम आपस में भिड़ गए। मुहम्मद साहब ने इसलाम पर विशेष जोर दिया था, पर ईमान और दीन के संबंध में प्रायः वे मौन ही रह गए थे। कम से कम कुरान में इनका निरूपण[2] नहीं किया गया था।

इसलाम को यहूदी, मसीही, पारसी आदि अनेक मतों को पचाना था। उसमें धर्म-जिज्ञासा उत्पन्न हुई। इसलाम के सामने जो प्रश्न आए उनका समन्वय वह न कर सका। ईरान को जीतकर इसलाम स्वयं ईरानी बनने लगा। अरब मुहम्मद साहब को अरब नेता मानकर उनके संघ में शामिल हो गए थे और उनकी सफलता और प्रतिभा के कारण उनको रसूल भी मान बैठे थे, पर ईरानियों की भाँति मुहम्मद

---

(१) सुरा १२. २, १३. ३७, ३९. २९, ४१. २।

(२) दी मुसलिम क्रीड, पृ० ३।

साहब को वे कभी उस पद पर प्रतिष्ठित नहीं कर सकते थे जिससे केवल उन्हीं के वंशज इसलाम के शासक बने। अस्तु, अरबों ने अली (मृ० ७१७) की अवहेलना कर अबूबकर को खलीफा चुना। पुत्री के पति से पत्नी के पिता को अधिक महत्त्व मिला। फातिमा और आयशा का विरोध चल पड़ा।

अली शिष्ट, सुशील, कवि, व्याख्याता, वीर एवं उदात्त थे। कूटनीति की कुत्सित चालों से उनका मस्तिष्क मुक्त था। मुसलिम संसार में अली सा सुशील वीर उत्पन्न न हुआ। उनमें भक्ति-भावना का पूरा प्रसार था। प्रवाद है कि मुहम्मद साहब ने गुह्य विद्या का प्रकाशन केवल अली से किया था। जो कुछ हो, अली अपनी उदात्त-वृत्तियों के कारण इसलाम का संचालन बहुत दिन तक न कर सके। उनके वध के अनंतर उम्मैया वंश का शासन (सं० ७१८-८०६) आरंभ हुआ। कुछ ही दिनों के बाद (सं० ७३७) करबला के क्षेत्र में उनकी प्यारी संतानों की जो दुर्दशा की गई उसके स्मरण से आज भी चित्त व्याकुल हो जाता है और शीआ तो उनके मातम मे छाती पीटकर मर-से जाते हैं। उनके विलाप को सुनकर हृदय दहल उठता है और करबला के हत्याकांड को इसलाम का कलंक समझने को विवश हो जाता है।

इसलाम के नाम पर जो मुसलमानों में पारस्परिक संग्राम छिड़ गया था उसमें सांख्य का उदय होना अनिवार्य था। इसलाम के लिये मर मिटनेवाले व्यक्तियों की अब भी कमी नहीं थी। हाँ, उनको अपने दल में लाने के लिये अपने पक्ष का समर्थन इसलाम के आधार पर अवश्य करना था। जनता की घोषणा थी कि वह इसलाम का साथ देगी, किसी व्यक्तिविशेष से उसका कुछ संबंध नहीं। अतएव अपने अपने मत के अनुसार इसलाम, ईमान और दीन की व्याख्या अनिवार्य हो गई। इसलाम में नाना संप्रदाय चल पड़े। सुन्नी और शीआ में विरोध ठना। जो तटस्थ रह गए उनको खारिजी की उपाधि मिली।

मुसलिम तांडव ने मसीही लास्य को दबाकर जिस आवर्त्त को जन्म दिया उसमें किसी के स्वरूप का ठीक ठीक पता लगाना दुस्तर काम है। फिर भी आसानी के साथ कहा जा सकता है कि संतमत के योग्य यह परिस्थिति इसी अंश में थी कि इसमें कुछ निर्वेद का उदय हो जाता था। उद्धव के प्रकरण में हम देख चुके हैं

कि युद्ध में प्राचीन नबियों का काफी हाथ रहता था। इस समय उनका हाथ कहाँ तक अपनी कला दिखाता रहा, इससे हमारा कुछ प्रयोजन नहीं। कारण कि उनका यह काम भक्तों का नहीं, पंडा-पुरोहितों का ही कर्म समझा जायगा। साथ ही हमको इस समय उन महानुभावों का भी मुक्त दर्शन नहीं मिल सकता जो संगीत, सुरा एवं प्रेम का प्रचार करते हैं। मनोविज्ञान की तो यह सामान्य बात है कि संग्राम शांति चाहता है और उत्साह निर्वेद में समाप्त होता है। रण में जो भीषण रक्तपात और करुण और वीभत्स दृश्य सामने आते हैं वे उदार पुरुषों को किसी समाज में नहीं रहने देते, बल्कि उनको संसार से विरक्त कर कहीं एकांतसेवन के लिये विवश करते हैं। यही कारण है कि हमें जिन त्यागी, संतोषी, उदार और भक्त व्यक्तियों[1] का कुरान में दर्शन होता है उनका भी इस युग में पर्याप्त पता नहीं चलता। इस वातावरण में शांत तपस्वी व्यक्तियों का एकांत दर्शन ही स्वाभाविक है। जिनको संसार की चणिक चणदा पसंद नहीं उनको यति-मार्ग का अनुसरण करना ही पड़ता है।

उम्मैया-वंश का राज्य काम, क्रोध, लोभ आदि का राज्य था। उसे धर्म का उतना ध्यान न था। उसकी पद्धति मुहम्मद साहब से पूर्वकी अरब-पद्धति थी। ईरान से उसका विरोध बढ़ता ही गया। अली के प्रतिकूल आयशा ने जो योग दिया था, करबला के क्षेत्र में जो हत्याकांड हुए थे उनका घोर दुष्परिणाम इसलाम को बराबर भोगना ही पड़ा। अली के विरोध के कारण उक्त वंश अपने पक्ष में प्रमाणों[2] को गढ़ता और उनके पक्ष के प्रमाणों[2] को नष्ट करता रहा। कुछ दिनों में इसलाम के भीतर इतने भेद उठ खड़े हुए कि उसमें अनेक पंथ चल पड़े। सीरिया में यूनानी दर्शन का प्रचार मसीही मत के आधार पर चल रहा था। ईरान अपनी संस्कृति के फेर में अलग पड़ा था। सिंध में इसलाम का डेरा पड़ गया था। संक्षेप में, इसलाम में इतने मतों का प्रवेश हो गया था कि उनको एक सूत्र में बाँध रखना अत्यंत कठिन था। वह भी उस समय जब शासक भोग-विलास के दास हो गए थे।

---

(१) तसव्वुफ़ इसलाम, पृ० १२।

(२) ट्रेडिशन्स आव इसलाम, पृ० ४७।

उम्मैया-वंश के शासन के पहले ही जो जिज्ञासा चल पड़ी थी वह इतनी प्रबल हो उठी कि इसलाम में एक ऐसे दल का उदय हुआ जो सर्वथा बुद्धिवादी था। प्रवाद है कि उक्त दल का नामकरण बसरा के हसन (मृ० ७८५) ने मोतजिली किया था। सूफीमत के समीक्षक हसन का नाम नहीं भूलते। हसन उस समय की जिज्ञासा का केंद्र था। उसमें मादन-भाव का प्रसार तो न हो सका, किंतु उसके प्रभाव से संत-मन को प्रोत्साहन मिला और सूफीमत के अनेक अंग पुष्ट हो गए। प्रसिद्ध है कि एक रमणी[1] ने हसन को इस बात का उपालंभ दिया था कि यदि वह अल्लाह के इश्क में उसी तरह मग्न रहता जिस तरह वह प्रमदा अपने प्रिय के प्रेम में मग्न थी तो उसे उसके नग्न अंग कदापि गोचर नहीं होते। तो भी हसन प्रेम-प्रसाद का वितरण न कर सका। वह उदार, शांत और तपस्वी था। उसकी दृष्टि में उदारता[2] का एक कण भी प्रार्थना तथा उपवास से सहस्र गुना अधिक है। हसन प्रेम का पुजारी नहीं, सद्भावों का विधायक था।

प्रेम की अवहेलना अधिक दिनों तक न हो सकी। इसलाम में उसकी प्रतिमा का उदय हुआ। सूफी-साहित्य में राबिया का नाम अमर है। राबिया (मृ०८०९) की प्रेम-प्रक्रिया पर विचार करने के पूर्व ही हमको यह जान लेना परम आवश्यक है कि अरबों में भी अन्य जातियों की भाँति मनुष्य का विवाह किसी जिन, देव या अलख से हो जाता था। इस धारणा[3] का निर्वाह अभी तक अरब में हो रहा है। राबिया दासी थी। वह अपने को अल्लाह की पत्नी समझती थी। उसके विषय में अत्तार[4] का प्रवचन है कि जब एक प्रमदा परमेश्वर के मार्ग पर पुरुष की भाँति अग्रसर होती है तब वह स्त्री नहीं। यदि स्त्रियाँ उसी की तरह भक्त होतीं तो उन्हें

---

(१) सेंट्स आव इसलाम, पृ० २२।

(२) ज० रो० ए० सो०, १९०६ ई०, पृ० ३०५।

(३) दी रेलिजस लाइफ एंड ऐटीच्यूड इन इसलाम, पृ० १४३-१४८।

(४) राबिया दी मिस्टिक, पृ० ४।

कौन कोस सकता था ! राबिया परमात्मा की प्रिय दुलहिन थी । वह कहती है—

"हे नाथ ! तारे चमक रहे हैं, लोगों की आँखें मुँद चुकी हैं, सम्राटों ने अपने द्वार बंद कर लिए हैं, प्रत्येक प्रेमी अपनी प्रिया के साथ एकांत सेवन कर रहा है, और मैं यहाँ अकेली आपके साथ हूँ ।"[१]

उसका निर्देश है—

"हे नाथ ! मैं आपको द्विधा प्रेम करती हूँ । एक तो यह मेरा स्वार्थ है कि मैं आपके अतिरिक्त किसी अन्य की कामना नहीं करती, दूसरे यह मेरा परमार्थ है कि आप मेरे परदे को मेरी आंखों के सामने से हटा देते हैं ताकि मैं आपका साक्षात्कार कर आपकी सुरतिमें निमग्न हूँ । किसी भी दशा में इसका श्रेय मुझे नहीं मिल सकता। यह तो आपकी कृपा-कोर का प्रसाद है[२] ।"

मुसलिम राबिया को मुहम्मद साहब का भय था । उसने उनसे प्रार्थना की—

"हे रसूल ! भला ऐसा कौन प्राणी होगा जिसे आप प्रिय न हों । पर मेरी तो दशा ही कुछ और है । मेरे हृदय में परमेश्वर का इतना प्रसार हो गया है कि उसमें उसके अतिरिक्त किसी अन्य के लिये स्थान ही नहीं है ।"[3]

प्रेम का पुनीत परिचय, भावना का दिव्य दर्शन, मुहम्मद की मधुर उपेक्षा, कामना का कलित कल्लोल, वेदना का विपुल विलास आदि सभी गुण राबिया के रोम रोम से प्रेम का आर्त्तनाद कर रहे हैं । उसका जीवन परमेश्वर के प्रेम से आप्लावित है । सचमुच राबिया माधुर्य-भाव की जीती-जागती प्रतिमा है । वह इस लोक में रहती और उस लोक का परिचय देती है । मैक्डानल्ड[४] महोदय तो मादन-भाव का सारा श्रेय राबिया, अथवा स्त्री-जाति को ही देना उचित समझते हैं । राबिया के अतिरिक्त बहुत सी अन्य देवियों ने महामिलन के स्वप्न में परम प्रियतम का विरह जगाया और इसलाम के क्रूर शासकों का दर्प देखा । बत्जा के हाथ-पैर काटे गए, पर उसको

---

(१) राबिया दी मिस्टिक, पृ० २७ ।

(२) ए लिटेरेरी हिस्टरी आव दी एरब्स, पृ० २३४ ।

(३) ,, ,, ,, १३४ ।

(४) मुसलिम थियोलोजी, पृ० १७३ ।

इसका दुःख न रहा। भविष्य की विभूति ने उसे घोर संताप से विमुख कर दिया। वह परम प्रेम में मत्त रही।

मादन-भाव के जिस विभव का दर्शन राबिया तथा उसकी सखियों में मिला उसका मूल-स्रोत वस्तुतः वासनात्मक है। 'धर्मपुस्तक'[1] में जिस वेदना का विधान किया गया था उसका विमल विलास राबिया में हुआ। परंतु उसके निरूपण का जो श्रम अफलातून तथा प्लोटिनस प्रभृति यूनानी पंडितों ने किया था उसकी प्रतिष्ठा अभी इसलाम में न हो सकी। इसलाम में प्रेम का प्रतिपादन नवीन पद्धति पर करना परम आवश्यक प्रतीत होने लगा। शासकों के भोग-विलास से प्रेम को प्रोत्साहन मिला। उसका कल निनाद परिस्फुट हुआ। उम्मैया-वंश के बादल को विच्छिन्न कर ईरान का सितारा चमका। अब्बासियों के शासन में ईरान को जो प्रतिष्ठा मिली उसका इसलाम पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि पद पद में इसी की आभा फूटने लगी। संस्कृति की दृष्टि से अरब ईरान के विजयी भृत्य बन गए। उनको अध्यात्म का गूढ़ विवेचन नहीं भाता था, पर किसी मत में मीन-मेष कर लेना वे जानते थे। ईरान के संपर्क में तो अरब बहुत पहले से थे, अब उसके बीच में बसकर उसे इसलाम की दीक्षा देने लगे थे। उनका एकमात्र धार्मिक अस्त्र क़ुरान था। हदीस का उपयोग भी कर लिया जाता था। ईरान काफी बुद्धि-वैभव देख चुका था। अब्बासियों की कृपा से बगदाद विद्या का केंद्र बन गया। न जाने कितने ग्रंथों के अनुवाद अरबी में किए गए। यूनान तथा भारत के मनीषी मर्मज्ञ बगदाद में आमंत्रित हुए। बरामका[2] पहले बौद्ध थे। उनके मंत्रित्व में बगदाद ने जो विद्या-प्रचार किया वह इसलाम की नस नस में भिन गया। अनूदित ग्रंथों एवं अन्य विद्या-व्यापारों का विवरण न दे हम यहाँ इतना कह देना बहुत समझते हैं कि यह इसलाम का स्वर्णयुग था। इसमें भिन्न भिन्न मतों, दर्शनों, कलाओं, विचारों आदि का विनिमय व्यापक रूप से हो रहा था; बुद्धि-व्यायाम परितः चल रहा था और

---

(१) यूएल, १-८।

(२) अरब और भारत के संबंध, पृ० ९४।

ईरान की आर्य-संस्कृति इसलाम की रग रग में दौड़ने की चेष्टा कर रही थी। संक्षेप में यह इसलाम में चिंतन का युग था। इसमें कुरान के कोरे प्रमाण और हदीस की निरी गवाही मात्र से इसलाम का सिक्का नहीं जम सकता था। उसको सहज जिज्ञासा को शांत करना था।

ईरान इसलाम का सदा से एक अजीब उपनिवेश रहा है। इसलाम में पारसीकों का चाहे जितना योग रहा हो, पर इसलाम को कबूल कर पारसीकों ने एक नवीन मत धारण किया। इसलाम में शायद ही कोई ऐसा धार्मिक आंदोलन छिड़ा हो जिसका प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से ईरान से कुछ भी संबंध न रहा हो। तसव्वुफ तो बहुत कुछ ईरान का प्रसाद है। सूफीमत को व्यवस्थित रूप देने में इसलाम के उन संप्रदायों ने विशेष सहायता दी जो कुरान, हदीस, ईमान, कर्म, भाग्य, न्याय आदि प्रसंगों पर विवाद करते और अपने अपने मतों का अलग अलग निरूपण करते थे। कुरान के विषय में सबसे विकट प्रश्न उसके स्वरूप के संबंध में था। मुहम्मद साहब के पहले वह कहाँ और किस रूप में थी। जो लोग कुरान का उपहास करते अथवा उसकी अनुकृति में एक दूसरी कुरान रच रहे थे उनको दंड दिया गया और इससे कुरान की प्रतिष्ठा भली भाँति स्थापित हो गई। अपने पक्ष के प्रतिपादन एवं विपक्ष के निराकरण के लिये कुरान प्रमाण तो कभी की बन चुकी थी, अब धर्म-संकट से बचने और आत्म-तुष्टि के लिये भी उसका प्रमाण अनिवार्य हो गया। उसमान के समय में उसको जो रूप मिल गया था उसमें किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं किया जा सकता था, अतः उसकी शब्द-शक्ति पर ध्यान दिया गया। अभिधा का स्थान लक्षणा एवं व्यंजना को मिल गया। हदीस की सीमा भी अब परिमित हो चली थी। उसको लेकर रूढ़ि और विवेक, 'नक्ल' और 'अक्ल' का झगड़ा खड़ा हो गया। कर्त्ता और कर्म, भाग्य एवं व्यक्ति का विवेचन भी आरंभ हो गया। न्याय की जिज्ञासा प्रतिदिन बढ़ती गई। 'आज्ञा' और 'प्रसाद' का विवाद छिड़ा। सारांश यह कि इसलाम के नाना संप्रदाय अपने मत के निरूपण में लगे। मोतजिला संप्रदाय ने सूफियों के अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न कर दी। उसने कुरान की अद्भुत व्याख्या, न्याय का उचित प्रतिपादन, तौहीद का वास्तविक विवेचन करने की

जो चेष्टा की उसमें चाहे उसको सफलता भले ही न मिली हो; किंतु उसने इसलाम को झकझोरकर सतर्क कर दिया। मुर्जी दल उसको रोक न सका। खारिजी भी तटस्थ न रह सके। कादिरी भी प्रयत्नशील हुए। सूफियों की मधुकरी वृत्ति ख्यात ही है। वे ज्ञानार्जन में मग्न रहे। इस युग के प्रमुख सूफी इब्राहीम तथा दाऊदताई कहे जा सकते हैं। इब्राहीम मे मुल्लाओं की उपेक्षा तथा कर्मकांडों की अवहेलना थी। परमेश्वर के आज्ञा-पालन और संसार की सार-हीनता पर वे विशेष जोर देते थे। दाऊद कहा करते थे[1]—"मनुष्यों से उसी तरह दूर भागो, जिस तरह शेर से दूर भागते हो। संसार का व्रत रहो और निधन का पारण करो।"

स्पष्ट ही इन सज्जनों में अनुराग से कहीं अधिक विराग का बोलबाला है। अभी संग्राम-जनित क्षोभ का उपशमन और परमेश्वर की आज्ञा का पालन ही साधुओं के लिये स्वाभाविक था। प्राचीन संस्कार इसलाम से भयभीत हो एकांत-सेवन में ही लीन थे। प्रेम के संबंध में इतना जान लेना उचित है कि अब तुर्क और मगबच्चे माशूक[2] बन चले थे। उसके दिव्य एवं भ्रष्ट रूप का व्यापार साथ ही साथ बढ़ रहा था। सूफी शब्द[3] प्रयोग में आ गया था और दमिश्क में मठ भी स्थापित हो गया था।

मंसूर (मृ० ८३१) तथा हारूँरशीद की उत्कट जिज्ञासा ने जो देशकाल उत्पन्न किया वह इसलाम की परिधि को पार कर चुका था। संस्कृतियों के संग्राम से विभेद मंगलदायक हो गया। अबू हनीफा ने धर्मशास्त्र का पर्यालोचन किया। दमिश्क के ज्ञान ने मसीही दर्शन का अनुशीलन किया, और भक्ति-भावना पर इससे उचित प्रकाश पड़ा। भारत में सिंध के मुसलमान भी मौन न रहे। मुल्तान[4] विद्या तथा तसव्वुफ का केंद्र बन रहा था। कतिपय बौद्ध भी इसलाम स्वीकार कर चुके थे।

---

(१) ज० रो० ए० सो०, १९०६ ई०, पृ० ३४७।

(२) शेरुल् अजम, च० भा०, पृ० ८७।

(३) दी मिस्टिक्स आव इसलाम, पृ० ३।

(४) अरब और भारत के संबंध, पृ० ३१२।

सरन द्वीप में आगंतुक मुसलमानों पर बेकौर (वीर-कौल) का प्रभाव पड़ रहा था। अरब और भारत के संयोग से सोमरा और बेसर नामक संकर जातियाँ उत्पन्न हो चुकी थीं। संक्षेप में, इसलाम चारों ओर से रस खींच रहा था।

भाग्य या दुर्भाग्यवश मामून (मृ० ८१०) सा दृढ़ और आग्रही व्यक्ति इसलाम का शासक बना। मुहम्मद साहब ने मुसलिम संघ एवं साम्राज्य के विभेद पर ध्यान नहीं दिया था। उनका प्रतिनिधि साम्राज्य तथा संघ दोनों का संचालक था। मामून संसार के उन अधिपतियों में था जो धर्म पर भी शासन करते हैं। उसने घोषित कर दिया कि कुरान की शाश्वत सत्ता अल्लाह की अनन्यता के प्रतिकूल है; जो लोग उसको नित्य मानेंगे उन्हें दंड भोगना पड़ेगा। मामून को इस घोषणा की प्रेरणा मोतजिलियों की ओर से मिली थी। मामून को मतों की मीमांसा पसंद थी। वह सारग्राही और दबंग शासक था। उसके व्यापक और कठोर हस्तक्षेप ने इसलाम को क्षुब्ध कर दिया। अली के उपासकों को उत्कर्ष मिला। मेहदी और इमाम के विषय में जो विवाद चल रहे थे उनका वर्णन व्यर्थ होगा। यहाँ विचारना यह है कि प्रस्तुत परिस्थिति में सूफीमत की दशा क्या थी। सूफीमत के अभ्युत्थान में मारूफ करखी का विशेष हाथ है। उसने तत्त्व-बोध एवं अर्थ-त्याग को तसव्वुफ की उपाधि दी। प्रेम और मधु की उद्भावना की। उसकी दृष्टि में प्रेम व्यक्ति-विशेष की शिक्षा नहीं, परमेश्वर का प्रसाद है। करखी ने त्याग, तत्त्व एवं प्रेम का उद्बोधन कर सूफीमत के प्रज्ञात्मक रूप का निर्देश किया। उधर सीरिया के अबू सुलैमान दारानी ने हृदय को परमेश्वर की प्रतिमा का आदर्श तथा देहज वस्तुओं को उसका आच्छादक कहा। उसने ज्ञान का गौरव व्याख्या से कहीं अधिक मौन में समझा। उसके विचार में जब किसी पदार्थ के अभाव में जी कलपता है तब आत्मा हँसती है ; क्योंकि यही उसका वास्तविक लाभ है। करखी में चिंतन एवं दारानी में तप की प्रधानता है। सचमुच करखी में कतिपय उन नवीन तथ्यों का भान होता है जो आज भी सूफीमत में मान्य हैं और जिनका समाधान इसलाम या मुहम्मदी मत नहीं कर सकता। अस्तु, उनको हृदयंगम करने के लिये उन स्रोतों का पता लगाना होगा जो इसलाम को सींच रहे थे। कहना न होगा कि

बसरा और बगदाद ही इस समय सूफीमत के केंद्र रहे जो आर्य संस्कृति से सर्वथा अभिषिक्त थे।

मामून के निधन के उपरांत तर्क का पक्ष दुर्बल पड़ गया। जनता भाव की भूखी होती है, तर्क से उसका पेट नहीं भरता। उसको किसी ठोस पदार्थ की आवश्यकता पड़ती है। वह सदाचार का अनुकरण करती है, ज्ञान का अनुशीलन नहीं। अहमद इब्न हंबल (मृ० ९१२) मामून के कृत्यों का कट्टर विरोधी था। उसको उचित अवसर मिल गया। वह अपनी सज्जनता, श्रद्धा एवं तप के कारण जनता में पूजनीय हो गया। मोतजिलियों का तर्क जनता के काम का न था। उनकी बातों पर मर्मज्ञ मनीषी ही ध्यान दे सकते थे। हंबल ने उनके खंडन का प्रयत्न किया। हंबल तथा इसलाम के अन्य आचार्य उसको कुरान, हदीस एवं सदाचार के भीतर घेर रहे थे; इधर हृदय के व्यापारी उसको व्यापक बनाने में मग्न थे। विवाद इतना बढ़ गया था कि बुद्धि की सर्वथा अवहेलना असंभव थी। प्रेम इतना पक्व हो गया था कि उसका आस्वादन अनिवार्य था। इसी परिस्थिति में मिस्र का जूलनून आगे बढ़ा। राबिया ने जिस प्रेम का आनंद उठाया था जूलनून ने उसका निदर्शन किया। इल्म और म्वारिफ़,[1] ज्ञान और प्रज्ञान का भेद बता जूलनून ने प्रेम को प्रज्ञात्मक सिद्ध किया। उसकी दृष्टि में मारिफत का संबंध खुदा की मुहब्बत वा प्रसाद से है। उसके पहले हाफी ने परमेश्वर को हबीब कहा था, किन्तु उसने उसका निरूपण नहीं किया। इसलाम में तौहीद का राग आलापा जाता था, पर इस बात पर ध्यान नहीं दिया जाता था कि अल्लाह की अनन्यता तभी पक्की हो सकती है जब उसके अतिरिक्त कुछ भी शेष न रहे, केवल अन्य देवता के निषेध से नहीं। मोतजिलियों ने इस क्षेत्र में मार्ग-प्रदर्शक का काम किया था, किन्तु उनका अधिकतर ध्यान कुरान की अनित्यता तक ही रह गया था। अस्तु, जूलनून ने तौहीद का प्रकाशन कर इसलाम को प्रेम की ओर अग्रसर किया और बायजीद ने अपने को धन्य कह अनुभवाद्वैत

---

(१) दी आइडिया आव पर्सनालिटी इन सूफ़ीज़्म पृष्ठ ९।

का आभास दिया। जूलनून (मृ० ९१६) का कहना है कि[1] परमेश्वर का ज्ञान हमें परमेश्वर से प्राप्त होता है। उसके विषय में हम जो कुछ कल्पना करते हैं वह उसके विपरीत होता है। सर्व-समर्पण कर जो परमेश्वर को वरता है वही जन है, क्योंकि परमेश्वर भी उसीको चुने रहता है। जूलनून ने वज्द, समा, तौहीद, कीमिया तंत्र आदि प्रसंगों पर भी विचार कर प्रेम को प्रतीक सिद्ध कर दिया। फलतः उसे मलामती[2], जिंदीक[3] आदि की उपाधि, कुत्ब की पदवी तथा कारावास का दंड मिला।

जूलनून के अतिरिक्त और भी अनेक सूफी इस काल में इधर-उधर अपनी छटा दिखा रहे थे। सूफियों की तालिका उपस्थित करने की आवश्यकता नहीं। हमें केवल उन सूफियों का परिचय प्राप्त करना चाहिए जिनका सूफीमत के उत्थान में कुछ विशेष हाथ है। यह देखकर चित्त प्रसन्न होता है कि इस समय बसरा के मुहासिबी ने 'रिजा' पर जोर दे एक सूफी-संप्रदाय का प्रवर्त्तन किया जो उसीके नाम से ख्यात हुआ। यजीद (मृ० ८३१) शुद्ध पारसी संतान था। उसका पिता जरथुष्ट्र का उपासक था। उसके योग से सूफीमत में अद्वैत का अनुष्ठान चला। उसने परमात्मा को अंतर्यामी सिद्ध किया और कण कण में उसीका विभव देखा। आत्म-दर्शन में उसने परमेश्वर का साक्षात्कार किया। वह जीवात्मा को परमात्मा से भिन्न नहीं समझता। उसका प्रवचन है कि परमात्मा के प्रति जीवात्मा का जो प्रेम है उससे जीवात्मा के प्रति परमात्मा का प्रेम पुराना है। जीव अज्ञानवश समझता है कि वह परमात्मा से प्रेम कर रहा है; परंतु वास्तव में

---

(१) ज० रो० ए० सो० १९०६ ई०, पृ० ३१० ।

(२) इनसाइक्लोपीडिया आव इसलाम, पृ० ८४६ ।

(३) जिंदीक शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। प्रतीत होता है कि वस्तुतः इस शब्द का मूल अर्थ पारसियों का द्योतक था और इसका सम्बन्ध उनके धर्मग्रन्थ जैंद से था। धीरे धीरे इस शब्द का प्रयोग स्वतन्त्र विचार के लोगों के लिये होने लगा। मुसलमानों में जो स्वतन्त्र विचार रखते थे और बात बात में आसमानी किताबों की दाद नहीं देते थे, मुसलिम उन्हें जिंदीक कहने लगे।

तो वह उस परम प्रेम के पीछे पीछे चल रहा है जिसका स्रोत परमात्मा है। करखी (मृ० ८७२) ने जिस प्रेम और सुरा का संकेत किया था उसको यजीद ने भड़का दिया। विरही तड़प उठे और 'प्रेम पियाला' चल पड़ा। लोग उसके मद में मस्त हो गए। यजीद ने सिद्ध कर दिया कि प्रेम की दशा में बाह्य कृत्यों का कुछ महत्त्व नहीं। उसको तृप्ति तो तब मिली जब उसके प्रियतम ने उससे 'ओ तू मैं' कहा। यजीद ने अपने को धन्य कह इस बात की घोषणा की कि उसके परिधान के नीचे परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। उसने 'फना' का प्रतिपादन कर सूफीमत में आर्य-संस्कारों को भर दिया और भविष्य के सूफियों के लिये अद्वैत का मार्ग खोल दिया।

जूलनून एवं यजीद ने पीरी-मुरीदी[1] पर भी पूरा ध्यान दिया। जूलनून ने सच्चे शिष्य को गुरु-भक्त बनने का यहाँ तक आदेश दिया कि वह परमात्मा की भी उपेक्षा कर गुरु की आज्ञा का पालन करे। यजीद ने घोषणा कर दी कि जो व्यक्ति-गुरु नहीं करता उसका इमाम शैतान होता है। इस प्रकार जूलनून और यजीद ने सूफीमत के अंगों को परिपुष्ट कर मादन-भाव को व्यवस्थित कर दिया।

दमिश्क, खुरासान, बगदाद प्रभृति स्थानों में जो मठ स्थापित हो गए थे उनमें सूफीमत की कसरत हो रही थी। इधर बसरा में मुहासिबी ने जिस संस्था का संचालन किया वह अपने मत के प्रचार में मग्न थी। कुरान में जिस 'जिक्र' का विधान था उसका मंतव्य कुछ भी रहा हो, सूफियों ने सामूहिक रूप से उसका संपादन किया। उनका 'सुमिरन' सलात से बहुत आगे बढ़ गया। रामभरोसा उनको इतना था कि काम-काज छोड़ सदैव सुमिरन में लगे रहते। किन्तु उनकी यह पद्धति इसलाम के अनुकूल न थी। निदान प्राचीन नबियों की भाँति उनका भी उपहास किया जाता। मुहासिबी तथा बायजीद को कहने मात्र से संतोष न हो सका। उन्होंने तसव्वुफ पर कुछ लिखा भी। उनकी इन कृतियों का महत्त्व बहुत कुछ इसी से समझ में आ जाता है कि इमाम गज्जाली ने भी इनका अध्ययन किया। प्रस्तुत काल में

---

(१) ज० रो० ए० सो० १९०६ ई०, पृ० ३२२।

अब्बासी शासकों में न तो वह शक्ति रही, न विद्या-प्रेम ही। सच बात तो यह है कि इस समय मुसलिम संघ एवं साम्राज्य नाना प्रकार की दलबंदियों में फँस गया था। न जाने इसलाम के कितने विभाग होते जा रहे थे। इधर सूफी तसव्वुफ की परिभाषा[1] में लगे थे। यदि हद्दाद तसव्वुफ को आत्मशिक्षण मानता है तो तुस्तरी उसको मितभोजन, प्रपत्ति एवं एकांतवास समझता है। नूरी की दृष्टि में तो सत्य के लिये स्वार्थ का सर्वथा परित्याग ही तसव्वुफ है। उसके विचार में निर्लिप्त ही सूफी है। परिभाषाओं के आधिक्य से प्रतीत होता है कि अब सूफीमत का सत्कार हो रहा था और लोग उसका परिचय भी माँगने लगे थे।

यजीद के अनंतर सूफीमत का मर्मज्ञ एवं इसलाम का ज्ञाता जुनैद (मृ० ९६६) हुआ। जुनैद उन व्यक्तियों में है जिनका सम्मान मुल्ला और फकीर दोनों ही करते हैं। हल्लाज (मृ० ९७८) जब यातनाएँ झेल रहा था, जुनैद तब उसका गुरु होकर भी मुक्त था। वह स्वयं[2] कहता था कि हल्लाज और उसके मतों में विभिन्नता न थी। हल्लाज के दंड का कारण उसका तर्क अथवा गुह्य विद्या का प्रकाशन था और उसके सम्मान तथा संरक्षा में सहायक उसका प्रमाद किंवा दुराव था। जुनैद अवसर देखकर काम करता था। गुप्त रूप से तो वह गुह्य विद्या की शिक्षा देता पर बाहर से कट्टर मुसलिम बना रहता था। वह ऊपर से इसलाम के क्रिया-कलापों का प्रचार, पर भीतर भीतर गुप्त तत्त्व का प्रसार करता था। उसकी दृष्टि में तसव्वुफ उग्र होता है। उसके विचार में वही सूफी है जो परमेश्वर में इतना निरत रहता है कि उसके अतिरिक्त किसी अन्य सत्ता का उसे भान ही नहीं होता। जुनैद के गुप्त-विधानों से तसव्वुफ को चाहे जितनी मदद मिली हो पर उसके निबंधों से गज्जाली को पूरी सहायता मिली। हल्लाज तो जुनैद का शिष्य ही था। जुनैद का मौन व्याख्यान शिष्यों की मनोवृत्तियों को साक्षात्कार के लिये लालायित करता

---

(१) ज० रो० ए० सो० १९०६ ई०, पृ० ३३५-३४७।
(२) स्टडीज़ इन तसव्वुफ़, पृ० १३२।

था। वह स्वतः आवेश की दशा में सूफीमत का विधान करता और इसलाम के नृशंस शासकों को शांत रखता था।

सूफीमत का शिरोमणि, तसव्वुफ का प्राण, अद्वैत का आधार, शहीदों का आदर्श सचमुच हल्लाज ही था। हल्लाज का प्रचलित नाम मंसूर है। मंसूर का 'अनल्हक' सूफीमत की पराकाष्ठा ही नहीं परम गति भी है। यह उद्घोष हल्लाज की स्वानुभूति का प्रसाद है, किसी कोरे उल्लास का उद्भाव नहीं। जिन मसीही पंडितों[1] को इसमें संदेह है और जो हल्लाज को मसीह की छाया मात्र समझते हैं उनको यह अच्छी तरह स्मरण रखना चाहिए कि मसीह पिता का राज्य पृथिवी पर स्थापित करने आए थे, प्रियतम में तल्लीन होने नहीं; मसीह चंगा करने आये थे, विरह जगाने नहीं। फलतः मसीह के उपासकों ने रक्त से भूमंडल को रँगा और हल्लाज के प्रशंसकों ने अपने रक्त से संसार को अनुरक्त कर सर्वत्र प्रेम का प्रसार किया। मसीह ने पड़ोसी के साथ साधु व्यवहार करने का विधान किया तो मंसूर ने पड़ोसी को आत्मरूप देखने का अनुरोध। सारांश यह कि मंसूर के मर्म को समझने के लिये शामी संकीर्णता से ऊपर उठ मुक्त मानव भाव-भूमि पर विचरना चाहिए। मंसूर एवं मसीह के मार्ग सर्वथा भिन्न थे। समय भी उनका एक न था। मंसूर मसीह का आदर करता था, उनके आत्मोत्सर्ग को उत्तम समझता था; पर इतने से ही वह उनका अनुयायी नहीं कहा जा सकता। मसीह के 'पिता का राज्य' और मंसूर के 'अनल्हक' में बड़ा अंतर है। मसीह संदेश सुनाने आए थे, मंसूर इसी संसार के अनुशीलन में 'अनल्हक' की अनुभूति दिखा लोगों को जगा रहा था। मंसूर तो सत्य जिज्ञासा की प्रेरणा से भारत[2] आया था; उसी भारत में जहाँ 'अहं ब्रह्मास्मि' का निरूपण हो रहा था। उसकी इस देशाटन की चाट रज्जुकला या नट-विद्या न थी। हाँ, वह सूत्र अवश्य था जिसका परिणाम उसका 'अनल्हक' है। जुनीद परमात्मा में इतना अनुरक्त था कि अंत में उसने 'ओ तू मैं' का साक्षात्कार

---

(१) स्टडीज़ इन दी साइकालाजी आव दी मिस्टिक्स, पृ० २५८।

(२) ए लिटेरेरी हिस्टरी आव पर्शिया, प्रथम भाग, पृ० ४३१।

किया; मंसूर आत्म-चिंतन में इतना निरत था कि उसने अपने को सत्य कहा। फ्रांसीसी पंडित मैसिगनन के अनुसंधानों से मंसूर के संबंध में जहाँ अनेक तथ्यों का पता चला है वहीं उसके प्रकृत उद्घोष का उद्घाटन भी संदिग्ध हो गया है। सूफीमत के प्रकांड पंडित उसको द्वैती सिद्ध करना चाहते हैं, पर हल्लाज द्वैतवादी कदापि न था; अधिक से अधिक वह विशिष्ट अद्वैती था। सूफियों ने तो उसे अद्वैत का विधाता माना है।

हल्लाज के आविर्भाव से तसव्वुफ सफल हो गया। उसने प्रेम को परमात्मा के सत्त्व का सार सिद्ध किया। उसका कथन[1] है—"मैं वही हूँ जिसको प्यार करता हूँ, जिसे प्यार करता हूँ वह मैं ही हूँ। हम एक शरीर में दो प्राण हैं। यदि तू मुझे देखता है तो उसे देखता है और यदि उसे देखता है तो हम दोनों को देखता है।" हल्लाज के अध्यात्म[2] के संबंध में कुछ कहने का यह अवसर नहीं। यहाँ तो इतना ही स्पष्ट करना उचित है कि हल्लाज 'हुलूल' का प्रतिपादक था। उसने देवलोक की उद्भावना की; और 'लाहूत' एवं 'नासूत' (देव एवं मर्त्य) का विवेचन किया। मंसूर ने इबलीस को मित्र-भाव से देखा। उसकी दृष्टि में इबलीस ही अल्लाह का सच्चा भक्त है; क्योंकि अन्य फरिश्तों ने अल्लाह के आदेश पर आदम की उपासना की, पर इबलीस अपने व्रत पर अड़ा रहा और अनन्य भाव से उसने अल्लाह की आराधना की। मंसूर के प्रयत्न से मुहम्मद साहब को भी उत्कर्ष मिला। हल्लाज ने 'नूर मुहम्मदी' को नबियों का उद्गम सिद्ध किया, 'अम्र' का पालन अनिवार्य माना; फिर भी मुसलिम उसके 'अनल्हक' को न सह सके, उसको प्राणदंड का भागी सिद्ध कर दिया।

मंसूर का बध 'रक्त-बीज' का बध था। मुल्लाओं का दंडविधान तसव्वुफ का खाद्य बन गया। उस समय सूफीमत के प्रसार का एकमात्र कारण अंतःकरण का प्रवाह ही नहीं था; मोतजिलियों के शमन तथा इसलाम की प्रतिष्ठा के लिये जिन

---

(१) स्टडीज़ इन इसलामिक मिस्टीसीज़्म, पृ० ८४।

(२) दी आइडिया आव पर्सनालिटी इन सूफ़ीज़्म, पृ० २९-३३।

बातों की आवश्यकता थी उनका भांडार बहुत कुछ सूफियों के हाथ में था। श्री इकबाल[1] की तो धारणा ही है कि हल्लाज अपने 'अनल्हक' से मोतजिलियों को चुनौती दे रहा था। 'कश्फ' की उद्भावना से इसलाम बहुत कुछ सुरक्षित हो गया। फलतः 'अक्ल' की प्रतिष्ठा घटी और 'नक्ल' की मर्यादा बढ़ी। 'बिला कैफ' का माहात्म्य बढ़ा। 'कश्फुल्महजूब' के देखने से पता चलता है कि इस समय सूफियों के कई सिलसिले काम कर रहे थे। तसव्वुफ में प्राणायाम की प्रतिष्ठा हो गई थी। वह दुरूह और गुह्य समझा जाता था। शिबली के पद्यों में अश्लील भाव झलकते हैं। फाराबी (मृ० १००७) ने कुरान एवं दर्शन का समन्वय कर सूफीमत का मार्ग स्वच्छ करने की चेष्टा की; किन्तु तो भी सूफीमत को इसलाम की पक्की सनद न मिल सकी।

सूफियों की धाक जम चली थी। कतिपय सूफियों ने अपने को नबियों से अधिक पहुँचा हुआ सिद्ध किया। अबू सईद (मृ० ११०६) इसी कैंड़े का सूफी था। उसके जीवनचरित से अवगत होता है कि उस समय जनता में सूफीमत का काफी सत्कार था। एक ग्रामीण ने रहस्य के उद्घाटन में उसकी पूरी सहायता की[2]। सईद ने स्पष्ट कह दिया कि यद्यपि सूफीमत का मूलाधार पीर है तथापि अन्य लोगों से भी ज्ञानार्जन किया जा सकता है। दीक्षा-गुरु के अतिरिक्त शिक्षा-गुरु भी मान्य है। खिरका (चीवर) और पीर का व्यापार व्यापक तथा उदार है। मत में स्वतंत्रता आवश्यक है। सईद 'समा' का पक्का प्रतिपादक और भक्त था। उसकी दृष्टि में विषय-वासना के विनाश के लिये समा एक अनुपम साधन है। उसके विचार में अंतःकरण की प्रेरणा पर ध्यान रखना कुरान का विधान है। हज्ज की अवहेलना कर सईद ने पीरों की समाधि को ही हज्ज माना। वह इतना उदार था कि कुरान पढ़ते समय नरक के कष्टों को देखकर रो पड़ता था और परमेश्वर से उद्धार के लिये प्रार्थना करता था। खुदी से वह इतना भयभीत था कि सदा अपने लिये

---

(१) सिक्स लेक्चर्स, पृ० १३४।

(२) स्टडीज़ इन इसलामिक मिस्टीसीज्म, प्रथम अध्याय।

अन्य पुरुष का प्रयोग करता था। वह किसी पंथ का प्रवर्त्तक या किसी मत का आचार्य न था। उसका तसव्वुफ उसकी साधना का फल था, चिंता का प्रसव नहीं। वह प्राचीन सूफियों के मार्ग पर चलता और अंतरात्मा की पुकार पर कान रखता था। वह सचमुच भावुक प्रचारक था। उसको कुरान की व्याख्या में अधिक आनंद नहीं मिलता था। वह तो जनता को प्रेम-पाठ पढ़ाता और अल्लाह का भजन बताता था। उसने सूफीमत को जनता में बखेर दिया और लोग उसके संचय में मग्न हुए।

सूफीमत ने कर तो सब कुछ लिया, पर उसे इसलाम की सनद न मिली। इसलाम के कट्टर उपासक उसको रोकने में तत्पर रहे। परंतु यह रोग ही कुछ और था जो दवा करने से और भी बढ़ता जा रहा था। नरक के अभिशाप से उनका काम नहीं बन पाता था; सूफी भी अपने मत को कुरान-प्रतिपादित अथवा मुहम्मद साहब की थाती कहते थे। मुल्लाओं का दंडबल हृदय के प्रवाह को रोकने में असमर्थ होता जा रहा था। प्रेम के प्रचारक उदात्त सूफियों के सामने किसी दरबारी काजी का जनता की दृष्टि में कुछ भी महत्त्व न रह गया था। जनता प्रेम चाहती थी, हृदय खोजती थी, फतवा से उसे संतोष न था। प्रतिभा समाधान चाहती थी, भेद खोलती थी, नक्ल (रुढ़ि) और बिला कैफ (विधि) से उसे तृप्ति नहीं मिलती थी। संस्कृतियों के संग्राम में जो मतभेद उठ पड़े थे उनका संघटन अनिवार्य था। तसव्वुफ के लिये इसलाम और इसलाम के लिये तसव्वुफ का विरोध अब हितकर न था। लोग प्रयत्नशील भी होते तो किसी एक ही पक्ष में फँस कर रह जाते थे। अनुभवी सूफी एवं विचक्षण पंडित तो न जाने कितने हुए पर किसी को तसव्वुफ और इसलाम के समन्वय का यश न मिला। सूफी जनता का मन मोहने में सफल हो रहे थे, उनका संघटन भी हो गया था, उनका साहित्य भी बढ़ रहा था, उनकी पूजा भी चल पड़ी थी, उनके मठ भी बन गए थे; सभी कुछ उनके पक्ष में था तो सही, किंतु उनको प्राणदंड का खटका भी लगा ही रहता था। किसी समय भी जिंदीक की उपाधि दे उनकी दुर्गति की जा सकती थी। इसलाम की अवहेलना उनको इष्ट न थी। इसलाम भी तसव्वुफ के बिना दूभर था। सामग्री सब उपलब्ध थी।

कमी केवल एक ऐसे व्यक्ति की थी जिसमें दोनों का विश्वास हो, जिसे दोनों जानते-मानते और अपनाते हों, जिससे दोनों एक में दो और दो में एक हो सकें। संयोग से इसलाम में एक ऐसे ही महानुभाव का उदय हुआ। उसके प्रकाश में आपस का वैमनस्य मिटा और उसने सिद्ध किया कि तसव्वुफ इसलाम का जीवन तथा इसलाम तसव्वुफ का सहायक है। उसकी धाक इसलाम में पहले से ही जम चुकी थी। लोग सुनना भी यही चाहते थे। फिर क्या था, तसव्वुफ को इसलाम की सनद मिली। उसका व्यवसाय इसलाम में खुलकर होने लगा। तसव्वुफ इसलाम का दर्शन और साहित्य का रामरस हो गया। प्रेम के वियोगी और परमात्मा के विरही परम आतुर व्यक्तियों का संजीवन यह रसायन ही था जो उनको बार बार मिटाता-बनाता, मारता-जिलाता महामिलन की ओर अग्रसर करता हुआ अद्वैत का अनुभव करा रहा था।

समन्वय की भव्य भावना ने इमाम गज्जाली (मृ० ११६८) को जन्म दिया। इसलाम उसकी प्रतिभा से चमक उठा। गज्जाली इसलाम का व्यास है। उसने धर्म, दर्शन, समाज और भक्ति-भावना का समन्वय कर इसलाम को परितः[1] परिपुष्ट किया। उसने इसलाम को ईमान की क्रिया साबित कर दोनों का उपसंहार दीन में कर दिया। उलझनों के सुलझाने और अड़चनों को दूर करने में अधिकार-भेद बड़ा काम करता है। गज्जाली ने 'न बुद्धिभेदं जनयेत्' का आदेश दे गुह्य विद्या को गुप्त रखने का विधान किया। परंतु उसने इस प्रकार की व्यवस्था[2] के साथ ही साथ इस बात पर भी पूरा ध्यान दिया कि जनता प्रतिभा के उत्कर्ष के साथ दर्शन एवं अध्यात्म का अनुशीलन कर सके। उसने भय की प्रतिष्ठा की। उसके विचार में इसलाम का प्राचीन भय जनता के लिये मंगलप्रद और अत्यन्त आवश्यक था। वह 'बिनु भय होइ न प्रीति' को अक्षरशः सत्य समझता था। भय को मनोरम बनाने के लिये उसने प्रेम का पक्ष लिया और कुरान के अर्थ अथवा ईमान के विषय में जो भाँति भाँति

---

(१) मुसलिम थियालोजी, पृ० २३७—२४०।

(२) दी हिस्टरी आव फिलासफी इन इसलाम, पृ० १६७—८।

के विवाद चल पड़े थे उनका समाधान लोकों[1] की कल्पना कर उसने बड़ी पटुता मे कर दिया। उसका कथन है कि मनुष्य 'मुल्क' का निवासी है। रूह 'मलकूत' से आती और फिर वहीं चली जाती है। संदेश-वाहक फरिश्ते 'जबरूत' के निवासी हैं। अन्य फरिश्ते 'मलकूत' में रहते हैं। इसलाम मलकूत तथा कुरान जबरूत से संबद्ध है। सूफी जो अपने को 'हक' कहते हैं उसका रहस्य यह है कि अल्लाह ने आदम को अपना रूप दिया, उसमें अपनी रूह फूँकी। हदीस है कि जो अपनी रूह को जानता है वह ईश्वर को जानता है। वस्तुतः रूह अंश और ईश्वर अंशी है। अतएव सूफियों का 'अनल्हक' इसलाम के प्रतिकूल नहीं हो सकता। स्वयं मुहम्मद साहब रसूल होने के पहले[2] सूफी थे। सूफियों को सचमुच इलहाम होता है। रसूल एवं सूफी का प्रधान अंतर यह है कि जहाँ सूफीत्व का अंत है वहाँ दूतत्व का आरंभ होता है। गज्जाली वाद-विवाद को व्यर्थ समझता है। उसकी दृष्टि में सत्संग, स्वाध्याय, अभ्यास एवं नियम का पालन ही यथेष्ट है। तर्क-वितर्क तथा कलाम से उसको विशेष प्रेम नहीं, यद्यपि वह 'हुज्जतुल इसलाम' की उपाधि से विभूषित है। कलाम और नीति के विषय में उसने जो कुछ कहा उसका स्वागत तो इसलाम ने किया ही; पर उसके उस अंग को उसने अपना आधार ही बना लिया जो 'अक्ल' की धज्जियाँ उड़ा, 'नक्ल' की संरक्षा करते हुए, 'कश्फ' का निरूपण करता है।

इमाम गज्जाली की कृपा से तसव्वुफ की प्रतिष्ठा स्थिर हो गई। उसको इसलाम की पक्की सनद मिली। जुनैद के काम को इमाम गज्जाली ने खूबी के साथ पूरा कर दिया। उसके उपरांत तसव्वुफ में जिली, अरबी, रूमी प्रभृति सूफियों ने जो योग दिया वह भी निराला है। उनकी कृपा से तसव्वुफ मरुस्थल का नन्दन हो गया इसमें सन्देह नहीं।

— —

(१) मुसलिम थियालोजी, पृ० २३४।

(२) दी आइडिया आव पर्सनालिटी इन सूफीज़म, पृ० ४४।

४. आस्था

प्रेम के मद में चूर सूफियों की आस्था का पता लगाना सहज नहीं, एक अत्यंत दुस्तर कार्य है। प्रेम-प्रवाह किसी पद्धति विशेष का अनुसरण नहीं करता। उसकी उन्मुक्त धारा में जो कुछ पड़ता वह भी स्वच्छंद हो जाता है। सूफियों ने इधर उधर से खींच कर प्रेम का जो रस-संचार किया उससे सारी बातें; समस्त आस्थाएँ उच्छिन्न होकर भीतर से इसलाम का उत्पादन करती रहीं। सूफियों को इसलाम की क्रूरता के कारण जिस वेतसी वृत्ति का आश्रय लेना पड़ा, जिस मार्ग का अनुसरण करना पड़ा और जिस प्रकार अपने प्रेम में अग्रसर होना पड़ा उसके परिशीलन से स्पष्ट अवगत होता है कि उनके मत के व्यक्तीकरण में इसलाम की सर्वत्र धाक है। जहाँ कहीं उनकी प्रवृत्ति उसकी पद्धति की अवहेलना करती है वहाँ भी उनमें इसलाम की ममता स्पष्ट गोचर होती है। कर्म भावों का साथ देने में सदा असमर्थ रहा है; उसको परिस्थिति एवं परिणाम का ध्यान रखना ही पड़ता है। लोगों की दृष्टि भी कर्म पर ही अधिक पड़ती है। भावों और आशयों पर विचार करने का उन्हें अवसर कहाँ? निदान, सूफियों को संस्कारवश, संयोगवश, मंगल-कामना अथवा आत्मरक्षा के लिए इसलाम का समादर, ईमान का स्वागत एवं दीन का उद्बोधन इसलामी ढंग पर करना ही पड़ा। अपने मत का प्रकाशन, प्रेम का निदर्शन, संवेदन का निरूपण मुहम्मदी मत के आधार पर करने से ही सूफी जीते-जागते, विरह जगाते सानंद विचरते रहे। उनके काव्य, साहित्य, अभ्यास आदि सभी व्यापारों में इसलाम का आतंक काम करता रहा। जिंदीक संघ में भी अनेक सूफी सालिकों की भाँति इसलाम की देख-रेख में लगे रहते थे और उनका प्रतिपादन भी जी खोलकर कर दिया करते थे। अतएव सूफियों की आस्था का प्रतिपादन संगत ही नहीं समीचीन भी है। आस्था होती भी अत्यन्त बल-वती है। ज्ञानी-विज्ञानी अथवा परमहंस भी उसकी लपेट में आ ही जाते हैं

उससे सर्वथा मुक्त नहीं रह पाते। सूफी-समाज तो एक पक्का संघ ही है। उसके कुछ विधि निषेध भी बन गए हैं। समष्टिरूप में वह किताब का पाबंद है।

किताबों में इसलाम ने कुरान को पुनीततम माना तो सही; किंतु उसने अन्य आसमानी किताबों की अवहेलना नहीं की। तौरेत, जबूर और इंजील की इसलाम में पूरी प्रतिष्ठा है। मुहम्मद साहब मूसा, दाऊद और मसीह की उक्त पुस्तकों का सम्मान करते थे। उनकी इस उदारता और सदाशयता का प्रभाव अच्छा ही पड़ा। मार्गों की अनेकता देश-काल से सम्बद्ध हो गई। प्रत्येक जाति की अपनी अलग अलग आसमानी किताब मान ली गई। कुरान में इसलाम, ईमान और दीन की मीमांसा[1] न थी। हदीस में 'फित्र[2]' की चर्चा थी। 'फित्र' का तात्पर्य कुछ भी रहा हो, उससे हमको मतलब नहीं। सूफियों ने तो इस फित्र पर ही विशेष ध्यान दिया और इंसान को फित्र का प्रेमी ठहराया।

मुहम्मद साहब वास्तव में शास्त्रकार या आचार्य[3] न थे। उनमें कवि और नबी की प्रतिभा थी। भावावेश में उनके पैगंबरी जीवन का आरंभ हुआ। बाद में उन्हें एक सेना का संचालन करना पड़ा। बस उनके सामने विजय का प्रश्न आया, ज्ञान के उद्बोधन वा स्वतंत्र चिंतन का कदापि नहीं। परोक्ष के आदेशानुसार वे प्रत्यक्ष के संपादन में लगे थे। संहार, संचालन, संघटन आदि उनके सभी व्यापार काफिरों के ध्वंस, मोमिनों की रक्षा और इसलाम के प्रचार के लिये अल्लाह की प्रेरणा से हो रहे थे। किसी तथ्य की मीमांसा से उन्हें कुछ प्रयोजन न था। फलतः उनके उद्गार अव्यवस्थित रह गए। कुरान कामधेनु बनी तो हदीस की पोथी भी कल्पलता

---

(१) दी मुसलिम क्रीड, पृ० २२।

(२) हदीस है कि प्रत्येक संतान फित्र में पैदा होती है। उसके माता-पिता उसे यहूदी, मसीही या पारसी बना देते हैं। वास्तव में फित्र का अर्थ सहज या प्रकृति होता है। मुसलमानों की धारणा है कि इसलाम ही सहज और प्राकृत मार्ग है; अतः फित्र का तात्पर्य इसलाम है। (दी मुसलिम क्रीड, पृ० ४२, २१४)

(३) ऐस्पेक्ट्स आव इसलाम, पृ० १८७।

की भाँति अभीष्ट अर्थ देने लगी। सूफी भी उनकी सहायता से अपने मत का निरूपण करने लगे। उनकी आस्था मुसलिम परिधान में चमक उठी।

मुहम्मद साहब के संसार से उठते ही ईमान को लेकर इसलाम में कई मत खड़े हुए। आप्त वचन और आत्मप्रेरणा का विरोध चल पड़ा। कुरान की बातों पर विश्वास करना एक बात थी और उसको मन, वचन एव कर्म से अक्षरशः सत्य मानना बिलकुल दूसरी बात। इसलाम के कर्मचतुष्टय—सलात, जकात, सौम तथा हज्ज—में क्रिया ही मुख्य है। चाहें तो हम इन्हें इसलामी दीक्षा के साधन मान सकते हैं। अल्लाह की एकता और मुहम्मद की दूतता की सिद्धि में ही उक्त उपचार किए जाते हैं। अल्लाह को अलग कर देने पर किसी 'अह्ल किताब' के लिये शेष पंचक का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। मुहम्मद, सलात, जकात, सौम एवं हज्ज में क्रमशः पीर, आराधन, दान, तप, एवं तीर्थ का विधान है जो सभी मतों में मान्य हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर साध्य एवं साधन की तद्रूपता प्रत्येक धर्म में सिद्ध हो जाती है। ईमान अंगी और इसलाम अंग जान पड़ता है। इसलाम सीमित और ईमान असीम है। इसलाम पर ईमान लाया जाता है ईमान पर इसलाम नहीं। इसलाम के बिना भी ईमान बना रहता है, पर ईमान के बिना इसलाम किसी काम का नहीं रह जाता।

कुरान में ईमान के संबंध में जो कुछ कहा गया है उसका निष्कर्ष है कि अल्लाह, रसूल, किताब, फरिश्ते एवं कयामत को सत्य मानना ईमान है। हदीस या मुहम्मद साहब के मत में अल्लाह, फरिश्तों, किताबों, रसूलों, कयामत और हश्र जिस्मानी में विश्वास रखना ही ईमान है। फकीहों ने भी अल्लाह, फरिश्तों, किताबों, रसूलों, कयामत, जजा और सजा, मीजान, जन्नत और दोजख आदि में विश्वास रखने को ईमान कहा है। इस प्रकार स्पष्ट है कि इसलाम की सनद के लिये यह अनिवार्य है कि सूफी, अल्लाह, फरिश्तों, किताब, रसूल एवं कयामत की सत्यता का प्रतिपादन करें और उन पर ईमान लाएँ। इसलाम में कयामत तथा आखिरत के संबंध में जो विवाद हुए उनका आभास उसके विधि-विधानों में मिलता है। सूफियों को वास्तव में तीन दलों का समन्वय करना था। एक तो कुरान, हदीस, सुन्ना का, दूसरे

मुल्ला, काजी, फकीह का, तीसरे हृदय की उदात्त वृत्तियों के प्रसार का। निदान उनको बाह्य बातों पर भी ईमान लाना पड़ा। ईमान के इस व्यापार में उनको कुछ नवीन तथ्यों के प्रतिपादन की आवश्यकता तो पड़ी; पर उनको किसी प्रकार की विलक्षण उद्भावना की जरूरत न थी। मनुष्य जिस भावभूमि में विहार करता है, जिस प्रवाह में निमग्न होता है, जिसका आनंद उठाता है उसका क्षेत्र ममता के कारण इतना संकीर्ण कर देता है कि उसके व्यापक रूप का उसे बोध ही नहीं हो पाता। यह दशा तब तक बनी रहती है जब तक आत्मदृष्टि अंतर्मुख नहीं होती। जहाँ उसकी दृष्टि भीतर की ओर मुड़ी उसको स्पष्ट हुआ कि वास्तव में सबका स्रोत वही है। सूफीमत एवं इसलाम के ईमान मे भी यही बात है। मुसलिम कोरे शब्द का आदर करता है तो सूफी उसके अर्थ को सर चढ़ाता है। यही कारण है कि सूफियों का ईमान असीम तथा अपरिमित होते होते परमात्मा या विश्वात्मा तक जा पहुँचता है और समत्व का आदेश करता है। ईमान की प्रेरणा अंतःकरण की प्रवृत्ति है। अभ्यास के क्षेत्र में सभी ईमान ईमान ही कहे जाते हैं। सूफियों का तो दावा है कि मनुष्य परमात्मा या उसकी विभूति के अतिरिक्त किसी अन्य पर ईमान ला ही नहीं सकता। उनकी दृष्टि में समाधि, बुत आदि की पूजा भी बस उसी प्रियतम की आराधना है। निदान, सूफियों का ईमान व्यापक और उदात्त है। फिर भी उनके ईमान का सामान्य परिचय प्राप्त कर लेना तसव्वुफ के स्वरूप-बोध के लिये आवश्यक है।

ईमान के वास्तविक आधार या आस्था के अभीष्ट आलंबन वस्तुतः अल्लाह[1] ही हैं। अल्लाह की अनुकंपा से फरिश्ते, रसूल, किताब, कयामत सभी ओत-प्रोत और

---

(१) अल्लाह शब्द वास्तव में यौगिक है, किंतु कुछ लोग उसे रूढ़ मानते है। अनेक देवताओं का निराकरण कर जिस अल्लाह की प्रतिष्ठा अरब में हुई वह यहोवा का समकक्ष था। यहोवा की साकार (इसराएल पृ० ४५८) सत्ता में यहूदियों का विश्वास था। इसलाम में जब चिंतन का आरम्भ हुआ तब अल्लाह के साकार स्वरूप में मनीषियों को संदेह होने लगा। सामान्य मुसलिम अल्लाह के साकार (तजसीम) और सगुण (तशबीह) स्वरूप का भक्त था। शामियों की धारणा थी कि अभीष्ट देवता मरण के

प्रतिष्ठित हैं। अतएव सर्व-प्रथम उसीके स्वरूप का निदर्शन होना चाहिये। अल्लाह शब्द रूढ़ हो या यौगिक, इससे कुछ बहस नहीं। उसका प्रयोग महादेव का द्योतक एवं उसकी प्रधानता सर्वमान्य है, यही हमारे लिये पर्याप्त है। अल्लाह की अनन्यता या मुसलिम तौहीद में केवल इस बात का निषेध किया गया है कि देव-दृष्टि से अल्लाह के अतिरिक्त अन्य देवता नहीं है। उसमें किसी अन्य सत्ता का निराकरण नहीं है। कुरान या इसलाम यही कहता है कि अल्लाह के अतिरिक्त कोई और देवता नहीं, यह नहीं कहता कि अल्लाह के अतिरिक्त और कोई सत्ता नहीं। चिंतन के अनुरोध से सूफी इस अल्लाह को तिलांजलि दे हक के प्रतिपादन में लगे तो सही, किंतु उनकी आराधना अल्लाह को प्रतीक मानती ही रही।

अल्लाह के विकास के सम्बन्ध में जो प्रवाद प्रचलित हैं उनके विवेचन की आवश्यकता नहीं। इतना तो सभी मानते हैं कि प्राचीन अरब नाना देवी-देवताओं के उपासक होते हुए भी अल्लाह को महेश्वर या सर्वप्रधान मानते थे। वस्तुतः मुहम्मद साहब के अल्लाह बहुत कुछ प्राचीन[1] अल्लाह ही है। अल्लाह के सम्बन्ध में मुहम्मद

अनंतर निर्णय के दिन दर्शन देगा। जब इस विषय मे भी विवाद छिड़ा और अल्लाह के मूर्तरूप का प्रतिपादन कठिन हो गया तब कहा गया कि अल्लाह निरपेक्ष (तातील) है। उसे हमारे अंगों या गुणों की आवश्यकता नहीं पड़ती। वह उसके बिना भी अपना काम कर लेता है। कुछ दार्शनिकों को तातील से संतोष न हो सका। उन्होंने अल्लाह के निरंजन (तंजीह) रूप का प्रतिपादन किया और उसे निर्गुण बना दिया।

(१) इस प्रसंग में मौलाना अबुलकलाम आजाद (अहमद) का कहना है—"नज़ूले क़ुरआन से पहले अरबी में अल्लाह का लफ़्ज़ ख़ुदा के लिये बतौर इसमज़ात के मुस्तामल था जैसा कि शुअराय जाहिलिय्यत के कलाम से ज़ाहिर है याने ख़ुदा की तमाम सिफ़तें उसकी तरफ़ मनसूब की जाती थीं। यह किसी ख़ास सिफ़त के लिये नहीं बोला जाता था। क़ुरआन ने भी यही बतौर इसमज़ात के एख़्तयार किया और तमाम सिफ़तों को इसकी तरफ़ निसबत दी। (तर्जमानुलक़ुरआन, तफ़सीर सूरत फ़ातहा, जिल्दअव्वल स० १९३१ ई०, पृ० ८)

साहब की वास्तविक धारणा का पता लगाना कुछ कठिन हो गया है। कुरान के अर्थ अस्थिर और संदिग्ध हो गए हैं। अभिधा से अधिक लक्षणा एवं व्यंजना पर ध्यान दिया जाता है। यही कारण है कि इसलाम में अल्लाह के स्वरूप को लेकर जो प्रश्न उठे उनका समुचित समाधान न हो सका। 'तजसीम', 'तशबीह','तातील' एवं 'तंजीह' की कल्पना अलग अलग एक ही कुरान के आधार पर चल पड़ी। तजसीम ही कुरान का वास्तविक पक्ष जान पड़ता है। ईमान का सम्बन्ध उसीसे अधिक है। तशबीह, तातील एवं तंजीह की शरण तो किसी जिज्ञासा या संशय के निराकरण के लिये ली गई। वास्तव में अल्लाह की साकार सत्ता ही इसलाम का शासन करती आ रही है। कुरान में अल्लाह की साकार सत्ता का इतना विशद वर्णन है, उसके सिंहासन का इतना भव्य चित्रण है कि उसके अंग अंग से अल्लाह के साकार स्वरूप का द्योतन होता है। उसके सिंहासन का जितना सजीव चित्रण है, उस पर उसके विराजने का जैसा विशद वर्णन है, उसके आधार पर यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं होता कि कुरान का निर्माता अल्लाह के अलौकिक साकार स्वरूप का भक्त है। कुरान में अल्लाह के हाथ, पैर, नेत्र आदि का वर्णन है। अल्लाह का मुख ही कुरान का शाश्वत द्रव्य है। हदीस है कि मुहम्मद साहब को अल्लाह का साक्षात्कार किसी[1] किशोर के रूप में हुआ। यदि आदम अल्लाह के प्रतिरूप थे और उनमें अल्लाह ने अपनी रूह फूँकी थी तो अल्लाह के साकार स्वरूप में किसको आपत्ति हो सकती है? वह भी उस समय जब इसलाम के सच्चे आचार्य उसका समर्थन करते आ रहे हैं और आरम्भ में शामी जातियों के उपास्य और उपासक में वंशगत सम्बन्ध भी था। दोनों का कुल एकही माना जाता था।

शासन की दृष्टि से अल्लाह यहोवा का समकक्ष है। कुरान में अल्लाह की शक्ति असीम, अथाह और अनंत है। वह कर्त्ता, भर्त्ता, हर्त्ता सभी कुछ है। उसकी इच्छा मात्र से सृष्टि का उदय और संचालन हो रहा है। मनुष्य पर उसकी कृपा इतनी अवश्य है कि वह अपने दूतों को भेजता और उसके लिये किताबें रच देता है,

---

(१) स्टडीज इन इसलामिक मिस्टीसीज़्म, पृ० ९७।

जिसको लेकर समय समय पर रसूल आते और जनता को सन्मार्ग पर चलाते हैं। जब कभी उसकी इच्छा होगी, प्रलय कर प्राणियों के लिये शाश्वत स्वर्ग या नरक का विधान कर देगा। उसके कुछ फरिश्ते हैं जो उसकी आज्ञा के पालन में दौड़-धूप करते, आते-जाते और जीवों के कर्म लिखते रहते हैं। उसका एक ऐसा भी फरिश्ता है जो लोगों को फुसलाता, गुमराह करता तथा अल्लाह के विपरीत उभारता रहता है। फरिश्तों के अतिरिक्त वह स्वयं भी देख-रेख किया करता है। उसको किसी अन्य देवता की उपासना सह्य नहीं। वह नहीं चाहता कि कोई और उसका सानी हो। वह उन शूर-वीरों के लिये सुख-सदन बनाता, हूरों का प्रबंध करता, भोग-विलास का विधान करता जो उसके लिये मरते-मारते, जीते-जागते उसीकी उपासना में लगे रहते हैं और कभी किसी दूसरे को नहीं भजते।

हाँ, तो कुरान का स्वर्गस्थ अल्लाह केवल कठोर शासक ही नहीं है, अपितु हमारा रक्षक तथा उदार भी है। वह जिसे चाहता सन्मार्ग पर लगाता है। वह[1] आदि है, अंत है, व्यक्त है, अव्यक्त है, स्वयंभू है, भगवान् है, रब्ब है, रहीम है, उदार है, घोर है, गनी है, नित्य है, कर्त्ता है, संक्षेप में प्रत्येक भाव का निकेतन है। भक्तों पर उसकी असीम कृपा रहती है, पर अभक्तों पर अनन्त-कोप भी। वह हमसे दूर भी है, निकट भी है। वह हमारी बातों को जानता है। हम किसी भी तरह उसकी दृष्टि से बच नहीं सकते। प्रणिधान और प्रपत्ति से ही हमारा उद्धार हो सकता है। किसी भी दशा में उसका संभोग नहीं हो सकता। हम उसको अपने आनंद-भोग की सामग्री नहीं बना सकते। हाँ, प्रसन्न होकर वह हमारे लिये भोग-विधान खूब कर सकता है। हमको शाश्वत सुख दे सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि इसलाम का अल्लाह साकार एवं सगुण अल्लाह है। वह निराकार और निर्गुण ब्रह्म नहीं, एक विशिष्ट देवता ही है। सूफी सामान्यतः इसी प्रियतम के वियोगी हैं। अंतर केवल यह है कि मुसलिम अल्लाह की आराधना स्वर्ग-सुख के लिये करता है और सूफी अल्लाह के संभोग के

---

(१) इनसाइक्लोपीडिया आव इसलाम—अल्लाह पर लेख।

लिये। उसको अल्लाह का भय तो है, पर उसमें अल्लाह का रागात्मक खिंचाव भी है। अल्लाह की शक्ति, इसलाम को इष्ट है, शील उपासकों का आश्रय है, किंतु उसका सौंदर्य तसव्वुफ की बाँट में पड़ा है। सूफी उसके लावण्य पर मरते है। सूफियों का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि सूफी 'अर्श कुर्सी' से कहीं अधिक अल्लाह के 'जमाल' पर मुग्ध हैं। उसके प्रभुत्व से उसके प्रसाद को कहीं बढ़कर समझते हैं। उसके दीदार के लिये बिहिश्त को ठुकराकर जहन्नुम में भी जाने के लिये लालायित रहते हैं। अल्लाह भी उनको लुभाने के लिये कभी कोई बुत बनता है और कभी कण कण में झाँकता फिरता है। रसूलों की जगह आप ही उतरकर फूल-पत्तों में अपना जलवा दिखाता और परम प्रेम की बाँसुरी बजाता है। देखते देखते आँखों के सामने ही वह हृदय में समा जाता है और वहीं से आँख-मिचौनी खेलता अथवा आत्मक्रीड़ा आरंभ कर देता है। निश्चय ही सूफियों के अल्लाह की अर्शकुर्सी हृदय में है, बाहर या बिहिश्त में नहीं।

इसलाम में मुहम्मद साहब का महत्त्व इतना प्रगल्भ है कि उनके नाम का जाप अल्लाह के साथ दिन में पाँच बार किया जाता है। अल्लाह की अनन्यता से इसलाम को शांति न मिली। उसे मुहम्मद को 'रसूल-अल्लाह' मानना ही पड़ा। एक मनीषी ने[1] ठीक ही कहा है कि जो अल्लाह की आराधना में किसी देवता को साझी नहीं देख सकता था उसीका नाम अल्लाह के साथ जुट गया और सलात में दिन में पाँच बार पुकारा जाने लगा। कारण कुछ भी हो, इतना तो निर्विवाद है कि स्वयं मुहम्मद साहब अन्य रसूलों को मानते थे। मुहम्मद हैं भी तो वह 'अहमद' जिसके विषय में पुराने रसूल भविष्यवाणी कर गए थे। उनके अनुयायी भी मुहम्मद को 'रसूल-अल्लाह' कहकर संतोष कर लेते हैं, कभी यह नहीं घोषित करते कि उनके अतिरिक्त अन्य रसूल नहीं हैं। सारांश यह कि इसलाम में सभी रसूलों की प्रतिष्ठा है। रही सूफियो की बात। उनमें तो रसूलों की सीमा नहीं। राम और कृष्ण तक रसूल मान लिए गए हैं। सूफियों की विशेषता

---

(१) दी इनफ्लूएंस आव इसलाम, पृ० ९।

यह है कि वे अन्य रसूलों की प्रतिष्ठा सामान्य मुसलमानों से अधिक करते हैं और मुहम्मद साहब को 'पुरुषोत्तम' सिद्ध कर देते हैं।

मुहम्मद साहब की स्थिति सूफियों के लिये बहुत ही जटिल थी। परंतु उन्होंने इस खूबी के साथ उसे हल किया कि लोग उसको देखकर दंग रह जाते हैं। यदि हम वेदांत के शब्दों में कहा चाहें तो कह सकते हैं कि सूफियों की दृष्टि में मुहम्मद अल्लाह के कनिष्ठ रूप हैं। कारण कि उनकी ज्योति से सृष्टि हुई, उनकी प्रीति के कारण स्वर्ग का निर्माण हुआ और उनके कथनानुसार जीवों को फल भोगना पड़ेगा। आदम के पहले भी मुहम्मद का नूर (ज्योति) मौजूद था और उसी नूर से अन्य रसूल भी उत्पन्न हुए। इस प्रकार इसलाम के दबाव और दर्शन के प्रभाव के कारण सूफियों ने अंतिम रसूल को वह रूप दे दिया जो अपूर्व ही नहीं, कुरान एवं इसलाम के बहुत कुछ प्रतिकूल भी था।

रसूल आसमानी किताब लेकर सच्चे मजहब का प्रचार करते तथा सन्मार्ग की शिक्षा देते हैं। प्रायः सभी धर्मों में धर्मग्रंथों की अपार महिमा होती है। पर इसलाम का आग्रह है कि कुरान ही अंतिम और पूर्ण आसमानी किताब है; उसके बाद अब किसी अन्य किताब के उतरने की जरूरत नहीं है। सूफी भी कुरान के महत्त्व को खूब मानते हैं और उसको सभी आसमानी किताबों से श्रेष्ठ समझते हैं। तो भी उनका ध्यान कुरान की अपेक्षा अंतरात्मा की पुकार पर अधिक रहता है। उन्होंने कुरानपाक के अर्थ में जो छीन-झपट की है उससे प्रकट होता है कि उनकी प्रतिभा शामी संकीर्णता का अतिक्रमण कर सामान्य मानव-भावभूमि पर ही विशेष फैलती है। हाँ, उनकी आत्मा ने यह स्वीकार तो कर लिया कि कुरान अल्लाह की किताब है, पर उसको यह कबूल न हो सका कि अब अल्लाह से उसका सीधा संबंध ही नहीं हो सकता। उन्होंने स्पष्ट कहा कि 'इलहाम' पर जीवमात्र का अधिकार है। किन्तु सबको 'वही'[1] नहीं नसीब होती, उसको एकमात्र रसूल ही पाते हैं।

---

(१) 'वही' एक प्रकार का इलहाम है जो केवल रसूलों को होता है।

सूफियों ने किताब से अधिक हृदय को और शब्द से अधिक भाव की चिंता की। उनकी आस्था किताबों पर होती तो है, पर कभी उन्हीं पर सती नहीं होती। उसे सत्य की लगन होती है। सूफियों की दृष्टि में कण-कण बोलते हैं, वे जड़ नहीं सजीव अक्षर हैं; उनको समझने के लिये हृदय चाहिए। कारण कि इन किताबों में अभिधा नहीं, लक्षणा और व्यंजना की प्रधानता रहती है। बस इसी से उनका प्रियतम खुलकर कहता नहीं, संकेत करता है; समझाता नहीं, समझने के लिये लालायित करता है। वास्तव में वह सर्वत्र आँखमिचौनी खेल रहा है। किताब उसीकी भाषा है। उसमें प्रतीक और अन्योक्ति का विधान है, वृत्तों का संग्रह-मात्र नहीं। आसमानी किताबों में कुरान ही श्रेष्ठ और अपने शुद्ध रूप में सुरक्षित भी है। अन्यों में कुछ हेरफेर अवश्य हो गए हैं।

कुरान के वाहक जिबरील का परिचय देना व्यर्थ है। मीकाईल उसीका साथी है। कुरान में बहुत से फरिश्तों के नाम आए हैं और बहुतों का संकेत भी किया गया है। इसलाम के प्रसिद्ध फरिश्ते जिबरील, मीकाईल इजराईल और इसराफील हैं। इजराईल निधन का फरिश्ता है और इसराफील कयामत का। इसराफील के सिंहनाद से ही उस दिन सभी जी खड़े होंगे। कुरान में फरिश्ते स्वर्गीय प्राणी कहे गए हैं। उनका प्रधान काम अल्लाह की आज्ञा का पालन, मनुष्यों के कर्मों की देख-रेख, अल्लाह की सेवा और उसके सिंहासन को ढोना भी है। प्रतीत होता है कि अल्लाह की क्रिया-शक्ति फरिश्तों की जननी है। जो कुछ वह करता है फरिश्तों के द्वारा ही उसका संपादन होता है। कहा जाता है कि फरिश्तों की सृष्टि नूर से होती है और वे होते कामरूप हैं। कतिपय विद्वानों की दृष्टि में फरिश्तों में लिंग-भेद होता है, परंतु अधिकांश उनमें लिंग-भेद नहीं मानते। संत, रसूल एवं फरिश्तों के बारे में इसलाम एकमत नहीं है। किसीकी दृष्टि में कोई श्रेष्ठ है तो किसीकी दृष्टि में कोई। सूफी संतों को प्रधानता देते हैं।

एक[१] मनीषी की दृष्टि में शामी मतों में फरिश्तों का वही स्थान है जो हिन्दूमत

---

१ इंडिया एंड इट्स फ़ेटस, पृ० ७० ।

में देवताओं का। पर वास्तव में दोनों में कुछ भेद भी है। यदि देवता परमात्मा की विभूति है तो फरिश्ता अल्लाह का चाकर। यदि देवता परमात्मा का प्रतिनिधि है तो फरिश्ता उसका सामान्य कर्मचारी। देवता अल्लाह का स्वरूप है तो फरिश्ता उसका दास। सूफियों ने यह देख कर एक ओर तो फरिश्तों में उन शक्तियों का आरोप किया जिनसे संसार का शासन होता है और दूसरी ओर ऐसे देवाराधन को भी विहित समझा जिसमें प्रियतम की विभूतियों का अर्चन किया जाता है। कुछ लोगों की धारणा है कि आरंभ में 'इलाह' एवं 'इलोहिम' प्रकृति की दिव्य[1] शक्ति अथवा परमात्मा की विभूति के द्योतक थे; प्रतीक के रूप में उनकी उपासना प्रचलित थी। यदि यह ठीक है तो देवता तथा फरिश्ता का आदि-रूप एक ही था। यहोवा एवं अल्लाह ने जिन देवी-देवताओं को हटाकर अपना एकच्छत्र आधिपत्य स्थापित किया उसका पुनः आविर्भाव फरिश्तों के रूप में अनिवार्य था। जातियों के साथ ही उनके देवता भी भृत्य बनते हैं। निदान प्राचीन देवता अल्लाह के भृत्य या चाकर बने। उसकी आज्ञा के पालन में लग गए। लोगोंने उनको फरिश्तों के रूप में याद किया। सूफियों की आस्था इन फरिश्तों पर है। सूफी फरिश्तों से डरते हैं। उनका अदब करते हैं। परंतु इससे अधिक महत्त्व उनको नहीं देते। उनके मत में साधु सूफी-संत फरिश्तों से बढ़कर हैं। इसलाम में फरिश्तों की स्थिति कुछ विलक्षण सी है। उसके स्पष्टीकरण का एक मौलाना[2] ने जो उद्भट प्रयत्न किया है उसका समर्थन कुरान से हो नहीं सकता। हम उनको निरा प्रतीक मान नहीं सकते। कुरान में फरिश्तों की सत्ता ही तो आदमी को अल्लाह से अलग रखती है? उनको आपस में मिलने-जुलने नहीं देती? इमाम[3] गज्जाली ने तो फरिश्तों की कोटियों एवं उनके देश को निर्धारित कर स्पष्ट कर दिया कि फरिश्तों की स्वतंत्र सत्ता और उनकी एक अलग जाति है। फिर भला उक्त मौलाना के कथनानुसार उनको शुभ-

---

१ इसराएल, पृ० २४१।

२ दी होली कुरान (प्राक्कथन), पृ० १२।

३ मुसलिम थीयालोजी, पृ० २३४।

कर्मों का प्रेरक मात्र कैसे माना जाय ? सूफी तो फरिश्तों को अल्लाह की वह शान समझते हैं जो उसके जमाल को गुप्त और जलाल को प्रकट करती है।

फरिश्तों को आदम का सिजदा करने की आज्ञा मिली। सभीने आदम की वंदना की; पर इबलीस ने दिलेरी के साथ अल्लाह की आज्ञा का उल्लंघन किया। फलतः वह अल्लाह का विरोधी और आदमी का बैरी बन गया। जो उसके फंदे में फँसा वह चौपट गया। शैतान का नाम ही बुरा है, उसका किसीके सर पर सवार हो जाना तो सीधे जहन्नुम को जाना है। कहा जाता है कि शैतान की कल्पना का मूल स्रोत पारसी[१] मत में है। वहीं से शामी जातियों ने इसको ग्रहण किया। मूल कुछ भी रहा हो, इसलाम में इबलीस उपद्रवी और शैतान अल्लाह का प्रतिद्वंद्वी माना गया है। इबलीस तटस्थ रहता और शैतान सबको गुमराह करता है। अस्तु इबलीस ही वास्तव में जनता को धोखा देते समय शैतान बन जाता है। दोनों वस्तुतः एक ही हैं। कुरान में एक जगह[२] इबलीस को जिन कह दिया गया है। एक महोदय[३] का निष्कर्ष भी है कि इबीलस फरिश्ता नहीं जिन है; क्योंकि फरिश्ते कभी अल्लाह की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते। विचार करने पर व्यक्त होता है कि इबलीस निश्चय ही एक फरिश्ता है। यदि वह फरिस्ता नहीं, जिन होता तो उसे उस अपराध का दंड क्यों मिलता जिसके भागी केवल फरिश्ते थे। अतएव, इबलीस एक फरिश्ता ही सिद्ध होता है। कुरान में तो विपरीत आचरण के कारण उसको जिन कह दिया गया है, अन्यथा है तो वह फरिश्ता ही।

इबलीस के बारे में औरों की चाहे कुछ भी धारणा हो पर सूफी तो उसको अल्लाह का अनन्य भक्त ही समझते हैं। उनकी दृष्टि में जिन फरिश्तों ने अल्लाह की आज्ञा से अल्लाह को छोड़कर आदम का सिजदा किया उन्हें अल्लाह का सच्चा प्रेम नहीं था। किसी लोभ या भय-विशेष के कारण ही उन्होंने वैसा किया।

---

१ अर्ली जोरोस्ट्रियनीज्म, पृ० ३२५।

२ कुरान १८, ५०।

३ दी होली कुरान, नोट १५०५।

इबलीस अल्लाह का सच्चा भक्त है। उसे केवल अल्लाह से नाता है। फिर भला अल्लाह के सामने वह किसी बंदे की बंदगी कैसे बजा सकता है? अल्लाह ने अपनी आज्ञा की अवहेलना देख उसे जो दंड दिया उसे उसने सहर्ष स्वीकार कर लिया। उसको उसने प्रेम-प्रसाद के रूप में ओढ़ लिया। अस्तु, इबलीस भक्तों की कसौटी बन गया। जो उसकी परीक्षा में खरा उतरा वही अल्लाह का सच्चा भक्त ठहरा, अन्य ढोंगी और पाखंडी सिद्ध हुए। सूफी इबलीस की इस अनन्य रति पर मुग्ध हैं। उससे अनन्यता का पाठ पढ़ते हैं।

इसलाम में जिनों का काफी आतंक है। स्वयं मुहम्मद साहब जिनों की सत्ता के[1] कायल थे और उनके विरोध में लगे रहते थे। जिन की उत्पति आग से मानी जाती है। जिन अल्लाह के भजन में विघ्न डालते हैं। कहा जाता है कि हजरत सुलैमान ने जिनों को एक संपुट में बंद कर दिया था। सामान्य अरब जिन और मनुष्य का प्रणय आज भी मानता है। उसकी समझ में जिन से मनुष्य का विवाह हो जाता है। अरबी सा मर्मज्ञ ज्ञानी भी इस[2] प्रणय का कायल था। और लोग जिनों को प्रत्यक्ष देखते तथा कभी कभी उनसे बातचीत भी कर लेते हैं। और सूफी फकीर तो जिनों की झाड़-फूँक में लगे ही रहते हैं। जो हो सामान्यतः जिन और फरिश्ते में बुरे-भले का अंतर है। सूफी दोनों की सत्ता मानते हैं पर प्रियतम के वियोग में किसी की परवाह नहीं करते। बस रात दिन तड़पते रहते हैं।

नबियों और फरिश्तों के प्रसंग में संतों का भी नाम आ ही जाता है। संतों पर सूफियों की पूरी आस्था होती है। सच तो यह है कि यदि संस्कार और शासन की बाधा न हो तो सूफी नबी एवं फरिश्तों की चिंता भी न करें। फरिश्तों से अल्लाह का काम निकलता है, वे इंसान के काम नहीं आते। नबी कुछ कहने एवं रसूल कुछ कहने तथा करने के लिये संसार में आते हैं। जनता सदैव उनको अपने बीच नहीं पाती। उसे तो उनका दर्शन या सत्संग कभी कभी नसीब होता है।

---

(१) नोट्स आन मुहम्मेडनीज्म, पृ० ८३।

(२) दी रेलिजस एट्टिच्यूड एण्ड लाइफ इन इसलाम, पृ० १४८।

निदान उसको ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता पड़ती है जो उसीमें से एक हो, उसकी बातों को सुनता एवं सदा उसके काम आता हो। किसी किताब से बिरले ही को संतोष मिलता है। हृदय हृदय चाहता है, आसमानी किताब नहीं। यही कारण है कि तसव्वुफ में पीरों की इतनी प्रतिष्ठा है। 'गौस' अपने समय का प्रधान पीर समझा जाता है। 'कुत्ब' संसार की धुरी है। उसीकी कृपा से संसारचक्र इस व्यवस्थित रूप में चल रहा है। कुत्ब[1] के सहायक 'अवताद' होते हैं जो 'बदल' की श्रेणी से उन्नति कर उक्त पद पर पहुँच जाते हैं। कुत्ब के नश्वर शरीर के उपरत होने पर अवताद में से एक उक्त पद पर आरूढ़ होता है और विश्वात्मा के रूप में संसार का संचालन करता है। इस प्रकार सूफियों की दृष्टि में 'वली' दूध-पूत, धन-धान्य सभी कुछ देता है और कुत्ब संसार की रक्षा में मग्न रहता है। सूफियों ने पीरों का एक ऐसा मंडल बना लिया कि उससे फरिश्तों और नबियों की मर्यादा भंग हो गई। उन्होंने अपनी भावना की रक्षा इस अनूठे ढंग से की, पीरों को इतना महत्त्व दिया, वली को इतनी शक्ति दी, कुत्ब को इतना बढ़ाया कि उसके आलोक में रसूलता छिप गई और मुहम्मद साहब कुत्ब बन गए। इसलाम में पीर-परस्ती का नाम न था। सूफियों को कुरान में उसकी गंध मिली। देखते-देखते उनके सरस प्रयत्न से इसलाम के कोने कोने में पीरपरस्ती छा गई। मुहम्मद साहब को कहना पड़ा[2]—"मैंने तुम्हे समाधि पर जाने की अनुमति नहीं दी थी; पर अब तुम समाधियों का दर्शन कर सकते हो; क्योंकि उनके दर्शन से तुम इस लोक को भूल जाते हो और तुम्हें परलोक का स्मरण हो आता है।" प्रवाद है[3] कि मुहम्मद साहब ने स्वतः अपनी माता की समाधि पर आँसू गिराए थे और कहा था कि मैंने अल्लाह के आदेश से समाधि की जियारत की। प्रवादों में सहसा विश्वास कर लेने को जी नहीं चाहता, पर इतना तो जरूर है कि समाधियों के दर्शन से अलौकिक

(१) दी मिस्टिक्स आव इसलाम, पृ० १२४।

(२) दी फ़ेथ आव इसलाम, पृ० ३७४।

(३) दी फेथ आव इसलाम, पृ० ३७५।

ज्ञान का उदय हो जाता है और अल्लाह भी झलक दिखा जाता है। सूफी तो मजार, रौजा और दरगाह के पंडा ही ठहरे; सामान्य मुसलमान भी उनको किसी हज्ज से कम नही समझता और किसी फकीर की दुआ या वली की मिन्नत में मस्त रहता है। कहावत ही है 'जो न करे लकीर सो करे फकीर''।

मजार रौजा या दरगाह की प्रतिष्ठा एवं वली की आराधना से जाना जा सकता है कि सूफियों की धारणा प्रेतों के प्रति किस कोटि की हो सकती है। हम यह भली भाँति जानते हैं कि शामियों में पृथिवी के भीतर किस प्रकार शव रखा जाता था और उसके कब्र के जीवन की किस प्रकार रक्षा की जाती थी। किसी भी समाधि पर दीपक की ज्योति व्यर्थ ही नहीं टिमटिमाती, वह तो मौन भाषा में संकेत करती रहती है कि उसके गर्भ में अपार शक्ति का भांडार है। वह तो उसीको दिखाने को लपक रही है। लोग उसी शक्ति के प्रसाद के लिये कितने लालायित होते हैं और जनता उसके दर्शन के लिये कितनी भूखी रहती है; इसका प्रदर्शन तो प्रतिदिन होता ही रहता है। अस्तु, जनता को योंही छोड़ हमें यह देख लेना है कि समाधि में प्राणी पर बीतती क्या है जो सूफी उस पर इतना ध्यान देते हैं।

कुरान के अवलोकन एवं हदीस के अनुशीलन से अवगत होता है कि इसलाम कब्र के जीवन का अच्छी तरह कायल है। प्रवाद है कि मुहम्मद साहब[1] ने किसी काफिर की कब्र पर रुककर कहा था कि यह इसमें कष्ट पा रहा है। इसलाम की धारणा है कि मुसलिम कब्र में सुख से सोते और मुशरिक अपना दुखड़ा रोते रहते हैं। मुनकिर और नकीर नामक दो फरिश्ते कब्र में शव से बातचीत करते हैं और काफिर को वहाँ भी डराते रहते हैं।

मुहम्मद साहब की दृष्टि में जिस प्रकार पृथिवी से अन्न उत्पन्न होता है उसी प्रकार प्राणी भी कयामत के दिन उसके गर्भ से बाहर निकल पड़ेगा। इस कहने से प्रकट तो यही होता है कि कयामत के दिन निर्णय के समय शरीर तो पुराना ही रहेगा; पर इसलाम इस विषय में एकमत नहीं है। इस मतभेद में पड़ना घोर संकट

(१) नोट्स आन मुहम्मेडनीज्म, पृ० ८१।

का सामना तो है ही यह हमारे काम का है भी तो नहीं ? फिर हम इस चक्कर में क्यों पड़े ! हाँ, विज्ञ सूफी जहाँ प्रतीक, रूपक अथवा अन्योक्ति समझकर किसी तथ्य का रहस्योद्घाटन करते हैं वहाँ सामान्य जनता उसीको ठोस सत्य के रूप में ग्रहण करती और उसीपर जान देती है । अस्तु उसको पूर्ण विश्वास है कि उसके कर्मों की बही बन रही है । आगे उसको 'सिरात' के पुल पर चलना और अपने किए का शाश्वत फल भोगना है । उसकी धारणा है कि उस दिन रसूल और संत फकीर ही उसके काम आएँगे और उसकी ओर से अल्लाह से कुछ कह-सुनकर उसके लिये हूर, गिलमा, सुरा और नाना प्रकार के भोग-विलास की सामग्री जुटा देंगे । रसूल की कृपा से मुसलिम को शाश्वत स्वर्ग मिलेगा ।

स्वर्ग एवं नरक पर विचारने के पहले निर्णय के दिन के अनूठे दृश्यों की एक झाँकी ले लेनी चाहिए । इन दृश्यों में विज्ञानियों के लिये चाहे जितनी मनोरंजन की सामग्री हो, मोतजिलियों को इनकी सत्यता में चाहे जितना संदेह हो, संतों के लिये इनमें चाहे अन्योक्ति हो चाहे रूपक हो, चाहे कुछ भी क्यों न हो, पर साधारण जनता के जीवन का परिष्कार इन्हीं पर निर्भर रहा है और इन्हींके कारण उसमें मंगलाशा बँधती आ रही है । इसराफील के सिंहनाद को सुनते ही प्राणी जिस फल को भोगने के लिये जाग पड़ेगा उसका भावी भय ही इसलाम में योग-क्षेम का वाहक रहा है । उस दिन अल्लाह के कठोर दंड से रक्षा करनेवाला अपना दीन ही होगा । पर सूफियों की दृष्टि में अल्लाह के जलाल से उबारनेवाला रसूल या कोई संत ही हो सकता है । उस दिन मुसलमानों के लिये विशेष सुविधा होगी । उनको उस दिन उस कुंड का अमृत मिलेगा जिसको पी लेने से फिर कभी प्यास नहीं लगती । उनके लिये सिरात का पुल भयावह न होगा; उस पर वे आसानी से चल सकेंगे । कहा तो यहाँ तक जाता है कि मुसलिम किसी भी दशा में नित्य नरक का फल नहीं भोग सकता; अधिक से अधिक उसको उसका कष्ट देखना पड़ेगा । और अल्लाह का उस दिन प्रत्यक्ष दर्शन होगा । सूफी उसके दीदार में मग्न हो सायुज्य का फल भोगेंगे ।

सूफियों को अल्लाह के जमाल का पूरा भरोसा है । उनका कथन है कि स्वर्ग अल्लाह का जमाल और नरक उसका जलाल है । नरक में भी उसके प्रसाद

मे खाज खुजलाने का मा सुख मिलेगा। सूफियों का प्रियतम कठोर बनता है पर वह किसी को सता नहीं पाता। अंत में वह जीवमात्र का निस्तार कर देता है। उसी की मर्जी से सब बातें होती हैं। इंसान करता ही क्या है कि उसे उसका फल भोगना पड़े। जिस क्षण खुदी मिटी उसी क्षण वह खुदा बना। अब उसके लिये स्वर्ग-नरक सुख-दुःख सभी आनंददायक खेल हो गए। परंतु अनुभूति की पराकाष्ठा एक बात है और सामान्य आस्था उससे भिन्न सर्वथा दूसरी बात। अतएव सूफी समाज अल्लाह के प्रत्यक्ष दर्शन में विश्वास रखता है। वह निर्णय, सिरात, तुला, स्वर्ग-नरक आदि पर ईमान रखता और शरीअत का बहुत कुछ साथ देता है।

सालिक सूफियों की आस्था का परिशीलन हो चुका। सामान्यतः उनको मुसलिम आस्था से प्रेम है और वे उसको प्रशस्त मानते हैं। पर सूफियों में कतिपय आजाद तबीअत के जीव होते हैं जो जन्मांतर और आवागमन तक में विश्वास रखते हैं। स्वतः इसलाम मे एक संप्रदाय ऐसा उत्पन्न हो गया था जो आवागमन[1] को मानता था। मौलाना[2] रूमी ने जिस क्रमिक विकास के आधार पर यह घोषणा की है कि मरने से क्रमशः उन्नत योनि प्राप्त होती है वह आवागमन से मुक्त नहीं कहा जा सकता। उनके कहने का तात्पर्य है कि जीव क्रमशः बनस्पति, पशु आदि योनियों से उन्नत हो मनुष्ययोनि में जन्म लेता है। उसके निधन का अर्थ नवीन उत्तम जीवन है। मरण से उसे जब उत्तम योनि प्राप्त होती है तब मनुष्य भी मरकर कुछ श्रेष्ठ ही बनेगा। उमर खय्याम[3] भी जन्मांतर में विश्वास करता था। कहने का तात्पर्य यह कि आवागमन[4] और जन्मांतर में विश्वास रखनेवाले जीव भी सूफियों में अनेक हो गए हैं; पर सामान्यतः सूफी आवागमन का हामी नहीं, कयामत का कायल है। सूफी-साहित्य में कहीं कहीं लिंग-शरीर का भी संकेत मिलता

---

(१) एरेबियन सोसाइटी एट दी टाइम आव मोहम्मद, पृ० १६०।

(२) एसंशियल यूनिटी आव आल दी रेलिजन्स, पृ० ८७।

(३) ए लिटेरेरी हिस्टरी आव पर्शिया, प्रथम भाग, पृ० २५४।

(४) एन आइडियलिस्ट व्यू आव लाइफ, पृ० २८६।

है, पर उसका होना न होने के बराबर है। निदान, सूफियों की आस्था मुसलिम ईमान का साथ नहीं छोड़ती, हाँ, उसको कुछ प्रांजल अवश्य कर देती है।

आस्था के प्रसंग को समाप्त करते-करते सूफियों की उन बातों पर भी ध्यान चला गया जिनको आजकल का सभ्य समाज अंध-विश्वास वा ढकोसला के नाम से पुकारता है। यद्यपि सूफियों की आस्था के विषय में अब तक जो कुछ ऊपर निवेदन किया गया है उसमें उक्त दृष्टि से अंध-विश्वास की कमी नहीं तथापि उसको इसलाम का धार्मिक बल प्राप्त है; उसकी उपेक्षा कुफ्र अथवा पाप है। आस्था के संबंध में यह स्मरण रखना चाहिए कि तर्क उसका शत्रु होता है; उससे उसकी निभ नहीं सकती। बुद्धि के सहारे पर चलनेवाले व्यक्तियों की आस्था कभी दृढ़ नहीं होती, और मानव-हृदय को शान्त रखने के लिये वह पूरी भी नहीं पड़ती। अतएव विज्ञानियों के घोर विरोध करने पर भी तंत्र-मंत्र, पूजा-पाठ सदैव दुखियों के नाथ रहे हैं। शकुन, नजूम, ताबीज, तबर्रुक आदि की आज भी मानव-समाज में पूरी पूछ है और फकीर झाड़-फूँक में बराबर लगे भी रहते हैं। कीमिया से उनको बड़ी मदद मिलती है। करामत का बहुत कुछ श्रेय कीमिया पर ही निर्भर है। फिर भला कोई लोकप्रिय जीव उसको छोड़ कैसे सकता है? फलतः सूफी पक्के कीमियागर भी होते हैं और करामत के द्वारा ही जनता पर अपना रंग जमाते हैं। परंतु सच्चे सूफी इस प्रपंच से सदा दूर ही रहते हैं। इससे उन्हें कभी कुछ लेना देना नहीं रहता।

५. साधन

किसी भी मत के साधन साध्य के द्योतक नहीं साधक के परिचायक होते हैं। साध्य की सिद्धि के लिये साधक जिन साधनों का उपयोग करता है उनमें देशकाल की गहरी छाप होती है। किसी भी दशा में यह संभव नहीं कि परिस्थितियों की अवहेलना कर हम आगे बढ़ें और उनसे बाल-बाल बच जायँ। अस्तु, प्रकृति और परिस्थिति के मेल से ही हम लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं। उनमें से किसी की भी उपेक्षा कर हम फल-फूल नहीं सकते। वास्तव में प्रकृति हमारी जननी है तो परिस्थिति हमारी धात्री, हम एक के औरस तो दूसरे के पोष्य हैं। प्रकृति से हम बहुत कुछ अनभिज्ञ रह सकते हैं; पर परिस्थिति का ध्यान हमें सदा रखना ही पड़ता है। प्रकृति की ममता हम पर सदा बनी रहती है; पर परिस्थिति जरा भी चूकने पर हमें ठुकरा देती है। तसव्वुफ के जीवन में भी प्रकृति एवं परिस्थिति का यह विभेद स्पष्ट लक्षित होता है। सूफीमत की प्रकृति के संबंध में फिर कभी विचार किया जायगा। यहाँ हमें तसव्वुफ के उन साधनों का परिचय प्राप्त करना है जिनका उसने अपनी प्रकृति के अनुसार अवलंबन लिया और जिन्हें अपनी परिस्थिति के अनुकूल बनाया। तसव्वुफ को जिस परिस्थिति का सामना करना पड़ा वह मुसलिम संस्कारों से ओतप्रोत थी। निदान सूफियों को कुछ इसलामी कायदों की पाबंदी करनी ही पड़ी। मुसलिम परिधान में सूफियों ने इसलाम को अपने अनुकूल ही नहीं बनाया, उसके मुख्य मुख्य अंगों पर अपनी छाप भी लगा दी। धीरे धीरे परिस्थिति भी उनकी मुट्ठी में आ गई और उन्होंने अपना जौहर खुलकर अच्छी तरह दिखा दिया।

मुहम्मद साहब ने इसलाम की जो परिभाषा की, उसमें तौहीद के अतिरिक्त सलात, जकात, सौम एवं हज्ज का विधान था। इसलाम के इस रूप पर जम कर विचारने से प्रकट होता है कि तौहीद साध्य एवं शेष सब साधन मात्र हैं। इन

साधनों के विश्लेषण से व्यक्त होता है कि इनमें अभ्यंतर के परिष्कार की चिंता तो है, पर अल्लाह के साक्षात्कार का समुचित समावेश इनमें नहीं है। सूफियों ने अपनी तथा अपनी अंतरात्मा की पुकार की रक्षा के लिये जिस प्रासाद को खड़ा किया उसके द्वार पर इसलामी चिन्ह तो अवश्य हैं; पर उसका अंतःपुर सर्वथा स्वच्छन्द है। अंतःपुर के प्रेम-प्रमोद का परिचय अन्यत्र दिया जायगा। यहाँ हमको उस उपकरण पर विचार करना है जिसका उपयोग प्रियतम के साक्षात्कार के लिये किया जाता है; और उन साधनों को भी देख लेना है जो इसलाम के स्तंभ कहे जाते हैं।

तसव्वुफ के साधनों वा इसलाम के स्तंभों पर विचार करने के पहले ही यह जान लेना अत्यन्त सुगम होगा कि इसलाम की दृष्टि सदा से संघ-निर्माण या संघटन पर रही है। इसलाम समष्टि में व्यष्टि को, समाज मे व्यक्ति को बाँधता हुआ एवं अपना प्रसार करता हुआ बराबर चला आ रहा है। मुहम्मद साहब को इसमाईल की संतानों की बड़ी चिंता थी तो अरबों के उत्कर्ष के लिये संघटन अनिवार्य था। परंतु उन्होंने अल्लाह की प्रेरणा से जिस इसलाम का प्रचार किया, आरंभ में अरबों ने ही उसका घोर विरोध किया और फलतः मुहम्मद साहब को भागकर मदीना जाना पड़ा। मुहम्मद साहब ने देख लिया कि इसलाम के प्रचार के लिये संग्राम आवश्यक है और संग्राम के लिये संघटन अनिवार्य है। निदान मुहम्मद साहब संघटन के कारण विजयी हुए और उनका मुसलिम संघ भी स्थापित हो गया। उसने जेहाद में सफलता प्राप्त की। फिर क्या था, इसलाम में सलात, जकात, सौम और हज्ज की प्रतिष्ठा हुई। परंतु जैसा पहले कहा जा चुका है, हृदय को ऐसे परम हृदय की और व्यक्ति को ऐसे परम व्यक्ति की आवश्यकता पड़ती है, जिसके संसर्ग में वह यहाँ तक आना चाहता है कि उसको किसी प्रकार का भी मध्यस्थ खलने लगता है। उस समय उसकी दृष्टि में प्रियतम, सृष्टि में प्रियतम, कण-कण में प्रियतम के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं रह जाता। उसकी प्रवृत्ति संघ, समाज आदि सभी संस्थाओं की उपेक्षा कर स्वच्छंद रूप से प्रियतम की ओर मुड़ती और उसीमें एकांत भाव से रम जाती है। अब उसको किसी संघ या

संघटन से प्रेम नहीं होता। हाँ, केवल भाव-भजन से उसका नाता रह जाता है। तो इस परिस्थिति में जकात, सौम एवं हज्ज का कुछ भी महत्त्व नहीं रह जाता, सिर्फ सलात से काम निकालना पड़ता है। परंतु सलात भी उसके लिये पर्याप्त नहीं। सलात तो कामकाजियों का विनय किंवा उनके संघटनका एक अलौकिक विधान है जिसमें संघ ही प्रधान है। उसमें भक्तों के हृदय का मुक्त प्रवाह कहाँ ?

अच्छा, तो उक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि जीवन में जो काम एक बार करना हो (हज्ज), वर्ष में जिसका आश्रय एक मास लेना हो (रमजान, सौम, रोजा), कुछ हो जाने पर जिसका प्रबंध करना हो (जकात), दिन में पाँच बेर के लिये जिसका विधान हो (सलात, नमाज), वह किसी प्रेमी वा वियोगी के काम का नहीं हो सकता। उससे तो केवल किसी संघ या समुदाय में रहने का नियमभर बँध सकता है। हाँ, किसी हृदय का प्रसार उससे नहीं हो सकता। अस्तु, इसलाम सूफियों की कोमल भावनाओं का आश्रय नहीं बन सकता था ; वह तो केवल अपने कठोर व्यवसाय में व्यस्त था। उसका प्रधान काम आराधन नहीं, अल्लाह की आज्ञा का प्रसार था। उसके साधन उसीके काम के थे जो अल्लाह से अधिक उसकी आज्ञा को महत्त्व देता हो और उपासना को निमित्त मात्र समझता हो। फिर भी इसलाम में उत्पन्न होने के कारण सूफियों को उक्त साधनों में भाव-भजन का निर्वाह दिखाई दिया और वे उनके संपादन में मग्न रहे।

इसलाम के उक्त साधन-चतुष्टय में हज्ज की विशेष महिमा है। जीवन में उसको एक ही बार करने की अनुमति है। जो लोग बार बार हज्ज करने जाते हैं वे इसलाम का पालन नहीं, अपने आर्त्त चित्त को संतुष्ट करते हैं। प्रवाद[1] है कि उमर महोदय को उसमें अश्रद्धा हो चली थी। उनकी समझ में संग असवद का चुंबन बुतपरस्ती से मुक्त नहीं। कहते हैं कि अली के समझाने से उन पर काबा का रहस्य खुला। उमर ही नहीं, अन्य लोगों को भी मुहम्मद साहब का यह अनुपम विधान खटकता है। कदाचित् यही कारण है कि हज्ज के पुष्टीकरण में

---

(१) स्टडीज इन तसव्वुफ, पृ० १०६।

प्रमाण कम और उसके स्पष्टीकरण में व्याख्यान अधिक दिए जाते हैं। कर्मकांडों के प्रतिपादन में बुद्धि का अपव्यय प्रायः सर्वत्र और सदैव किया गया है; इसलाम इसका अपवाद नहीं। वह तो सर्वथा इसका पात्र ही है।

यदि काबा का सबंध हज्ज ही तक सीमित रह जाता तो कोई बात न थी, किन्तु सलात का भी तो उससे सनातन संबंध जुट गया है। आप नमाज कहीं पढ़ें, कैसे भी पढ़ें पर आपका मुँह सदा काबा की ओर ही रहेगा। मुहम्मद साहब ने इस प्रकार काबा की प्रतिष्ठा को केवल रहने ही नहीं दिया बल्कि उसको और भी व्यापक बना दिया। उनके पहले यूरुसेलम को जो गौरव प्राप्त था उनकी कृपा से वही मक्का को मिल गया। औरों के लिये ता मूर्त्तियों के तोड़क कट्टर रसूल के इस कृत्य का समाधान कठिन है; पर सूफियों को इसमें कोई उलझन की बात नहीं। भला जो बुतखानो और काबा में एक ही रोशनी का दर्शन कर सकता है उसकी बुद्धि काबा को बुतखाना समझकर हैरान कैसे हो सकती है? अवश्य हज्ज के जितने विधान हैं उन सब में बुतपरस्ती की छाप है[1]। और मुहम्मद साहब की समाधि भी पूजा की चीज समझी जाती है। तो भाव के भूखे सूफियों की दृष्टि में मजार, रौजा और दरगाह आदि की भी वही प्रतिष्ठा है जो इसलाम में काबा वा मुहम्मद साहब की कब्र की। कारण कि पीर से जीते जी हमारा जो संबंध स्थापित हो जाता है उसको हम भूल नहीं पाते, अपि तु उसकी समाधि की अभ्यर्चना से हम अपने हृदय के भार को हलका करते तथा उस पर दीपक जला अपने अंधकार को दूर करते हैं। यह कोई कोरी रस्मपरस्ती नहीं प्रत्युत हृदय की सहज वृत्ति है जो किसी बाहरी बंधन वा दबाव से नष्ट नहीं होती। यही तो कारण है जिससे कतिपय[2] सूफी अपने पीर की समाधि को काबा से अधिक महत्त्व देते हैं और उसकी जियारत को हज्ज से कम नहीं समझते। उनकी दृष्टि में देखी का अनदेखी से कहीं अधिक महत्त्व है। सिद्ध सूफी तो कल्ब में किबला मानते

---

(१) वहाबियों ने इसका घोर विरोध किया और वहुत से विधानों को कुफ्र ठहराया। किंतु हेजाज के वर्त्तमान शासक 'इब्नसऊद' इस विषय में रोक टोक नहीं करते।

(२) स्टडीज इन इसलामिक मिस्टीसीज्म, पृ० ४४।

हैं, बाहर कहीं मक्का में नहीं। भीतर परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं बाहर किसी हज्ज में नहीं।

यदि हज्ज में परंपरा का पालन एवं मुसलिम एकता का निर्वाह है तो जकात में लोक-मंगल का विधान। इसलाम में जकात त्याग-पक्ष है। अवश्य ही मुहम्मद साहब ने जकात को इसलाम का अनिवार्य अंग बनाकर दीन-दुखियों का हित किया। किन्तु वस्तुतः जकात में दान का भाव नहीं, कर का भाव है। सचमुच इसलाम के इस विधान से प्रकट हो जाता है कि इसलाम वास्तव में शासन चाहता है कुछ हृदय का अनुशासन नहीं। हाँ, हृदय लाभ-हानि के आँकड़ों से परितुष्ट हो जाता तो सूफियों को जकात से पूरा पड़ जाता। परंतु तसव्वुफ को इस क्षेत्र में भी भाव का व्यवसाय करना था, कुछ आनबान का विधान नहीं। निदान जकात में त्याग वा देने का संकेत मिला तो यही उनके लिये बहुत था। उन्हें कभी इस बात की चिंता न हुई कि जकात का मुख्य प्रयोजन इसलाम का दल-संघटन और उसका प्रचार है। क्योंकि जकात को इसलाम का मुख्य अंग बनाने का सीधा अभिप्राय है कि इसलामी संघ में निर्धन भूखों न मरें, धनी समय पड़ने पर कष्ट न सहें, प्रचारक धन के अभाव के कारण शिथिल न पड़ें; संक्षेप में मुसलिम सुखी रहें, इसलाम की उन्नति हो और लोग उसके महत्त्व की कामना करें। कुछ यह नहीं कि मुसलमान सर्वस्व त्याग संन्यासी बन जाय। अतएव सूफियों ने जकात को बिल्कुल दूसरे ही रूप में लिया। उनके बीच दया दाक्षिण्य वा उपकार की दृष्टि से जकात की प्रतिष्ठा हुई। उनको निश्चित हो गया कि वित्त से प्रियतम न मिलेगा। उसको अपनाने के लिये तो त्यागी और सती होना चाहिए। ज़र, ज़मीन, ज़न की मोहत्रयी में उनके लिये आकर्षण नहीं। वे अपना दिल परम प्रियतम को दे चुके तो बस उसी के संभोग के लिये लालायित हैं। उन्हें इस बात का ध्यान ही नहीं कि उनके पास क्या है, कितना है और किसे देना है। उनको तो बस यही सनक है कि प्रियतम के अतिरिक्त उनके पास और कुछ भी न रहे। अहं तक उनके लिये भारी है। यहाँ तक कि त्याग के फल से भी वे मुँह मोड़ते हैं। एक सूफी का तो स्वयं कहना ही है—

"मैंने दीनता से उसे खोजा। इस खोज में दीनता भी मुझे संपन्नता सी प्रतीत

हुई। मैंने दीनता और संपन्नता दोनों को त्याग दिया। मेरे इस दीनता और संपन्नता के त्याग ने मेरी योग्यता का विश्वास दिलाया। मैंने योग्यता की भी उपेक्षा की। मेरी इस उपेक्षा में मेरे श्रेय का उदय हुआ।"[१]

सारांश यह कि जकात में त्याग का संकेत पा सूफियों ने त्याग की ऐसी धारा बहा दी जिसमें इसलाम के सारे ध्येय बह गये। सूफियों ने जीविका के लिये भी काम या कुछ अर्जन करना छोड़ दिया। इसलाम में[२] 'कस्ब' और 'तवक्कुल' का विवाद छिड़ा। सूफी अपनी धुन में मस्त रहे। उनके पास जो कुछ था, सब अल्लाह को अर्पित कर दिया। उन्होंने अपने आप तक को उस प्रियतम के नाम वक्फ कर दिया। सूफी की साधु-दृष्टि में जकात समर्पण से कम नहीं।

हज्ज एवं जकात के पुण्य निर्धनों को नसीब नहीं; उनको तो बस सौम एवं सलात का भरोसा है। सत्त्वशुद्धि के विधानों में सौम का मूल्य सम्भवतः और सभी स्तंभों से अधिक है। उपवास की विधि परंपरागत है। मुहम्मद साहब ने कुछ परिवर्त्तन के साथ उसको इसलाम का अंग बना दिया। रमजान इसलाम का वह मास है जिसमें कुरान का अवतरण, मुहम्मद साहब का उत्कर्ष एवं विरोधियों का पतन हुआ। अतः वह सौम का पर्याय बन गया। फारसी मे सौम ही को रोजा कहते हैं। रोजा, सौम और रमजान पर्याय भी हो गए हैं।

सौम में सूफियों को उपासना का ढंग मिला। उन्हें प्रियतम के वियोग में तपना भाने लगा। भजन उनका भोजन हो गया। उनमें उपवास का इतना आदर बढ़ा कि उनके प्रताप का परिचायक तप ही समझा गया। उनमें

---

(१) स्टडीज इन इसलामिक मिस्टीसीज्म, पृ० २१५-६।

(२) कस्ब और तवक्कुल का तात्पर्य है कर्म और ईश्वर पर जोर देना। जो लोग कस्ब का पक्ष लेते हैं उनका कहना है कि भक्तों को भी कर्म करना चाहिए। रामभरोसे पर पड़ा रहना ठीक नहीं। तवक्कुल के पक्षपाती कर्म पर जोर नहीं देते। उनके विचार में परमात्मा पर पूरा भरोसा रखने से सब काम अपने आप हो जाते हैं। सब की चिंता खुदा खुद करता है। बंदे का पेट के लिए किसी धंधे में धँस जाना ठीक नहीं।

अनशन और उपवास की होड़ लगी। सौम के तिल को सूफियों ने ताड़ कर दिया। सूफी उपवासमात्र में सत्त्वशुद्धि समझने लगे। आज भी सूफी आहार-शुद्धि को सत्त्वशुद्धि का कारण मानते तथा उसका महत्त्व गाते फिरते हैं। संप्रदायों के विभेद का एक कारण व्रत भी है। कहा जाता है कि सौम में व्रती, फरिश्तों क्या, अल्लाह का अनुगामी हो जाता है; क्योंकि अल्लाह भी खान पान वा भोग-विलास से मुक्त है। सूफी अल्लाह के प्रेम में तत्पर और सदैव तल्लीन रहनेवाले जीव ठहरे। सौम तक ही उनका उपवास भला कब तक सीमित रह सकता है? अतः उनमें से कुछ तो सौम का क्षेत्र बढ़ाकर प्रायः व्रत किया करते हैं और कुछ उसकी भी उपेक्षा कर प्रियतम के वियोग में मत्त हो उठते हैं और इसलाम का कोई भी बंधन नहीं मानते। सर्वथा 'आजाद' जो ठहरे।

सौम साल में एक ही बार आता है और वह देश-काल का ध्यान भी नहीं रखता। फलतः उसका पालन भी सर्वत्र उचित रीति से नहीं हो पाता। वह किसी भी ऋतु में पड़ जाता है और उसमें दिनमान[1] का विचार ही नहीं रहता। लोग संकट के समय उसे टाल देते अथवा अड़चन आने पर मक्का का[2] दिन मान लेते हैं। सूर्य के सामने ही रोजा खोलते और उसके अस्त होते ही खान-पान में लीन हो जाते हैं। रमजान में भोगविलास से विरत रहने की आवश्यकता नहीं। हाँ, दिन में उससे दूर रहने का विधान है, रात में वह भी नहीं। तात्पर्य यह कि सौम के विधान से स्पष्ट हो जाता है कि वास्तव में मुहम्मद साहब का इसलाम आरम्भ में एक देशीय अथवा इसमाईल की संतानों (अरब) के लिये ही था किन्तु बाद में उसको विश्वव्यापक बना दिया गया। तो भी प्रतिदिन की चर्या से उसका कोई संबंध नहीं। इसके लिए तो सलात ही की शरण लेनी पड़ेगी। 'सौम' तो इसलाम का 'संयम' भर है।

सलात की भावना चाहे कितनी ही भव्य क्यों न हो किंतु उसमें हृदय का सच्चा उद्गार नहीं। अल्लाह की आराधना के लिये कुरान से रस खींचकर मुहम्मद

---

(१) दी होली कुरान, प्राक्कथन, पृ० २५।
(२) दी होली कुरान प्राक्कथन, नोट २३३।

साहब ने जो सलात नामक रसायन तैयार किया उसके सेवन से स्वर्ग मिल सकता हो, जीवन सफल हो सकता हो ; पर उससे मानव-हृदय की प्यास नहीं बुझ सकती। सलात तो एक ऐसा अनुष्ठान है जिसे समाप्त करने पर ही हम आनंदमय जीवन प्राप्त कर सकते हैं ; स्वयं उसके आचरण में हमें आनंद नहीं मिल सकता। सलात के विश्लेषण से पता चलता है कि उसमें अल्लाह की प्रशंसा, मुहम्मद का गुण-गान आदि सभी कुछ शांति, सफलता, सदाचार और संरक्षण की दृष्टि से किया गया है कुछ साक्षात्कार की लालसा या सत्य की जिज्ञासा से नहीं। अर्थात सलात के उपासक आर्त्त और अर्थार्थी हैं, प्रेमी या जिज्ञासु नहीं। अस्तु, सलात में सत्त्व की शुद्धि के लिये जो सामग्री प्रस्तुत की गई है वह हृदय को माँज सकती है, किंतु उसको प्रांजल तथा आनंदघन नहीं बना सकती। इसके लिये तो प्रेम और संवेद की आवश्यकता होती है जो सूफियों के पास हैं, कर्मकांडी में कहीं नहीं।

सलात में समष्टि एवं व्यष्टि, समाज एवं व्यक्ति का समन्वय है। सलात का आचरण अकेले घर पर भी किया जा सकता है और संघ बाँधकर मंडली में भी। जुमा का समारोह जातीय एकता का आधार है। सलात के संघबद्ध विधान का इमाम नायक है। इमाम सलात का संचालक होता है। उसकी मर्यादा औरों से कुछ भिन्न होती है। वस्तुतः वह मुसलिम सेना का सेनानी है।

संघटन की सीख को छोड़ कर यहाँ सलात के संबंध में टाँकने की बात यह है कि यद्यपि उसके समय ठीक ठीक नियत हैं तथापि उसका उपयोग किसी भी समय किया जा सकता है। नित्य. नैमित्तिक, काम्य आदि भेद सलात में भी पाए जाते हैं। विशेष विशेष अवसरों पर विशेष विशेष कामना से सलात का प्रयोग किया जाता है। सलात के इस विस्तार से पता चलता है कि अल्लाह की आराधना किसी भी समय की जा सकती है। हाँ, नियमित वा नित्य सलात की उपेक्षा नहीं की जा सकती। उचित समय पर उसका पालन करना ही होगा। सलात में समाज की मंगल-कामना भी की जाती है। 'प्रणिधान' तो सलात के पद पद में भरा है। इसलाम के भीत उपासक अल्लाह की कृपा के कातर कांक्षी हैं। इससे आगे बढ़ने की उनमें शक्ति नहीं। सलात आराधना के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

जो हो, उपर्युक्त विवेचन से प्रकट ही है कि सलात में तसव्वुफ के काम की बहुत सी बातें हैं। सूफी किसी गुरु की देख-रेख में विश्वास रखते हैं और उसके संकेत पर आचरण करते हैं। सलात में भी इमाम सब का अगुआ होता है, लोग उसका अनुसरण करते हैं। सूफी अल्लाह के प्रेमी होते हैं, उस पर अपने को निछावर कर देते हैं, उसके प्रणिधान में मग्न होते हैं; सलात में भी अल्लाह अनन्य कहा जाता है, लोग उसकी शरण में जाते हैं, सर्वथा प्रपन्न होते हैं। सूफी सदैव अल्लाह का विरह जगाते और उसका स्मरण करते हैं; सलात में भी सदा अल्लाह का नाम लिया जाता और उसके आदेश पर अमल किया जाता है। सूफी संसार का हित और जीवमात्र का कल्याण चाहते हैं; सलात में भी इसलाम का शुभ एवं मोमिन का मंगल मनाया जाता है। सूफी अभ्यास के लिये आसन का विधान करते और नियम बनाते हैं; सलात में भी पद्धति विशेष की व्यवस्था और उस पर यथातथ्य आचरण का विधान है। संक्षेप में, सलात के आधार पर 'जिक्र' का व्यापार आसानी से खड़ा हो सकता है। कुरान[1] में इसके लिये भी कुछ प्रबन्ध है।

हेरा की गुहा में मुहम्मद साहब जिस योग-मुद्रा में अल्लाह का अनुध्यान करते थे उसका ठीक ठीक पता नहीं। प्रवाद के आधार पर कहा इतना जा सकता है कि वह सलात की मुद्राओं से कुछ भिन्न थी। हम देख चुके हैं कि प्राचीन नबियों और काहिनों में भी एक प्रकार की योग-क्रिया प्रचलित थी। इसमें तो संदेह नहीं कि अंगों के संघटन, संचालन अथवा उनके संयोग-वियोग, समास-व्यास, एवं व्यायाम पर शरीर-साम्राज्य का सारा श्रेय निर्भर है। यह प्रतिदिन की देखी सुनी बात है कि मुद्रा-विशेष का प्रभाव भी चित्त पर कुछ विशेष ही होता है। साधकों की बात अभी जाने दीजिए, व्यवसायियों की बैठक भी एक सी नहीं होती। स्वभाव, बँधने के लिये, यदि आसन की बाट देखता है तो आसन भी स्वभाव को परिष्कृत कर देता है। अतएव किसी भी साधना में मुद्रा का महत्त्व मान्य होता

---

(१) डिक्शनरी आव इसलाम, 'जिक्र'।

है। सूफियों का लक्ष्य इसलाम से कुछ भिन्न है; अतः उनकी साधना का मार्ग भी सलात से कुछ भिन्न है। जो लोग सूफी-संप्रदायों के इतिहास से अभिज्ञ हैं वे यह भी भली भाँति जानते ही हैं कि उनकी विभिन्नता का एक प्रधान कारण जिक्र की मनमानी पद्धति भी है, जो प्रकृति और परिस्थिति की विभिन्नता के कारण औरों से अपनी एक स्वतंत्र लीक बनाती है और अन्यों की बहुत कुछ उपेक्षा भी कर जाती है।

जिक्र के विरोध में न जाने कितने काजी और मुल्ला बराबर लगे रहे पर उसकी धारा प्रतिदिन बढ़ती ही रही। समाज तो जिक्र का स्वागत करता ही था, सूफियों ने कुरान के आधार पर भी उसको साधु सिद्ध कर दिया। फिर भला किसी काजी या मुल्ला के रोकने से उसका प्रवाह किस प्रकार रुक सकता था! सूफी सलात के द्वेषी तो थे नहीं, फिर भला मुसलिम इनका विरोध क्यों करते! लोक-मंगल अथवा मुसलिम हित की कामना से सूफी सलात का पालन कर तो लेते थे, पर उन्हें शांति जिक्र ही में मिलती थी। सूफियों ने सलात को सामान्य और जिक्र को विशेष बना दिया, जिससे उसके अधिकारी भी कतिपय चुने हुए व्यक्ति ही रह गए; और मुल्लाओं का प्रत्यक्ष प्रहार भी निष्फल हो गया।

सूफियों को जिक्र के अनुष्ठान में वह शक्ति मिली जो अल्लाह और इंसान को एक कर देती है। इस एकता के संपादन के लिये जिक्र के नाना रूप प्रचलित हो गए। एक ओर तो सूफी उठते-बैठते गिरते-पड़ते प्रियतम की चौखट चूमते फिरते थे और दूसरी ओर आसन मारे जप करने में मग्न होते थे। जप के लिये उनको तसबीह[१] की आवश्यकता पड़ी। उनको यह भी व्यक्त हो गया कि प्रियतम के दीदार के लिये प्राणों के आयाम की भी जरूरत है। निदान, मन एवं शरीर पर अधिकार पाने के लिये योग उचित समझा गया। योग की साधना के लिये एकांत सेवन करना पड़ा। एकांत में अल्लाह की चिंता हुई; उनमें चिंतन का प्रचार हो गया। चिंतन की शिथिलता के अनंतर आप्तवाक्यों का अवलोकन इष्ट होता है; उनमें स्वाध्याय होता रहा। अध्ययन में प्रश्न उठने लगे, जिज्ञासा जाग पड़ी। इलहाम से काम न चला;

---

(१) ऐस्पेक्ट्स आव इसलाम, पृ० ६२,।

म्वारिफ का अविर्भाव हुआ। मन न माना। लालसा बनी रही। अपने को नाचीज समझा और साक्षात्कार हो गया।

म्वारिफ के उदय से सूफियों को हक का बोध हो गया, पर जिक्र का अनुष्ठान लोक-मंगल की कामना से आरिफ बराबर करते रहे। जिक्र पर सूफियों ने पूरा ध्यान दिया और उसके अनेक रूपों की प्रतिष्ठा की। जिक्र के व्यापक अर्थ में कुछ संकोच कर जिक्र, फिक्र एवं समा का विधान किया गया; नहीं तो, वास्तव में जिक्र अंगी और शेष अंग हैं। जिक्र के सामान्यतः[१] दो भेद किए गए हैं; एक का नाम 'जिक्र खफ़ी' और दूसरे का 'ज़िक्र जली' है। जली का संबंध वाणी एवं खफी का हृदय अथवा मन से है। क्रिया तो उभयनिष्ठ होती ही है। खफी के रूपांतर को 'फ़िक्र' कहते हैं। फिक्र में चिंतन की प्रधानता होती है। इसको हम 'चिंता' के रूप में पाते हैं। जली के अनुष्ठान का मूल मंत्र यद्यपि वही 'ला[२] इलाह इल्लिल्लाह' है जो खफी का, तथापि उसकी प्रक्रिया उससे सर्वथा भिन्न है। जली में चिल्ला चिल्लाकर अन्य वृत्तियों की उपेक्षा तथा दमन किया जाता है तो खफी में उस तत्त्व का उद्बोधन जो हमारा इष्ट होता है। जली संघ की साधना है तो खफी हृदय की एकांत भावना। जली स्तवन है तो खफी योग। योग के अंतराय प्रसिद्ध ही हैं। सूफी चित्तवृत्ति-निरोध को 'मुजाहदा' कहते हैं। उनका जेहाद मुशरिक या काफिर से नहीं खुद अपनी 'नफ्स' से होता है। सूफी नफ्सपरस्ती को 'कुफ्र' समझते हैं और उसी को दूर करने के लिये 'फिक्र' करते हैं।

जिक्र के अनंतर एक और क्रिया की जाती है जिसको लोग 'मुराक़बा' कहते हैं। मुराकबे में दिल की उस परेशानी का प्रबंध किया जाता है जो किसी संस्कार के अतिक्रमण के कारण हो जाती है। इसमें कुरान के कतिपय चुने हुए स्थलों का पाठ किया जाता है। कहते हैं कि स्वयं मुहम्मद साहब कुरान का पाठ बड़े चाव से करते तथा सुनते थे। जिक्र के उपरांत कुरान का पाठ आरंभ करने के पहले सूफी अल्लाह

---

(१) डिक्शनरी आव इसलाम।

(२) ऐस्पेक्ट्स आव इसलाम, पृ० १६२।

के व्यापक और अंतर्यामी स्वरूप का ध्यान धर उसको अपने साथ समझ लेते हैं, फिर उसके अंश-विशेष के पारायण में तल्लीन हो जाते हैं।

'समाअ' (संगीत) जिक्र का सबसे अधिक प्रचलित और क्रियात्मक रूप है। उसके विषय में विद्वानों में जितना विवाद छिड़ा उतना जिक्र के किसी भी अंग पर नहीं। तसव्वुफ में भी कतिपय संप्रदाय समा के पक्के प्रतिपादक हैं तो कुछ उसके कट्टर विरोधी। कुरान एवं हदीस में संगीत के विषय में चाहे कुछ भी न कहा गया हो, पर व्यवहार में इसलाम उसका सदा से विरोध करता आ रहा है। किसी उत्सव में यदि उसका भान होता हो तो उसे सहज उल्लास का परिणाम समझना चाहिए, धर्म का विधान नहीं। किसी भी वाद्य का निषेध कर जब सलात के आमंत्रण में गले की कोमलता भंग की जाती है तब हम अच्छी तरह समझ जाते हैं कि इसलाम वाद्य का विरोधी और संगीत का द्वेषी है। कवियों की कुत्सा कर अंतिम रसूल ने सिद्ध कर दिया कि उन्हें संगीत से प्रेम नहीं। नृत्य को तो इसलाम एक प्रकार की बुतपरस्ती ही समझता है, फिर भला उसमें समा का संग्रह किस प्रकार संभव था?

तो क्या समा के संपादन के लिये इसलाम में कुछ भी संकेत न था? नहीं यह बात नहीं है। 'वही' की दशा में स्वयं मुहम्मद साहब को[1] घंटी का सा कल-निनाद स्पष्ट सुनाई पड़ता था। कुरान के सुकंठ पारायण से आप मुग्ध हो जाते थे। आज भी हज्ज के उन्मत्त यात्री इधर-उधर मक्का के दिव्य प्रांतों में दौड़ते-फिरते गोचर होते हैं। काबा की परिक्रमा उस प्राचीन उल्लास की परिपाटी[2] है जो किसी उत्सव के समय नाच-रंग के उद्दीपन से मूर्त्तियों के चुंबन एवं आलिंगन में व्यक्त होता था और देवता का प्रसाद समझा जाता था। अतः समा की सत्ता किसी न किसी रूप में इसलाम में भी बनी रही और समय पाकर सूफियों में फिर फूट निकली।

---

(१) दी रेलिजस ऐटिच्यूड एण्ड लाइफ़ इन इसलाम, पृ० ४६।

(२) इसराएल, पृ० २६१।

समा[1] के संबंध में ध्यान देने की बात यह है कि वह एक सहज भाव का विकार है। कृत्रिमता से उसका कोई नाता नहीं। प्राणिमात्र में जिसका विधान हो, पशु-पच्छि भी जिसमें निरत हों, आनंद का जिसमें उदय हो, सजीव नर-नारी भला उसकी उपेच्छा कैसे कर सकते हैं ? सूफियों का तो कहना ही है कि सारा नच्छत्रमंडल आकाश के रंग-मंच पर समा का संपादन कर रहा है। कण कण उसीके उल्लास में नाच रहा है। फिर हमारा उल्लास अपराध किस न्याय से ठहर सकता है ? वह तो व्यापक समा के सागर में सीकर के समान है।

किन्तु समा से अनर्थ भी कम नहीं होते। कुशेरी[2] प्रभृति सूफी मीमांसकों का मत है कि समा से वृद्धों का हित और नवयुवकों का पतन होता है। समा के संपादन में हमें सदा सावधानी से काम लेना चाहिए नहीं तो किशोरों का जीवन नष्ट हो जाता है। सईद[3] का पच्छ है कि उक्त धारणा ठीक नहीं। सत्य तो यह है कि समा से काम-वासना तृप्त हो जाती है। यदि समा में उछल-कूद, लपक-झपक आदि उपायों से उसका उपद्रव नष्ट न किया जाय तो वह एकत्र हो भयंकर उत्पात मचाती है। उसके प्रकोप में युवक पिस जाते हैं। समा के संबंध में संच्छेप में यह समझ लेना चाहिए कि जब जीव आराधन में लीन होता है तब उसके घट के भीतर पाप-पुण्य का द्वन्द्व छिड़ जाता है और जीव विवश हो उसी में चक्कर काटने लगता है। लोग इसी को समा कहते हैं। अस्तु समा के सब अंगों पर विचार करने से विदित होता है कि यह एक प्रकार का संकीर्त्तन है। किसी मंडली

---

(१) "Dancing in order to arouse a divine furore is not of course confined to the religions of the savages and of the Mohammedans. Civilized Europe has had its dancing sects and new ones continues to appear now and again."—The Psychology of Religious Mysticism, P. 715.

(२) स्टडीज इन इसलामिक मिस्टीसीज़म पृ० ३४, नोट।

(३) ,, ,, पृ० ५८।

में जब इसका सम्मोहन राग आलापा जाता है, कव्वाल जब अपना गुन दिखाता है तब लोग भावोद्रेक के कारण अचेत हो जाते हैं—झूमते झूमते गिर पड़ते हैं। उन्हें हाल आ जाता है और इलहाम भी होने लगता है। सारांश यह कि वे समा की पराकाष्ठा को पहुँच जाते हैं। उनको सिद्धि की प्राप्ति हो जाती है।

जिक्र के नाना रूपों का जो संक्षिप्त परिचय दिया गया है उससे प्रत्यक्ष होता है कि साधक (सालिक) के लिये किसी 'भेदिया' (मुरशिद) का होना परम आवश्यक है। सूफ़ी इस पथ को शरीअत (कर्मकांड) से भिन्न मानते हैं। उनके मत में शरीअत एक सामान्य विधि है उसके पालन से सहजानंद नहीं मिल सकता, उससे तो केवल प्रियतम की उत्सुकता हासिल होती है। प्रियतम के दीदार का दर्शक तो कोई अनुभवी संत ही होगा जो कृपा कर उसके पथ का पता बता देगा।

उपासक (आबिद) को जब शरीअत में संतोष नहीं मिलता और उसे प्रियतम के मार्ग को जानने की उत्सुकता हो जाती है तब वह किसी जानकार के पास पहुँचता है। मुरशिद उसकी लगन को देख उसको मुरीद बना लेता है और एक निश्चित मार्ग का उपदेश दे उसे उस पथ पर चलने की अनुमति दे देता है। उसका प्रधान काम होता है कि वह मुरीद में खुदा का इश्क़ भर दे। मुरीद अब सूफ़ी-क्षेत्र में आ जाता है और उस परम प्रियतम के संयोग के लिये विरही बन प्रेम-पंथ पर निकल पड़ता है। शरीअत को पार कर वह 'तरीक़त' के क्षेत्र में विचरता है। तरीकत की दशा में उसको अपनी चित्त-वृत्तियों का निरोध या जेहाद करना पड़ता है। जब वह इस क्षेत्र में सफल हो जाता है तब उसमें म्वारिफ का आविर्भाव होता है और वह सालिक से आरिफ बन जाता है। म्वारिफ के उदय से उसमें परमात्मा के स्वरूप की चिंता आरंभ हो जाती है और वह 'हक़ीक़त' के क्षेत्र में पहुँच जाता है। हकीकत में उतरने से उसे प्रियतम का संयोग मिल जाता है और वह धीरे धीरे 'वस्ल' से 'फना' की दशा में पहुँच जाता है। उसे स्मरण भी नहीं रह जाता कि वह प्रियतम से भिन्न है। वह द्वंद्व से मुक्त हो 'हक़' बन जाता है और अपने को हक घोषित करने लगता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शरीअत का तसव्वुफ से कोई खास लगाव नहीं। शरीअत की अवस्था में मुसलिम और सूफी एक से हैं। दोनों के क्रिया-कलाप एक ही हैं। शरीअत के पालन में जो मुसलिम दत्तचित्त होगा उसमें 'मोहब्बत' का आविर्भाव होगा और उसी मोहब्बत की प्रेरणा से वह अलौकिक प्रियतम की खोज में निकल पड़ेगा। इस मोहब्बत का उत्पन्न होना सरल नहीं है। इसकी प्राप्ति के लिये बहुत कुछ करना पड़ता है। सबसे पहले तो मोमिन (प्रणयी) को उन बातों का त्याग तथा पश्चात्ताप करना पड़ता है जो उन्हें अल्लाह की ओर अग्रसर होने में रुकावट डालती हैं। फिर उसे उन बातों का सामना करना पड़ता है जो उसे अल्लाह की ओर से विमुख करना चाहती हैं। जब वह अपने प्रयत्न में सफल होता है तब उसे संतोष से काम लेना पड़ता है नहीं तो उसमें गर्व का संचार हो जाता है और वह शैतान के फंदे में फँस जाता है। शैतान के भुलावे से बचने के लिये उसे ईश्वर का कृतज्ञ होना चाहिए और उसी के आदेश पर चलना चाहिए। ईश्वर के आदेश पर चलने के लिये उसमें ईश्वर का भय होना चाहिए। ईश्वर से भयभीत रहने के साथ ही ईश्वर पर पूरा भरोसा रखना चाहिए और जीविका के फेर में इधर-उधर नहीं भटकना चाहिए। जो कुछ ईश्वर की ओर से प्राप्त हो उसी में प्रसन्न रह संसार से अलग होना चाहिए। तटस्थ हो ईश्वर का अनुध्यान करना चाहिए। अनुध्यान से ईश्वर में प्रीति उत्पन्न होगी। प्रीति उत्पन्न होने से मोमिन या मुसलिम सूफी बन जायगा और शरीअत से आगे बढ़कर तरीकत का उपयोग करेगा। अस्तु, मुसलिम को तसव्वुफ के क्षेत्र में पदार्पण करने के लिये सामान्यतः तोबा, जहद, सब्र, शुक्र, रिजाअ, खौफ़, तवक्कुल, रजा, फ़िक्र और मोहब्बत का क्रमशः अनुष्ठान करना पड़ता है। कुछ लोग इन्हीं को मुक़ामात[1] कहते हैं। पर वास्तव में ये मुसलिम मुकामात हैं, सूफियों के नहीं; क्योंकि सूफी मोहब्बत को अपना प्रेम-प्रस्थान समझते हैं, लक्ष्य नहीं।

---

(१) इल्म तसव्वुफ, पृ० ३८३।

शरीअत से यद्यपि तरीकत भिन्न है तथापि उसमें भी क्रियापक्ष ही प्रधान है। तरीकत को चाहें तो तसव्वुफ की शरीअत कह सकते हैं। तरीकत पर चलने से जिस म्वारिफ का आविर्भाव होता है उसमें चिंतन का पूरा पूरा योग है। म्वारिफ की दशा में जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह इलहाम की तरह वासनात्मक नहीं होता। उसका मूलाधार प्रज्ञा है। प्रज्ञात्मक ज्ञान होने के कारण उसको किसी अनिष्ट का भय नहीं रह जाता, वह सत्य का अनुभव कर लेता है और मारिफत से हकीकत की अवस्था में पहुँच जाता है।

हकीकत वास्तव में साधन नहीं, साधक की अनुभूति की अवस्था है। उसी अनुभूति की उपलब्धि के लिये सालिक सारी योजना करता है। हकीकत की प्राप्ति मारिफत पर निर्भर रहती है। म्वारिफ 'इल्म' से सर्वथा भिन्न है। परमेश्वर के साक्षात्कार के लिये म्वारिफ अनिवार्य है। इल्म को तो सूफियों ने 'आवरण'[1] तक कह दिया। म्वारिफ और इल्म में सामान्यतः विद्या और अविद्या का भेद है। हदीस, सुन्ना, इज्मा; क़यास आदि का म्वारिफ से कुछ संबंध नहीं। आरिफ लोक-मंगल की भावना से उन पर ध्यान देता है, परम सत्य के प्रतिपादन की दृष्टि से नहीं। कुरान भी वास्तव में एक पुस्तक ही है जिसमें जीवन-यापन की व्यवस्था आसमानी ढंग से की गई है और अल्लाह की अनन्यता का बोधमात्र कराया गया है। उसमें आध्यात्मिक दशा की अनुभूतियों का प्रकाश नहीं, अल्लाह का ऐश्वर्य (जलाल) है। अतएव सूफियों की दृष्टि में वह 'परा' के अंतर्गत नहीं हो सकती; 'अपरा' से ही उसका अधिकतर संबंध है। अस्तु, सूफियों का प्रधान साधन म्वारिफ है। म्वारिफ विभु की विभूति या अल्लाह की अनुकंपा का प्रसाद है; अतः वह बिना शरीअत और तरीकत के व्याकरण के भी उत्पन्न हो सकता है। उसके लिये अल्लाह की कृपा ही पर्याप्त है। सूफियों में अनेक ऐसे भी हुए जिन्हें प्रियतम का साक्षात्कार अनायास ही हो गया। उनको शरीअत या तरीकत के आचरण की आवश्यकता न पड़ी। उनको उनमें कुछ तथ्य दिखाई न दिया।

---

(१) स्टडीज़ इन तसव्वुफ़, पृ० २०६।

उनका संघ स्वतंत्र हो गया। उनको 'आज़ाद', 'बेशरा', 'ज़िंदीक़' आदि की उपाधि मिली। उनमें मारिफत और हकीकत का आलोक रहा।

शरीअत, तरीकत, मारिफत और हकीकत को हम क्रमशः कर्मकांड, उपासना-कांड, ज्ञानकांड एवं ज्ञाननिष्ठा कह सकते हैं। पर इस संबंध में यह स्मरण रखना चाहिये कि मुक्ति के लिये जो भारत में कर्म, भक्ति और ज्ञान नामक अलग अलग मार्ग चले उनका वर्गीकरण जितना स्पष्ट है उतना सूफियों का नहीं। सच पूछिए तो सूफियों ने उनके वर्गीकरण का प्रयत्न ही नहीं किया। भगवान् के साक्षात्कार के लिये उन्होंने केवल भक्ति-मार्ग को चुना और उसी की रक्षा तथा पुष्टि के लिये शरीअत तथा मारिफत की शरण ली। शरीअत से प्रोत्साहन पा मुरीद तरीकत में लगा और धीरे धीरे हकीकत की दशा में जीवन्मुक्त हो गया। अतएव एक ही व्यक्ति एक ही मार्ग में कर्मठ से साधक, साधक से ज्ञानी और ज्ञानी से 'हंस' बन गया। हंस बनकर भी बाशरा सूफी शरीअत का पालन लोक-रंजन की दृष्टि से करते हैं। उन्माद या समाधि की दशा में शरा की अवहेलना क्षम्य ही होती है; क्योंकि उस समय प्राणी परमेश्वर के पास ही होता है। उसे किसी साधना की आवश्यकता नहीं रहती।

आत्मा और परमात्मा, अब्द एवं अल्लाह की मीमांसा में हल्लाज[१] ने 'नासूत' एवं 'लाहूत' की कल्पना की थी। इस प्रकार की लोक-कल्पना से उसको अपने मत के प्रतिपादन में पूरी सहायता मिली थी। हल्लाज के उपरांत इमाम गज्जाली[१] ने लोक-कल्पना पर विशेष ध्यान दिया। उसने नासूत के साथ 'मलकूत' और लाहूत के साथ 'जबरूत' का विधान कर इसलाम की गुत्थियों को सुलझाने तथा तसव्वुफ को व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया। सूफियों ने नासूत, मलकूत, जबरूत और लाहूत चारों का स्वागत किया और किसी किसी ने एक अन्य लोक 'हाहूत' की भी कल्पना कर डाली। ब्रह्मांड में लोकों की जो व्यवस्था है उससे सूफियों का उतना संबंध नहीं रहता; उन्हें तो पिंड के भीतर उनको देखना रहता है।

---

(१) स्टडीज इन इसलामिक मिस्टीसीज्म, पृ० ८०।

सामान्यतः नासूत नरलोक, मलकूत देवलोक, जबरूत ऐश्वर्यलोक एवं लाहूत माधुर्यलोक है। हाहूत को चाहें तो सत्यलोक कह सकते हैं। साधक इन्हीं लोकों में विराम करता हुआ पर ब्रह्म में लीन होता और संसार के बंधन से मुक्त हो जाता है। इस दृष्टि से इन लोकों की तुलना क्रमशः जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीयावस्था से की जा सकती है। हाहूत को तुरीयातीत कह सकते हैं। मोमिन शरीअत का पालन कर नासूत में विहार करता है, मुरीद तरीकत का सेवन कर मलकूत में विचरता है, सालिक मारिफत का स्वागत कर जबरूत में विराम और आरिफ हकीकत का चिंतन कर लाहूत में तल्लीन होता है। यही सूफियों की पराकाष्ठा और तसव्वुफ की परागति है। कुछ लोग झोंक में इसके भी आगे पहुँच कर हाहूत लोक में विहार करते हैं। पर सामान्यतः सूफी हाहूत के कायल नहीं हैं।

सालिक को अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिये कतिपय भूमियों को पार करना पड़ता है। सूफी उन्हीं को 'मुकामात' कहते हैं। मुकामात के संबंध में यह स्मरण रखना चाहिये कि उनकी कोई निश्चित सीमा नहीं है। फिर भी सामान्यतः सूफी भी 'सप्तभूमयः' के कायल हैं। अत्तार ने भी अपनी प्रसिद्ध मसनवी 'मंतिकुत्तैर' में सप्तभूमियों का परिचय दिया है। हमारी समझ में सूफियों के वास्तविक मुकामात वे नहीं हैं जिनको लोग तोबा से आरंभ कर मुहब्बत में समाप्त कर देते हैं। हमने ऊपर यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि शरीअत के आधार पर ही जो अल्लाह की मुहब्बत चाहते हैं उन्हीं के लिये उक्त मुकामात ठीक हैं। सूफियों के लिये वस्ल अथवा फना जरूरी है, मुहब्बत या सामान्य संबंध नहीं। अतएव सूफियों के मुकामात क्रमशः अबूदिया, इश्क, जहद, म्वारिफ, वज्द, हक़ीक़ और वस्ल हैं। अब्द प्रियतम की खोज में उस समय निकल पड़ता है जब उसमें मुरशिद इश्क की चिनगारी डाल देता है। आशिक अपने माशूक को अपनाने के लिये अपनी चित्त-वृत्तियों का निरोध या जेहाद करता है। वह जहद की भूमि पर पहुँच जाता है। वृत्तियों के निरोध से प्रज्ञा का उदय होता है और वह म्वारिफ के मुकाम

---

(१) मुसलिम थियालोजी पृ० २३४।

पर पड़ाव डालता है। म्वारिफ से आरिफ और आगे बढ़ता है तब उसे सत्य की झलक मिलने लगती है और वह हकीक की भूमि पर ठहर जाता है। इस मुकाम पर उसे हक का आभास तो मिल जाता है, पर उसका संयोग नहीं मिलता। इसलिये वह कुछ और आगे बढ़ता है और वस्ल की भूमि पर अपने प्रियतम का साक्षात्कार कर उसी के संभोग में निरत हो जाता है। यही उसका लक्ष्य था। प्रियतम में जब वह इतना तल्लीन हो जाता है कि उसे प्रियतम के अतिरिक्त और कुछ भी दिखाई नहीं देता, यहाँ तक कि उसका अहंभाव भी नहीं रह जाता तब उसे शाश्वत 'बक़ा' का आनंद मिल जाता है और वह फना की भूमि में ब्रह्म-विहार करता है। अब्द को यदि सामान्य प्राणी मान लें और बका की परिस्थिति को फना से सर्वथा भिन्न मानें तो तसव्वुफ के मुकामात क्रमशः इश्क़, जहद, म्वारिफ़, वज्द, हक़ीक़, वस्ल एवं फ़ना हैं। हम इन्हीं को तसव्वुफ की 'सप्तभूमयः' कहना उचित समझते हैं, क्योंकि सूफियों के स्वभाव से इन्हीं का अधिक मेल खाता है।

इश्क से सूफियों का कितना संबंध है, इसके कहने की जरूरत नहीं। तसव्वुफ का सारा महल इश्क पर खड़ा है। जिस म्वारिफ का उल्लेख ऊपर किया गया है उसका भी स्वतंत्र व्यापार सूफी नहीं करते। म्वारिफ की उद्भावना तो सूफियों को जिज्ञासा की शांति एवं वासना के परिष्कार के लिये करनी पड़ी थी। सूफियों को प्रेम के अतिरिक्त एक भी साधन ऐसा नहीं दिखाई पड़ता जो उनको स्वतः पार लगा दे। किसी वासना, भावना किंवा धारणा के प्रतिपादन में सूफी चाहे जितना तर्क करें, पर अन्तःकरण से वे सर्वदा प्रेम के पुजारी और इश्क के क़ायल हैं। इश्क के आधार पर ही उनका सारा श्रेय निर्भर है। व्यक्ति-विशेष के प्रेम में पड़ कर सूफी परम प्रेम का अनुभव तथा हुस्नपरस्ती में अल्लाह के जमाल का साक्षात्कार करते हैं। उनके लिये प्रेम प्रतीक है; चाहे वह किसी का भी कैसा ही प्रेम क्यों न हो। प्रेम के पुल पर चल कर ही सूफी-भवसागर पार करते हैं। यही उनका अमोघ अस्त्र या परम साधन है।

अभीष्ट की प्राप्ति के लिये कुछ उपचार किए ही जाते हैं। ओषधियों का भव-रोग में भी बड़ा महत्त्व है। साक्षात्कार के लिये पुराने नबी सुरा का सेवन

करते थे। संगीत के विषय में हम पहले ही कह चुके हैं कि उनमें उसकी पूरी प्रतिष्ठा थी। सुरा तसव्वुफ में आज प्रतीक मानी जाती है। इसलाम में वह हराम है पर सूफियों में ऐसे जीवों की कमी नहीं जो उल्लास के लिये आज भी उसका सेवन करते हैं। यह तो प्रत्येक के अनुभव की बात है कि बहुत सी ऐसी चीजें हमारी आँखों के सामने ही मौजूद हैं जिनके सेवन से हमारी चित्त-वृत्तियाँ कुछ से कुछ और ही हो जाती हैं। मादक द्रव्यों का[१] प्रयोग फक्कड़ी लोग व्यर्थ ही नहीं करते। उनसे उनके फक्कड़पन में मदद मिलती है और उनका उल्लास[२] भी चोखा हो जाता है। साध्य की साधना के अनुसार साधक मादक द्रव्यों का प्रयोग सदा से करते आ रहे हैं। पतंजलि के योगसूत्र[३] में भी ओषधि का विधान है। तात्पर्य यह कि सूफियों की मंडली में कुछ ऐसे उपचारों का स्वागत बराबर होता रहा है जिनसे किसी उल्लास में सहायता मिलती है। मस्ती में उन्मत्त जीवों को बहुत दूर की सूझती है और वे उसी में अल्लाह की झाँकी भी देखते हैं। निदान सूफियों में कीमिया, नजूम आदि का प्रचार उल्लास और करामत की दृष्टि से हुआ। फलतः ये उपचार भी सूफियों के साधन बन गए, पर उनको तसव्वुफ में पूरी प्रतिष्ठा न मिली। नकली सूफी उनके फेर में पड़े रहे परन्तु असली सूफी कभी उनके चक्कर में न आए और सदा उनसे दूर रह अपना अलग विरह जगाते रहे। उनको किसी बाहरी उपचार से कुछ भी लेना-देना नहीं रहा। वे तो सदा अपने राम में मस्त रहे।

---

(१) मादक द्रव्यों के सेवन से जो प्रभाव चित्त-वृत्तियों पर पड़ते है उनका निदर्शन श्री लूबा ने बड़े ही मार्मिक ढंग से किया है और उन्होंने एक प्रकार से यह सिद्ध भी कर दिया है कि प्रियतम के साक्षात्कार में बहुत कुछ अंश इन कृत्रिम उपायों का रहता है। देखिए 'दी साइकालोजी आव रेलिजस मिस्टिसीज़्म' अध्याय ५।

(२) कुलार्णवतंत्र में मधुपान के सम्बन्ध में कहा गया है—"मन्त्रार्थस्फुरणार्थाय मनसः स्थैर्य्यहेतवे। भवपाशनिवृत्त्यर्थं मधुपानं समाचरेत्"॥ (पं० उ०, ८७)

(३) जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः। ४. १.

६. प्रतीक

वाद से वादियों का मुँह बंद किया जा सकता है; पर उससे हृदय का प्रवाह नहीं रुक सकता। आचार्यों को मनोविकारों का प्रबंध करना ही पड़ता है। जिस वासना भावना वा धारणा की रक्षा के लिये तर्क किया जाता है किंवा तरह तरह के वादों को जन्म दिया जाता है उसकी उपेक्षा मानव हृदय तो कर नहीं सकता। निदान सूफियों ने इसलाम की कट्टरता एवं शासकों की क्रूरता से आत्मरक्षा के लिये जो यत्न किए उनके संबंध में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। सूफी साहित्य के मर्मज्ञों से यह बात छिपी नहीं है कि सूफियों के रक्षक उनके प्रतीक ही रहे हैं। यों तो किसी भी भक्ति-भावना में प्रतीकों की प्रतिष्ठा होती है, पर वास्तव में तसव्वुफ में उनका पूरा प्रसार है। प्रतीक ही सूफी साहित्य के राजा हैं। उनकी अनुमति के बिना सूफियों के क्षेत्र में पदार्पण करना एक सामान्य अपराध है। प्रतीकों के महत्त्व को समझ लेने पर तसव्वुफ एक सरल चीज हो जाती है। उसके भेद आप ही खुल जाते हैं। किंतु प्रतीकों से अनभिज्ञ रहने पर सूफियों का मर्म मिलना तो दूर रहा उनकी एक बात भी समझ में नहीं आती। जो लोग सूफियों के प्रतीकों से अपरिचित हैं और उनकी पद्धति को नहीं जानते उनकी दृष्टि में तसव्वुफ एक अनृत दर्शन और कामुकों का विलास है। उसमें विषय-वासना और भोग-विलास के अतिरिक्त और जो कुछ भी है वह घोर पाखंड वा पक्का ढोंग है। यही कारण है कि सूफी बराबर ढोंगी की उपाधि से विभूषित होते रहे हैं। सूफी पाप-पुण्य, आचार-विचार आदि का भेद भावना में मानते हैं, किसी प्रतीक या पद्धति विशेष में नहीं। अतएव जो लोग उनके प्रतीकों की उपेक्षा कर प्रेम के अखाड़े में अपनी काम-कला दिखाते हैं उनके अपकर्ष का कारण उनका भोग-विलास ही है, सूफियों का प्रेम-प्रतीक कदापि नहीं। सूफी तो प्रेम को सब प्रतीकों में श्रेष्ठ बताते हैं, और उसको लिप्सा तथा वासना से सर्वथा मुक्त मानते हैं।

फ़ारिज़[1] ने स्पष्ट कहा है कि प्रतीकों के प्रयोग से दो लाभ प्रत्यक्ष होते हैं। एक तो प्रतीकों की ओट लेने से धर्म-बाधा टल जाती है दूसरे उनके उपयोग से उन बातों की अभिव्यंजना भी खूब हो जाती है जिनके निदर्शन में वाणी असमर्थ अथवा मूक होती है। फ़ारिज़ के इस कथन में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। यह तो प्रत्येक की देखी-सुनी बात है कि प्रतीकों की आड़ में सूफियों ने इसलाम के कर्मकांड का शिकार किया और फिर भी उन पर किसी प्रकार का दोषारोपण नहीं हुआ। उनको दंड तो तब दिया गया जब वे मैदान में आकर खुले आम खुलकर 'ग़ैर इसलामी' बातों का प्रचार और इसलाम की भर्त्सना करने लगे। हल्लाज के प्राण-दंड का प्रधान कारण उसका 'अनलहक़' नहीं, बल्कि उसका खुलेआम[2] अपने को हक़ प्रतिपादित करना था। यदि वह अपने को हक़ साबित करने के फेर में न पड़ता और सूफियों की पुरानी पद्धति, याने प्रतीकों के रूप में अपने विचारों को व्यक्त करता तो कभी उसकी दुर्गति न होती। हक़ के दावेदार अनेक सूफी निकले, जो अपने को हल्लाज से कम अनलहक़ नहीं समझते थे, और इधर उधर उसकी घोषणा भी लुक छिप कर खूब करते फिरते थे; किंतु कभी हल्लाज की खुली प्रणाली पर न चलते थे। उनको प्रतीकों से प्रेम था और उनके महत्त्व को वे जानते भी थे, जिससे इसलाम में उनकी प्रतिष्ठा बनी रही, और उसी के साथ उनके तसव्वुफ का प्रचार भी मजे में होता रहा।

अवश्य ही प्रतीकों के प्रयोग से गुह्यविद्या की मर्यादा बनी रहती है और लोगों को उसका बोध भी सुगमता से हो जाता है। सूफी भी अपनी विद्या को गुह्य रखते हैं। उनका तो कहना ही है कि मुहम्मद साहब ने इस विद्या का प्रचार गुप्त रीति से किया।[3] गज्जाली ने तो इसको गुप्त रखने तथा अधिकारी पर ही प्रकट करने का विधान भी कर दिया था। सूफी सदा से इस बात पर जोर देते आ रहे हैं कि तसव्वुफ की व्याख्या इस ढंग से होनी चाहिए कि उसकी गुह्यता भी बनी रहे और

---

(१) स्टडीज इन इसलामिक मिस्टोसीज्म, पृ० २३२,२५७।

(२) स्टडीज इन तसव्वुफ़, पृ० १३२।

(३) मुसलिम थियालोजी, पृ० २४०।

उससे जनता का मनोरंजन भी पूरा पूरा हो जाय। आगे चलकर देश-काल और संस्कारों की भिन्नता के कारण यद्यपि सूफियों में भी अनेक पंथ चल पड़े तथापि प्रतीकों की महिमा सब में अक्षुण्ण रही। धीरे धीरे प्रतीकों का प्रचार सूफियों में इतना व्यापक और गहरा हो गया कि सभी पंथों ने मुक्तकंठ से उनकी प्रशंसा की और उनके आवरण में ही अपने मत का प्रदर्शन ठीक समझा। फल यह हुआ कि सूफी-साहित्य प्रतीकों से भर गया और उसका सारा वैभव प्रतीकों पर अवलंबित हो गया।

प्रतीकों के संबंध में यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रकृति के नाना रूपों पर हमारी दृष्टि व्यर्थ ही नहीं पड़ती, उनसे हमारे हृदय का कुछ रागात्मक संबंध भी होता ही है। इस संबंध का मुख्य कारण दृश्यों का आकर्षण नहीं, हमारी वृत्तियों का रागात्मक लगाव ही है जो उनसे किसी न किसी प्रकार का संबंध जोड़ ही देता है। कतिपय द्रष्टाओं का तो यहाँ तक कहना है कि वास्तव में दृश्यों की कुछ निजी सत्ता नहीं है; उनकी तद्रूपता का कारण हमारा ज्ञान ही है जिसके संकल्प-विकल्प से उनकी प्रतीति होती है। कुछ भी हो, इतना तो निर्विवाद है कि प्रकृति के जिन दृश्यों पर हमारी दृष्टि पड़ती है उनमें कतिपय ऐसे होते हैं जिनमें सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि द्वन्द्व का व्यापार उसी प्रकार चलता दिखाई पड़ता है जिस प्रकार हमको अपने में। प्रकृति के साथ इस प्रकार के भावों का जो तादात्म्य हो जाता है उसका परिणाम यह होता है कि हम अपने भावों के प्रत्यक्षीकरण में उन्हीं दृश्यों का निदर्शन करते हैं। हमारे इस प्रयत्न का परिणाम यह होता है कि हमारे सूक्ष्म भावों को भव्य और मूर्त्तरूप मिल जाते हैं जिनके आधार पर उनका साधारणीकरण आसानी से हो जाता है। हम उन्हीं रूपों को प्रतीक के रूप में ग्रहण करते हैं और प्रायः अपने अमूर्त्त भावों को मूर्त्त रूप दे उन्हीं के द्वारा उन्हें बोधगम्य और सरल बना लेते हैं।

प्रतीकों के बारे में जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट हो गया होगा कि वस्तुतः प्रतीक भी कभी हमारे भावों के आलंबन रहे होते हैं और अपने विशिष्ट गुणों के कारण ही वे हमें इतने प्रिय लग जाते हैं कि हम किसी भाव के साक्षात्कार के

लिये उन्हीं का नाम लेते हैं। किसी भी वस्तु के मूल में पैठ कर उसके रहस्य को खोलने की मनुष्य में जो सहजात कामना है वह दृश्यों की दिव्यता में किसी नित्य देवता का आभास पाती है और उस देवता की प्राप्ति के लिये लालायित हो उठती है। पृथिवी, अंतरिक्ष, आकाश आदि की परिक्रमा से श्रांत हो जब हम अपने शरीर का अनुशीलन करते हैं तब उसमें भी मन, बुद्धि, प्राण, आत्मा आदि ऐसे सूक्ष्म तत्त्व गोचर होते हैं जिनको हम प्रतीक के रूप में ग्रहण कर लेते हैं। इस प्रकार प्रकृति के नाना रूपों में हमारे भावों के लिये स्थूल-सूक्ष्म, मूर्त्त-अमूर्त्त, सभी तरह के प्रतीक मिल जाते हैं। किन्तु केवल प्रतीकों से हमें संतोष तो नहीं होता ? कारण कि हम तो उस परम संबंधी की खोज में निकल पड़े हैं जिसके अंशमात्र के प्रकाशन से किसी वस्तु को प्रतीक की पदवी प्राप्त होती है और हम उससे संबंध स्थापित कर, प्रसन्न हो लेते हैं। परन्तु उसे खोजते खोजते जब हमारा चित्त निर्मल और अहंकार रहित हो जाता है तब उसमें जिस अलौकिक आभा का आभास फैलता है और जिस दिव्य दर्शन का अनुभव होता है उसके प्रत्यक्षीकरण में प्रकृति के उन रूपों से सहायता लेनी ही पड़ती है जिनको हम प्रतीक के रूप में पहले से ही हृदय में बैठाए होते हैं। यदि हम प्रतीकों का प्रयोग न करें तो हमारा दिव्यदर्शन किसी के भी हृदय में उतर नहीं सकता और वह सचमुच औरों के लिये एक ऐसी पहेली बन जाता है जिसका सामान्य बुद्धि, विवेक और विश्वास से कुछ भी संबंध नहीं रह जाता। संक्षेप में वह गूँगे का गुड़ हो कर ही रह जाता है; जिसकी व्यंजना के लिए भी गूँगे और गुड़ का उल्लेख करना ही पड़ता है।

अस्तु, उक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रतीक वास्तव में किसी भावना के द्योतक होते हैं, जो संस्कारों के कारण उनसे बंधी रहती है। यदि यह ठीक है तो प्रतीकों के प्रसंग में स्वयं प्रतीकों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता नहीं। जरूरत तो इस बात की है कि प्रतीकों के नाम-रूप से अलग रह उस भावना का पता लगाया जाय जिसके कारण किसी वस्तु को प्रतीक की संज्ञा मिलती है। प्रतीक जब तक किसी भाव के द्योतक या अभिभावक रहते हैं तब तक तो उनकी प्रतिष्ठा बनी रहती है; पर ज्यों ही उनको किसी भाव की

गद्दी पर बैठा दिया जाता है त्यों ही उनकी ध्वंसलीला आरम्भ हो जाती है[1]। मानव भाव-भूमि की एकता में किसी को सन्देह नहीं, पर प्रतीकों की एकता को कितने लोग समझ पाते हैं! इस विभेद का मुख्य कारण यह है कि प्रतीक देश-काल और परिस्थिति के अनुरूप होते हैं और उनके निर्माण में परंपरागत संस्कार का हाथ होता है जो सबके एक से नहीं होते। निदान जो लोग किसी संस्कार की उपेक्षा कर केवल मूल मानव भाव-भूमि पर विचरते हैं उनको किसी प्रतीक के लिये आग्रह नहीं होता, क्योंकि उन्हें सर्वत्र एक ही भाव का अधिष्ठान दिखाई देता है। परंतु जिनकी दृष्टि बाहरी बातों में ही उलझ कर रह जाती है वे प्रतीकों के लिये ही लड़ मरते हैं और प्रतीकों के मूल भाव को सर्वथा खो बैठते हैं। सूफियों ने प्रतीकों की प्रतिष्ठा की तो उनके महत्त्व को समझा भी और उनके मूलभाव का प्रकाशन कर मानव को एक भावसूत्र में बाँध भी लिया। कारण कि सूफी भली-भाँति जानते हैं कि भगवान् भाव में बसते हैं, प्रतीक या किसी बाहरी वस्तु में नहीं। प्रतीक तो इसलिये चलते हैं कि हम उनके सहारे भगवान् का स्वरूप अच्छी तरह समझ सकें, न कि इसलिये कि हम उनके लिये आपस में लड़ मरें। तभी तो अरबी[2] सरीखे मर्मी ने स्पष्ट कहा है कि लोग पूजा तो करते हैं अपनी भावना की प्रतिमा वा प्रतीक की और समझते हैं उसे ध्रुव सत्य की आराधना। फिर आपस में क्यों न लड़ मरें? ऐसी मूढ़ता की कहानियों से साहित्य भरा पड़ा है। सचमुच सभी अपनी अपनी भाषा में उसी का नाम लेते हैं और अपने अपने प्रतीक में उसीका भाव जगाते हैं। भेद भाव का नहीं, रूप का है।

---

(१) "In religion, symbolism is a help and a hindrance. It provides a sign for an idea and is useful in recalling the idea. But when, instead of recalling, it replaces the idea, it becomes a menace" (Origin and Evolution of Religion. Hopkins. P. 45)

(२) दी मिस्टिक्स आव इसलाम, पृ० ८८-८७।

प्रतीकों के विषय में हम पहले ही कह चुके हैं कि आरंभ में उनका संबंध किसी न किसी भाव से अवश्य होता है, पर धीरे धीरे उनसे मूल भाव उड़ जाते हैं और फेर उनकी ठटरी की उपासना होने लगती है। बात यह है कि मनुष्य में अनुकरण की प्रवृत्ति अत्यंत प्रबल होती है, और भाव की अपेक्षा क्रिया का अनुकरण सुगम होता है और किया भी खूब जाता है। परिणाम यह होता है कि कुछ दिनों में स्थिति इतनी भयंकर हो जाती है कि लोग मोह और ममत्व के कारण प्रतीकों को आराध्य से भी अधिक समझने लग जाते हैं और मनुष्यमात्र में उन्हीं प्रतीकों का पूजन देखना चाहते हैं जो उनके बाप-दादों अथवा उनके मत प्रवर्तक को अत्यन्त प्रिय थे। सारांश यह कि जिन्हें वे अपनी बपौती अथवा विरासत का धन समझते हैं उन्हीं को अपना सब कुछ मानते हैं, दूसरों की स्थिति को कभी आँख खोलकर नहीं देखते। इसी से प्रतीक पर आश्रित कविता सबको रसमग्न नहीं कर पाती और बहुतों के कोप का कारण भी होती है।

सूफियों का प्रधान भाव रति है तो रति का मुख्य उद्दीपन है सुरा। सुरा और रति के आधार पर ही सूफी साहित्य का सारा महल टिका है। इसमें भी रति का आलंबन ही सुरा का दाता भी होता है। माशूक ही साकी का काम करता और प्रेम-मदिरा पिला कर प्रेमी को छका देता है। माशूक का हुस्न अल्लाह का जमाल है जो किसी हसीन को अल्लाह का प्रतीक बनाता है। अल्लाह पुरुषविध है। मुहम्मद साहब को उसने किशोर[1] के रूप में ही दर्शन दिया था। किशोरी तो पुरुष के अंग विशेष से उसी की रति के लिये उत्पन्न की गई और उसके फेर में पड़ कर मनुष्य मर्त्यलोक का वासी हुआ। वह[2] स्वर्ग से निकाल दिया गया। अस्तु किशोरी का प्रेम प्रलोभन का कारण समझा गया और किशोर ही सूफियों के वास्तविक प्रतीक हुए।

रमणी की रमणीयता मान्य होने पर भी सूफियों के आलंबन प्रायः किशोर होते हैं। उमर खय्याम के सदृश कतिपय ही कवि ऐसे ढीठ रसिक निकले जिन्होंने

(१) दी रेलिजस लाइफ एन्ड ऐटीच्यूड इन इसलाम, पृ० ४६।

(२) इनसाइक्लोपीडिया आव इसलाम (हौवा पर लेख)।

स्त्री को प्रतीक अथवा प्रेम का आलंबन माना। औरों की बात जाने दीजिए, सादी सा सदाचार का प्रतिपादक कवि भी 'अमरद' को ही अपनी कविता का प्रतीक बनाता और प्रियतम का विरह जगाता है। इस प्रतीक के संबंध में मौलाना शिबली का कथन है—

"इंसान की असली फ़ितरत के मुताबिक मर्द आशिक़ और औरत माशूक़ है।...लेकिन ईरान की यह उपज कि आशिक़ और माशूक़ दोनों मर्द सख़्त तअज्जुब अंगेज है और इंसाफ़ यह है कि इस बेहूदगी ने ईरान की आशिक़ाना शाइरी को जो तमाम दुनिया से बालातर और लतीफ़तर थी ख़ाक में मिला दिया।...तीसरी सदी में इबतदा हुई और चौथी में यह मज़ाक़ आम हो गया।...हर वक्त के मेल-जोल में नज़रबाज़ी ताज़ा होती रहती थी। रफ़्ता रफ़्ता वह (तुर्क ग़ुलाम) ग़ुलाम और ख़ादिम होने के बजाय महबूब और मंज़ूर बन गए।...तुर्क के मानी माशूक़ के हो गए।...यह मज़ाक़ इस क़दर आम हुआ कि सलातीन आलानिया अमरदपरस्ती करते थे।...शुअरा तारीफ़ की तालीम दें और फ़रमाएं कि इश्क़ मजाज़ी इश्क़ हक़ीक़ी का जीना है तो मुल्क के मुल्क का बलाय आम में मुब्तला होना यक़ीनी था और हुआ।...इस मौक़ा पर यह नुक़्ता खास लेहाज़ के क़ाबिल है कि हिन्दुस्तान की शाइरी इस दाग़ से पाक रही।...तुर्क बच्चों के बाद मग़बच्चे और ईरानी माशूक़ बने।...माशूक़ का सरापा तमाम चमनज़ार है।...ख़ानक़ाहों में इस जिंस की और ज़्यादा माँग हुई।"[1]

उक्त मौलाना महोदय के इस कथन में सबसे बड़ी अड़चन यह है कि हम देख चुके हैं कि अमरदपरस्ती शामी जातियों की एक पुरानी लत है। देवमन्दिरों में न जाने कितने प्रणयी अमरद उल्लास में रत थे। उनका अल्लाह भी पुरुषविध था। और अन्तिम रसूल को उसने किशोर के रूप में दर्शन भी दे दिया था। निदान मानना पड़ता है कि सूफियों कि अमरदपरस्ती परंपरागत है कुछ ईरान की उपज नहीं। तो भी यह कहने में हमें तनिक भी संकोच नहीं होता कि सूफियों

(१) शेरुल् अजम जिल्द चहारुम पृ० १८६-२२४।

के इस प्रतीक ने पाषंडियों के लिये व्यभिचार का मार्ग चलता कर दिया और शाही अमरदपरस्ती में खतम समझी गई। हाँ, तो इसलाम में अमरदपरस्ती के प्रचार का प्रमुख कारण परदा का कट्टर विधान और संभोग की उत्कट लालसा है। विषयी शासक ही भोग-विलास की लिप्सा में लिप्त थे और परदे की कठोरता के कारण अमरद को हमेशा अपने साथ रखते थे, जिससे रमणी के अभाव में अपनी काम-वासना तृप्त करते थे। इन क्रूर शासकों के दंड-विधान से बचे रहने के लिये सूफियों की अमरदपरस्ती काफी थी। दोनों के आलंबन अमरद थे। दोनों ही प्रेम चाहते थे। अन्तर केवल यह था कि सूफी अमरद को प्रतीक मान उसके वियोग में अल्लाह का विरह जगाते थे और अमीर उसी के संभोग में निरत। एक का प्रेम हकीकी था तो दूसरे का मजाज़ी। एक के लिये जो जीना था दूसरे के लिये वही 'क़ियाम'। अस्तु, सूफियों का अपराध इसमें इतना ही है कि उनके अमरद प्रतीक और रति साधना के कारण इसके प्रचार में योग मिला और सच्चे सूफियों का भी सारा प्रेम-काव्य प्रकारान्तर से इसका सहायक बन गया। इसलाम में मंगला-मुखियों का अभाव था तो अमरदों ने इसकी पूर्त्ति कर दी। लिप्सा ने क्या से क्या कर दिया!

वास्तव में सूफियों के प्रिय प्रतीक का नाम मग़बच्चा है। सूफी उसी की मुरीदी करते और उसीके प्रेम-प्रसार में मग्न होते हैं। बात यह है कि जब लोलुप नरेश तुर्कों पर मर रहे थे और अमरदपरस्ती में मस्त थे, तब ईरान की जनता अपने प्राचीन वैभव को तरस रही थी। उसका अपने पुरुषार्थ से विश्वास उठ चला था। वह इसलाम के आतंक में अच्छी तरह आ चुकी थी। बाहर से उसने इसलाम को तो कबूल ही कर लिया पर भीतर ही भीतर उसके आर्य संस्कार भी अपना काम करते रहे। धीरे धीरे वे इसलाम में परिवर्त्तन और उसके संप्रदायों में मतभेद के कारण होते रहे। विद्वानों का तो यहाँ तक कहना है कि संस्कृति की दृष्टि से अरब विजित और ईरान ही विजयी है। कुछ भी हो, ईरान कभी अपनी संस्कृति को भूल न सका। 'मग़बचा' या 'पीरेमुग़ाँ' इसी का परिणाम है। न जाने कितने सूफियों ने जरथुष्ट्र का स्मरण किया, कितनों ने अग्निपूजन किया, कितनों ने भाग्य को

कोसा ; और अंत में सभी ने मिलकर 'पीरेमुगाँ' की मुरीदी की और उसी को अपने परम प्रियतम का प्रतीक भी मान लिया।

सूफी संस्कारवश मग़बच्चों के पास जाने के लिये सदा उत्सुक रहे। हाफ़िज़ ने तो उनका अत्यंत आदर और सत्कार किया। एक कुमारी[1] विदुषी का मत है कि इसलाम से त्रस्त पारसी जो पारस में रह गए थे, उनका काम हो गया था कि यात्रियों के लिये जलपान का प्रबंध करें। पथिकों के विश्राम के स्थान प्रायः पारसीयों के पानकगृह थे। उन्हींमें यात्रियों को शरण तथा शराब मिलती थी। पारसी अनादिकाल से सोमरस पीते आ रहे थे। मधु से उन्हें विशेष प्रेम था। अरब भी शराब के भक्त थे। मुसलिम होने पर भी मुँह की लगी नहीं छूटती थी। मार्ग में उसी मधुपान के लिये लालायित रहते थे। सूफियों ने इसी मधुपान को प्रतीक के रूप में ग्रहण किया और मग़बच्चों को मुरशिद, पीर; साक़ी, माशूक़ आदि अनेक नामों से याद किया।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि रमणी किसी भी दशा में तसव्वुफ में आलंबन हो ही नहीं सकती। नहीं ; स्वयं सूफियों ने ही स्त्री को भी प्रेम का प्रतीक माना है। अरबी सा मनीषी का कहना है कि अल्लाह कभी अमूर्त्त रूप में दर्शन नहीं देता और स्त्री-रूप[2] में ही उसका साचात्कार श्रेष्ठ होता है। रति के संबंध में हम पहले भी बहुत कुछ कह चुके हैं। यहाँ बस इतना भर संकेत कर देना है कि जहाँ कहीं जमाल की आभा फूटती है वहीं रति को जगह मिल जाती है। अस्तु, हुस्न ही वास्तव में रति का आलंबन है। जब कभी हम किसी हसीन का दर्शन करते हैं तब उसकी ओर खिंच जाते हैं। यही खिंचाव अलौकिक होने पर हमें भवसागर से पार करता है। यही कारण है कि रूमी तथा जामी जैसे सिद्ध[3] सूफियों ने भी किसी से प्रेम करने का आग्रह किया है। उनकी दृष्टि

---

(१) पोएम्स फ्राम दी दीवान आव हाफ़िज़, पृ० १४६।

(२) स्टडीज इन इसलामिक मिस्टीसीज्म, पृ० १६१।

(३) दी मिस्टिक्स आव इसलाम, पृ० १०९-१०।

में बिना किसी हसीन से दिल लगाये हमारा मन परमात्मा में रम नहीं सकता। परंतु, हमको कभी यह भूल न जाना चाहिए कि वास्तव में वह हसीन हमारे प्रेम का ग्राहक है, आलंबन नहीं। अतः जब कभी हमको किसी हसीन के प्रति लोभ हो, लिप्सा हो, तृष्णा हो, तब हमें सावधान हो अपने प्रेम-प्रवाह को व्यवस्थित कर उसकी गति को परमात्मा की ओर मोड़ देना चाहिये, नहीं तो भवसागर से पार होना तो दूर रहा हमको संसार में भी सुख भोगना दुर्लभ हो जायगा। तात्पर्य यह कि सूफी हुस्न और कामुक काम के लोभी होते हैं। एक 'हुस्न' के प्रेम के द्वारा 'जमाल' का प्रेम जगाता है तो दूसरा कामवासना की प्रेरणा से किसी हसीन पर जान देता है, एक रस का संचार करता है तो दूसरा विष का व्यापार।

सूफियों के प्रेम के संबंध में अबतक जो कुछ कहा गया है उसका सारांश यह है कि सूफियों का प्रतीक वास्तव में अमरद नहीं, प्रेम है। रति का जो आलंबन है वही प्रियतम का प्रतीक है। सूफी चाहे जिस किसी को प्रेम का पात्र कहें पर वस्तुतः उनका प्रियतम परमात्मा ही है। परमात्मा ही के माधुर्य की विभूति रूप के रूप में अणु अणु में छिटक रही है। अतः जहाँ रूप है वहीं प्रियतम का विलास है। वहीं हमें अपने परम प्रेम को जगाना है। निदान, हमको मानना पड़ता है कि किसी भी प्रेम का आलंबन तत्त्वतः परमात्मा ही है, और वह आलंबन ही सूफियों का सच्चा प्रेम-प्रतीक है। सूफी मसनवियों में जो स्त्री-पुरुष के पारस्परिक प्रेम दिखाये गये हैं उनमें आलंबन सदा परमात्मा का द्योतक और आश्रय सदा जीवात्मा होता है। सूफियों की दृष्टि में परमात्मा आश्रय से आलंबन बन गया है और जीव आलंबन से आश्रय हो गया है। क्योंकि यदि उसका प्रेम पहले से ही जीवात्मा के प्रति न होता तो जीव उसके प्रेम में कभी नहीं पड़ता। बस प्रेम की पुकार से ही सूफी परमात्मा को पहचानते और उसके वस्ल के लिये सदा लालायित रहते हैं।

सुरति के साथ ही तसव्वुफ में सुरा का भी विधान है। सुरा-सेवन में चाहे जितने दोष हों, पर एक गुण उसमें अवश्य है। यह वही गुण है जिसके लिये सूफी सदैव लालायित रहते हैं। शराब में वह शक्ति है जो इंसान को भव-बंधन से,

कुछ काल के लिये ही सही, मुक्त कर अनुपम उल्लास का स्वर्ग दिखाती है। उद्धव के प्रकरण में हमने इसी उल्लास का व्यापक राज्य देखा है। सूफी इसी उल्लास के कारण शराब को प्रतीक मानते हैं। सूफियों का साक़ी जिस शराब का पान कराता है वह अमृत है। उसके आस्वादन से शाश्वत आनंद मिलता है।

साक़ी शान से शराब का वितरण करे, इसलाम की विधियों का उल्लंघन करे और हराम के प्रचार में लगा रहे और शेख साहब चुपचाप इसे देखते रहें यह संभव नहीं। शेख़, जाहिद, क़ाज़ी और मुल्ला आदि धर्मध्वजी सदा से हाथ में इसलाम का झंडा लिये सूफियों के प्रतिकूल आंदोलन करते रहे और क्रूर शासकों से उनको जब तब कठोर और भीषण दंड भी दिलाते रहे, पर सूफियों को कभी उनसे भय न हुआ। वे सदा उनकी भर्त्सना करते रहे। परिस्थिति यहाँ तक उनके प्रतिकूल थी कि उनको उक्त बातों के कारण प्राणदंड तक भोगना पड़ा, किंतु उनके प्रेम और साक़ी ने उनमें इतना भाव भर दिया था कि उनको सुरा और साक़ी के अतिरिक्त और कुछ दिखाई ही नहीं देता था। सूफियों ने शेख साहब को कर्मकांडी ढोंगी, पाषंडी, आदि न जाने क्या क्या कहा। यहाँ तक कि तसव्वुफ में यह रूढ़ि सी हो गई कि शेख़, मुल्ला, जाहिद आदि इसलाम के धुरंधर उपासकों की खूब खबर ली जाय और प्रेम एवं सुरा के प्रसंग में उनको किसी शैतान से कम न समझा जाय। फलतः शेख साहब हमजोलियों के साथ सूफी-साहित्य में पाषंड के प्रतीक बने और शराब को हराम माननेवाले मुसलिम कवि भी काव्य में सूफियों की देखा-देखी उनकी भर्त्सना करने में मग्न हुए। शेख़ शाइरी में सूफियों के शिकार बने और उनकी दुर्गति भी खूब हुई।

सूफियों के मुख्य प्रतीकों का परिचय मिल गया। उनके अन्य प्रतीकों के विवरण की आवश्यकता नहीं। बस इतने से ही उनका महत्त्व स्पष्ट हो जायगा। जब माशूक़ प्रतीक है तब उसका नखशिख भी प्रतीक के अंतर्गत ही समझा जायगा। उसके अंग-अंग प्रतीक होंगे। उनसे किसी न किसी तथ्य का उद्घाटन किया जायगा। यही बात साक़ी के संबंध में भी है। साक़ी की प्रत्येक वस्तु को प्रतीक के भीतर माना जायगा और उनके आधार पर अमृतत्व की व्याख्या की जायगी।

प्रतीकों पर बहुत सी पुस्तकें लिखी गई हैं और उनमें प्रतीकों का अर्थ भी दिया गया है, पर उनमें उनके स्वरूप का बोध नहीं कराया गया है। अतः प्रतीकों के प्रकरण में हमें उनके उन विशिष्ट गुण पर ध्यान देना चाहिए जिनके कारण उन्हें प्रतीक की पदवी प्राप्त होती है। नखशिख में मुख की प्रधानता होती है। उसका वर्णन प्रायः सभी कवि खूब करते हैं। पर उसका प्रकट दर्शन कितनों को होता है? परदे के भीतर का दीदार ही तो तसव्वुफ का सब कुछ है? केश सूफियों का मुख्य प्रतीक है। उसकी कालिमा, उसकी कान्ति एवं उसका विस्तार प्रेमियों के लिये मनोरम और आकर्षक तो है ही सूफी उसको माया का रूप समझते हैं। प्रियतम अपने बालों के आवरण और विक्षेप से प्रेमियों को नचाता रहता है। उनका दिल उन्हीं में उलझ कर रह जाता है। कटाक्ष भी तो कुसुमवाण हैं जो हृदय को विद्ध कर प्रियतम के प्रेम में प्रेमी को अचेत कर देते हैं और फिर कभी उसको प्रेम से मुक्त नहीं होने देते। ऐसे ही प्रियतम के प्रत्येक अंग किसी भावना के द्योतक हो तसव्वुफ के प्रतीक बन जाते हैं और सूफी अपने काव्य में उनका प्रयोग कर प्रेम की व्यापकता को प्रशस्त करते हैं। वाद के क्षेत्र में जो प्रतिबिम्बवाद है भावना क्षेत्र में वही प्रतीक। सूफी दोनों के भक्त हैं और दोनों ही की छटा अपने काव्य में दिखाते हैं। पर उनका ध्यान अधिकतर प्रतीक पर ही रहता है। प्रतिबिम्ब का तो कहीं कहीं उनकी रचनाओं में आभास भर मिल जाता है। सूफियों का उससे कोई विशेष नाता क्या? वही तो प्रतीक का मूल कारण है? फिर प्रतीक के प्रत्यक्ष फल को छोड़ किसी अलक्ष्य के मूल को क्यों टटोलें? कार्य को छोड़ कारण में क्यों लगें?

सृष्टि में बहुत से प्राणी ऐसे भी हैं जिनकी दशा हमारी दशा से अच्छी तरह मेल खाती है। बुलबुल और तोते की दशा कितनी दयनीय है। उनका प्रेम कितना उपजाऊ है। बुलबुल पिंजड़े में पड़ी-पड़ी जो राग आलापती है, तोता बंदी की दशा में जो गीत गाता है वह सूफियों के हृदय को बेध देता है। सूफी तादात्म्य का अनुभव कर बन्धन से मुक्त हो अपने परम धाम तक पहुँचने के लिये ठीक उसी प्रकार लालायित हैं जिस प्रकार बुलबुल चमन या तोता बन के लिये। बुलबुल

और चमन को सूफियों ने प्रतीक के रूप में पकड़ा और उन्हें अपने काव्य का अंग बना लिया। इसी प्रकार मीन तड़प तड़प कर जब जल के लिये जान देने लगता है और बाँसुरी कलप-कलप जब विरह में राग भरने लगती है तब सूफियों का रसिक हृदय भी दरक उठता है और उसको उस धरोहर का भान होता है जो प्रेम के रूप में उनके हृदय में विराजमान है और जिसके उद्बोधन के लिये ही सृष्टि-शिरोमणि मानव की रचना हुई है। बुलबुल, तोता, मछली और बाँसुरी तक ही प्रतीकों की सीमा नहीं। सूफियों को कण कण में विरह-व्यथा प्रतीत होती है। उनके लिये सभी कुछ प्रतीक है। सभी तो प्रियतम के प्रेम में निमग्न हो उसी की खोज में भाँवरें भर रहे हैं? फिर उसकी इति कहाँ?

सूफियों के अति सामान्य प्रतीकों के ब्योरे से कोई लाभ नहीं। देखना तो हमें यह चाहिए कि सूफी उनका उपयोग कैसे करते हैं। अच्छा तो काव्य में प्रतीकों के आधार पर अन्योक्ति का विधान होता है। सामान्य उक्ति अथवा साधारण व्याख्यानों में हमारे भावों को इतना अवकाश नहीं मिलता कि उनका सहज विकास हो और उनका व्यापार निजी रूप में बढ़े। उनमें तो उनपर एक प्रकार का बोझ-सा लाद दिया जाता है जिसको उन्हें ढोना ही पड़ता है। उससे उनका कोई अनुराग नहीं रहता। परन्तु अन्योक्ति में यह बात नहीं होती। उसमें तो उन भावों को झलका भर दिया जाता है जो हमें इष्ट होते हैं। तो बस, अप्रस्तुत का प्रस्तुत से जितना ही अधिक लगाव होगा अन्योक्ति का विधान भी उतना ही सुन्दर और सुगम होगा। जो बातें प्रतिदिन हमारे सामने आती रहती हैं, जिनका संस्कार हमारे मन में बना होता है, जिनकी स्मृति वासना के रूप में हममें पड़ी होती है, उनके उल्लेख मात्र से हमारी मनोवृत्तियाँ जाग उठती हैं और अपने स्वभाव के अनुकूल उनसे भाव ग्रहण कर लेती हैं। उन पर किसी प्रकार का बाहरी दबाव नहीं पड़ता। अपितु वासना और संस्कार ही उनको उभार कर भाव ग्रहण के योग्य बना देते हैं। अस्तु, अन्योक्ति में भावभंगियों का विधान और अप्रस्तुत का संकेत भर रहता है, किसी बात का प्रत्यक्ष वा कठोर आग्रह नहीं। फलतः सूफी इन्हीं भावभंगियों और इन्हीं संकेतों के आधार पर, अन्योक्ति के द्वारा उस प्रियतम,

का साचात्कार कराते तथा उस परम प्रेम का प्रदर्शन करते हैं जिसके अंशमात्र से सारी लीला चल रही है और जिसके दीदार के लिए सारी प्रकृति नाच रही है।

अन्योक्ति की भाँति ही समासोक्ति भी प्रतीकों पर निर्भर रहती है। किंतु उसकी विशेषता यह है कि वह प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों को साथ लिये चलती है। कभी कभी सूफियों की वृत्ति इस ढंग की हो जाती है कि वे प्रतीकों के आधार पर किसी तथ्य का निदर्शन इस तरह कराना चाहते हैं कि उसका वृत्त भी यथातथ्य बना रहे और उनका अभीष्ट भी सध जाय। परंतु इस प्रकार की दोहरी चेष्टा सूफी काव्य में अधिक नहीं मिलती। प्रायः उनकी मसनवियों में जो आख्यान पाये जाते हैं उनमें से अधिकांश कल्पित हैं। उनका प्रधान उद्देश्य उनके द्वारा अपने मत का प्रकाशन करना ही है, कुछ उस आख्यान को इतिहास का अंग बनाना नहीं; प्रस्तुत तो उनके लिये निमित्तमात्र हैं। प्रचलित अथवा मूल वस्तु के वर्णन में भी सूफियों ने इतिवृत्त पर विशेष ध्यान नहीं दिया है प्रत्युत उसको रूपक एवं अन्योक्ति के साँचे में ढालकर उसे भावुक जनता के सामने अपने इस रंजित रूप में रख दिया है। यूसुफ़ और जुलेखा, लैला और मजनूँ के रचयिता कभी उनके जीवन की व्याख्या में लीन नहीं होते, उनका ध्यान तो सदैव उनके उस उन्मत्त प्रेम के प्रदर्शन पर रहता है जो भावों के प्रबल प्रवाह में पड़कर भव-बंधन को तोड़ सर्वथा स्वच्छंद हो जाता है, किसी मार्ग की चिंता नहीं करता और मनमाना चल निकलता है। अस्तु, सूफियों की रचनाओं में समासोक्ति का चाहे जितना विधान हो और रूपक का चाहे जितना सत्कार हो, पर वस्तुतः सूफी अन्योक्ति के ही भक्त हैं। उनकी अन्योक्तियों में हृदय का दुराव है, अलौकिकता का स्वांग नहीं।

अस्तु, हम देखते हैं कि प्रतीकों के आधार पर, छोटे छोटे आख्यानों के द्वारा, अन्योक्ति के रूप में सूफियों ने उन तथ्यों का मनोरम चित्रण किया जिनके संपादन में तर्क सर्वथा असमर्थ रह जाता है। मसनवी छंद आख्यानों के लिये इतना उपयोगी सिद्ध हुआ और उसमें इतने आख्यान लिखे भी गए कि उसका प्रयोग ही आख्यान के लिये होने लगा और लोग आख्यानात्मक रचना को मसनवी कहने लगे। आख्यानों से सूफियों ने अपने मत के प्रचार में वही काम लिया जो दृष्टांतों से

कथावाचक आज भी लिया करते हैं। आख्यानों के आवरण में जो भाव जनता के सामने आते हैं उनका उनपर पूरा पूरा प्रभाव पड़ता है। परंतु उनके सामने उनका रूप खड़ा जो हो जाता है। परंतु सूफियों के आख्यानों की इति यहीं नहीं हो जाती। उनका सच्चा रूप तो तब प्रकट होता है जब पुराणों की भाँति उनमें भी गहन तत्वों का मनोहर चित्रण किया जाता है और शास्त्रीय पद्धति पर अपने मत के निरूपण के लिये उनमें भी उचित स्थल ढूँढ लिया जाता है। हम कह ही चुके हैं कि प्रेमी सूफियों को अपने सच्चे प्रेम-प्रसार के लिये कठमुल्लाओं की हुज्जत, काजियों की कट्टरता और शासकों की क्रूरता का मुँह बंद करना था। निदान उन्होंने संवादात्मक प्रणाली को ग्रहण किया। कहने की बात नही कि इसके कारण एक ओर तो उनके गूढ़ भावों के प्रदर्शन में रमणीयता और सुबोधता आ गई और दूसरी ओर नाना प्रकार के इसलामी आक्षेपों से उनकी रक्षा भी हो गई। जो बात इसलाम के प्रतिकूल समझी जाती थी संवादों में वही किसी अन्य पात्र के मुँह में रख दी जाती थी। जो इस प्रकार अपने मूल रूप में जनता के सामने आ भी जाती थी और कठमुल्लाओं के कोप से बची भी रहती थी। कहते हैं कि जब हाफिज सा निपुण कवि अपने एक पद्यांश के कारण बुरा तरह फँस गया था तब उसने अपने एक मित्र के अनुरोध से उसे एक मसीही के मुँह में रख कर इसलामी चंगुल से अपनी जान बचा ली थी। संवादों के रूप में मौलाना रूमी ने तसव्वुफ का इतना भव्य चित्रण किया कि उनकी मसनवी को पहलवी का कुरान कहा जाता है। अस्तु मसनवियों की तसव्वुफ में वही प्रतिष्ठा है जो सनातन धर्म में पुराणों और बौद्ध मत में जातकों की है। मौलाना रूमी अपनी मसनवी को कुरान की विशद व्याख्या कहते और घोषणा करते है कि उसमें उन्होंने कुरान का सार खींच कर रख दिया है और हड्डी कुत्तों के लिये फेंक दी है। अन्य सूफी मसनवियों को भी इसी दृष्टि से देखना चाहिए। अन्यथा उनका भेद न मिलेगा।

सूफीमत के विवेचन में मसनवियों से पूरी मदद मिलती है। उनमें तसव्वुफ के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। पर सूफी हृदय का पता गजल से ही चलता है। मसनवी ईरान की अपनी चीज है। मत प्रतिपादन के लिये ईरानी

सूफियों ने उसको जन्म दिया। परन्तु गजल का अरबी में खूब प्रचार था। उसमें स्त्री-पुरुष की बात-चीत होती थी। धीरे-धीरे रति के साथ ही उसका चेत्र भी व्यापक हो गया और उसमें परम-प्रेम का प्रदर्शन डट कर होने लगा। गजल के माशूक स्त्री से अमरद बनने लगे। भावों का सागर जितना गजल में उमड़ा उतना किसी अन्य छंद में नहीं। गजल में प्रेम की इतनी प्रचंड आँधी आई कि उसमें धर्म-कर्म, आचार-विचार सब हवा हो गए। प्रतीकों की ओट में बुलबुल और चमन से लेकर कब्र एवं कयामत तक आशिकों का इश्क छा गया। अमरदपरस्ती की धाक जमी और आशिक कब्र में से कफन फाड़-फाड़ कर माशूक को झाँकने लगे। गजल के प्रचार के बढ़ जाने के कारण अमरद की माँग बढ़ी और सूफी भी फकीरी तोड़ उसके पीछे हो लिए। जगह-जगह इश्क मजाजी का बाजार गरम हो गया। पर सच्चे सूफियों ने इश्क मजाजी को तपाया और तब तक उसके पीछे अड़े रहे जब तक वह इश्क हकीकी में परिणत न हो गया। आज भी समा में सूफी गजलों का ही गान करते हैं और कव्वाल उन्हीं को गाते गाते बहुतों के लिये हाल को आसान कर देते हैं। गजल में शराब और साकी, बुलबुल और चमन आदि प्रतीकों का ऐसा गुणगान होता है कि उनसे अनभिज्ञ प्राणी उनको अश्लील समझते और उनके रहस्य से अपरिचित रह जाने के कारण उनको कोसते भी हैं। इसमें तो संदेह नहीं कि समाज की दृष्टि से गजल का प्रचार लोक-मंगल का विधायक नहीं। पर सूफियों को इस समाज की क्या पड़ी है? उनको तो किसी प्रकार प्रियतम का समागम कर उसके साथ मौज करना अथवा उसके अभाव में उसका विरह जगाना है। इसके लिये उन्हें कोई कुछ भी कहता रहे पर उनको इसकी चिन्ता नहीं। हाँ, चिन्ता तो उन्हें तब होती है जब उनका कठोर साकी शराब ढालना बन्द कर देता है। शराब मिली तो चिन्ता क्या?

रुबाई में भी प्रतीकों को गजल की भाँति ही स्थान मिला। अंतर केवल यह रहा कि रुबाइयों का प्रसिद्ध निर्माता उमर खय्याम एक मौजी जीव था। वह अमरद-परस्त नहीं, रमणीपरस्त था। उसने रमणी को ही आलंबन बनाया, अमरद को नहीं। बस रुबाइयों में कर्मकांडों की धज्जियाँ उड़ाई गई। उनमें भी मुल्ला, काज़ी

और शेखसाहब का भंडाफोड़ हुआ। और जाहिद की अच्छी गत बनी। अस्तु कहा चाहें तो हम कह सकते हैं कि सूफियों ने मत-प्रतिपादन के लिये मसनवी और भाव-प्रदर्शन के लिये गजल को चुना और व्यंग्य के विचार से रुबाई पर विशेष ध्यान दिया। इनमें भी भाव-प्रबलता के कारण गजल का ही व्यापक प्रसार हुआ। वियोग के वर्णन में तो सूफियों ने कमाल ही कर दिया। मसनवी में रूमी, गजल में हाफिज एवं रुबाई में खय्याम अपना सानी नहीं रखते। फलतः रूमी आचार्य, हाफिज भक्त और खय्याम मौजी कहलाए। सूफी काव्य के परिशीलन से पता चलता है कि रुबाई, मसनवी और गजल का क्रमशः प्रचार हुआ[२]। और तसव्वुफ के विकास में सूफी जिंदीक से आचार्य और फिर भक्त बने; किन्तु किसी भी दशा में प्रतीक से अलग न हुए।

मुसलिम साहित्य में सूफियों की ऐसी धाक जमी कि फारसी में जितने कवि हुए सभी सूफियों के प्रतीकों के आधार पर कविता करने लगे। उनके प्रताप से किसी भी फारसी कवि के लिये शराब और साकी के बिना कविता करना दुस्तर हो गया। भाषा में बनावट और प्रतीकों में बुढ़ाई आ गई। स्वच्छन्द और अटपटे सूफियों को उनमें संतोष न रहा। उनमें विरोधात्मक प्रतीकों का चलन अथवा उलटी का प्रचार हुआ। फारिज[३] कान से देखने और आँख से सुनने लगा। उससे पहले के सूफी अपने को हक अवश्य कहते थे, पर कभी इस बात का दावा नहीं करते थे कि वे वहाँ पहुँच गए जहाँ किसी अन्य की पहुँच नहीं। फारिज भी अपने को हक कहकर रह जाता तो कोई बात न थी। उसका दावा तो यहाँ तक हो गया कि सलात में इमाम उसीका अनुसरण करता है कुछ वह इमाम का नहीं।[४] सभी लोग उसकी ओर मुँह करके नमाज पढ़ते हैं, कुछ काबा की ओर करके नहीं। आत्म-विज्ञापन की गहरी झोंक यदि यहीं समाप्त हो जाती तो कोई

(१) कबीर बचनावली, भूमिका, पृ० ८८।
(२) खय्याम, पृ० २४८।
(३) स्टडीज इन इसलामिक मिस्टीसीज़्म, पृ० २१३।
(४) „ „ „ , „ १४८।

बात न थी। फारिज ने तो यहाँ तक कह दिया कि वैसे आदम की संतान होते हुए भी वस्तुतः वह आदम का बाप है।[१] पिता-पुत्र का यह उलटा सम्बन्ध सन्तों की उलटी से कम नहीं। अब माता-पुत्र का भी सम्बन्ध देख लीजिए। जिली[२] कहता है कि मेरी प्रार्थना पर मेरी माताओं ने मुझसे प्रणय कर लिया। उधर एक दूसरे महानुभाव[३] की तो घोषणा ही है कि मेरी माता ने अपने पिता को जन्म दिया। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रतीक की सनक और बढ़कर हाथ दिखलाने की कला ने तसव्वुफ में उलटी को जन्म दिया और उसके द्वारा सीधी और सरल जनता को मोहा गया। इधर उलटी के ऐसे प्रयोगों के कारण सूफी प्रमत्त कहलाए और उधर इसलाम की भृकुटी से बचकर जनता के सर्वस्व बने। प्रतीकों से सूफियों ने कौन सा काम नहीं लिया!

---

(१) स्टडीज इन इसलामिक मिस्टीसीज्म, पृ० २५५।
(२) ,, ,, ,, , पृ० ११३।
(३) ,, ,, ,, , पृ० ११२।

७. भावना

सूफियों की भक्ति-भावना मादन-भाव की होती है। मादन-भाव यद्यपि देखने
एक नवीन भाव प्रतीत होता है तथापि उसका प्रयोग सर्वथा अर्वाचीन नहीं। भार
के प्राचीन तंत्र-साहित्य के उस विभाग में उसका उपयोग दिखाई देता है जो नान
प्रकार के उल्लासों से भरा पड़ा है। मादन भाव की उद्भावना भारत में कि
प्रकार हुई, इसपर विचार करने का यह अवसर नहीं। यहाँ तो केवल इतना निवेद
कर देना है कि मादन-भाव का उल्लेख भारतीय भक्ति-भावना में कहीं नहीं किय
जाता। सर्वत्र उसकी जगह माधुर्य भाव ही का प्रयोग पाया जाता है। माधुर्य भा
क्या सभी भक्ति-भावों के विषय में हमारा कहना है कि भक्ति-भावों में जो 'भाव
का अर्थ लिया जाता है वह रति-भाव के 'भाव' के अर्थ से सर्वथा भिन्न है। उपा
सना के क्षेत्र में जिन भावों का नाम लिया जाता है उनमें उस बुद्धि के भावों क
विचार होता है जो उपास्य एवं उपासक में संबंध स्थापित करती है। अतएव ज
हम किसी की भक्ति-भावना को माधुर्य भाव की कहते हैं तब हमारा तात्पर्य यह
नहीं होता कि उसमें रति के अतिरिक्त किसी अन्य भाव की प्रतिष्ठा है; प्रत्यु
यह होता है कि उपास्य में उपासक की बुद्धि रति वा पति-पत्नी भाव की है
अर्थात् उसका यह भाव उसके संबंध का भाव है कुछ हृदय या सत्त्ववृत्ति का कदापि
नहीं। नहीं तो सच पूछिए तो उपासना में जितने भाव होते हैं उन सब का एकमात्र
स्रोत रति ही है। भय और विस्मय को लेकर जो उपासना खड़ी होती है वह भी
रति से शून्य नहीं कही जा सकती। किंतु रति के इस स्वरूप का बोध कराने के
पहले माधुर्य एवं मादन भाव के विभेद पर विचार कर लेना चाहिए।

सो माधुर्य भाव के नामकरण का प्रधान कारण रति-भाव के आस्वादन की मधु-
रता ही है। रति का समुचित परिपाक पति-पत्नी को छोड़ किसी अन्य भाव की भक्ति
में नहीं हो पाता। फलतः उनका आस्वादन भी रस की कोटि तक नहीं पहुँच पाता;

वह भाव ही बना रह जाता है। शृंगाररस का माधुर्यभाव से सहज संबंध है। किसी के उपास्य में हमारी पूज्य बुद्धि भले ही न हो; पर उसकी रति तो हमारे रोम रोम से उमड़ रही है। भारतीय माधुर्यभाव का आलंबन व्यक्त भगवान् है। उसकी अलौकिक सत्ता हमारा उद्धार करती और लौकिक हमें बराबर अपनी ओर खींचती रहती है। हम अपने आपको रति का अवतार समझते हैं, काम का नहीं। सूफी इस विषय में हमसे कुछ प्रतिकूल हैं। उनकी भक्ति का आधार मदन वा काम है, रति नहीं। मदन एवं रति में पति-पत्नी का संबंध है। वास्तव में एक ही तथ्य के दो पक्षों को काम एवं रति की संज्ञा मिली है। काम को मनोभव वा मनसिज भी कहते हैं। सचमुच काम में वह क्रिया शक्ति है जो स्वधा को बहुधा और एक को अनेक करती है और रति में वह मोहन-शक्ति है जो काम को मुग्ध कर उससे मनमाना काम कराती है। काम अमृत है तो रति आनंद है और दोनों ही ब्रह्म के दो रूप हैं। माधुर्य भाव में रति काम को चाहती है तो मादन भाव में काम रति का पीछा करता है। एक मधुर, कोमल, मंद है तो दूसरा उन्मत्त, भीषण और उग्र।

अब माधुर्य एवं मादन भाव के उक्त विवेचन से आप ही स्पष्ट हो जाता है कि सूफियों को प्रेम की दुर्गति क्यों पसंद है। सूफियों को अमृत की आकांक्षा नहीं, प्रियतम के संभोग की लालसा होती है। इस लालसा का मुख्य कारण शामी जातियों के संस्कार में रमा है। जीव मात्र में अमृत एवं आनंद की कामना होती है। सूफी अमृत की चिन्ता में लीन न हुए। उनकी अमृतत्व की जिज्ञासा वहीं शांत हो गई जब उन्हें पता चला कि यह जन्म प्रथम और अंतिम है। निधन के उपरांत जिस शाश्वत स्वर्ग-नरक, सुख-दुःख का विधान उनके मत में था उसमें ईश्वर का कृपापात्र होना ही सब कुछ प्राप्त करना था। निदान सूफी इस चिंता में लगे कि आनंद कैसे मिले। आनंद के विषय में पहले ही कहा जा चुका है कि उसका एकायन उपस्थ है। भारत में उपस्थ एवं तटस्थ के आधार पर भक्ति तथा ज्ञान का विचार बराबर होता रहा और भाँति भाँति के आनंदों का स्वरूप भी दिखाया गया; परंतु इसलाम में उपस्थ ही का स्वागत हुआ और वहाँ केवल सहजानंद का ही विलास छिड़ा।

आनन्द आस्वादन की अभिव्यंजना है। यह आस्वादन ज्ञानपरक भी हो सकता है और वासनात्मक भी। सूफियों ने म्वारिफ की कल्पना कर जिस सत्य का प्रतिपादन किया उसका परिशीलन उनके अध्यात्म में किया जायगा। अभी उनके इश्क का अवलोकन कीजिए। प्रेम-रस के परिपाक में सूफियों की भावना तभी स्पष्ट लक्षित हो सकती है जब रस के सभी अंगों की मीमांसा की जाय। सूफी जिस रति-भाव को ले कर आगे बढ़ते हैं और जिस मादनभाव का परिचय देते हैं, वह वस्तुतः कितना व्यापक और उदार है, उसमें अन्य भाव किस प्रकार निहित होते हैं, आदि बातों का जब तक उचित विचार न होगा तब तक सूफियों का वास्तविक रहस्य न खुलेगा। सूफी प्रेम ही को सब कुछ मान अन्य भावों की उपेक्षा यों ही नहीं करते. वे भली भाँति जानते हैं कि प्रेम ही सब रसों का मूल है। एक सूफी का उद्गार है—

"अगर इश्क़ न होता इंतजाम आलमे सूरत न पकड़ता। इश्क़ के बग़ैर जिंदगी वबाल है। इश्क़ को दिल दे देना कमाल है। इश्क़ बनाता है, इश्क़ जलाता है। दुनिया में जो कुछ है इश्क़ का जलवा है। आग इश्क़ की गर्मी है, हवा इश्क़ की बेचैनी है, पानी इश्क़ की रफ़्तार है, खाक इश्क़ का क़ियाम है। मौत इश्क़ की बेहोशी है, जिंदगी इश्क़ की होशियारी है, रात इश्क़ की नींद है, दिन इश्क़ का जागना है। मुसलिम इश्क़ का जमाल है, काफ़िर इश्क़ का जलाल है, नेकी इश्क़ की क़ुरबत है, गुनाह इश्क़ से दूरी है, बिहिश्त इश्क़ का शौक़ है, दोजख़ इश्क का जौक है।"

सारांश यह कि सूफी दृष्टि में इश्क वह क्रियाशक्ति है जो काम की प्रेरणा से उत्पन्न होती है और रति के साथ आनंद के लिए नानात्व का सृजन करती है।

हदीस है कि आत्म-दर्शन की कामना से अलक्ष्य ने अपने को प्रत्यक्ष किया। अल्लाह ने अपनी ज्योति से अपने प्रतिरूप आदम को बना कर उसके आनंद के लिये उसके अंग से हौवा का निर्माण किया। आदम उस पर ऐसे आसक्त हुए कि उसके कहने से निषिद्ध फल खा कर मर्त्यलोक में आए। आदम और हौवा के समागम से मानव सृष्टि चली। श्रुति भी है कि परम पुरुष ने रमण के लिये

स्वधा को द्विधा कर बहुधा का विधान किया। सृष्टि का मूल कारण कुछ भी हो, पर इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि आनंद की कामना से ही मिथुन का व्यापार बढ़ा। इस मिथुन के बारे में अग्निपुराण का मत है कि सहजानंद की प्रेरणा से अहंकार का उदय हुआ। अहंकार ने अभिमान के आधार पर राग को जन्म दिया। अहं एवं पर के विकास में परस्पर जो प्रश्न उठे उनमें विभेद होने के कारण द्वेष का उदय हुआ। इस प्रकार राग-द्वेष के द्वंद्व पर संसार का संसरण चला। राग उपस्थ की प्रेरणा एवं द्वेष तटस्थ का विधान करने लगा। सूफी जिसको इश्क़ कहते हैं वह वही राग है। राग एवं द्वेष की जगह सूफी जमाल एवं जलाल का नाम लेते हैं। अस्तु, सच पूछिए तो द्वेष की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। वह तो राग का मान ही ठहरा। भय एवं विस्मय के मूल में भी राग ही काम करता है। भय में हम आलंबन से विमुख होते हैं और विस्मय में उससे चकित हो ठिठक से जाते हैं। तो भी हमारी इस दशा का मूल कारण वस्तुतः वह राग ही है जो हमारे और उसके बीच में कोई न कोई संबंध स्थापित किए रहता है। सूफियों की भक्ति-भावना में यह स्थिति प्रत्यक्ष दिखाई देती है। उनमें अल्लाह का भय इसलिये बना रहता है कि कहीं वह विमुख न हो जाय। उनके इस भय का प्रधान कारण वह राग है जो प्रियतम के साक्षात्कार का विधान करता है। यह वह भय है जिसका संचार प्रीति के कारण होता है। जब प्रियतम के कृत्यों में उन बातों का दर्शन मिलता है जो आश्चर्य-जनक हैं तब उनको देख कर हम विस्मय में पड़ जाते हैं और सहसा कुछ निर्णय भी नहीं कर पाते। अंत में इस भय और इस विस्मय का परिणाम यह होता है कि हमें अपनी तुच्छता का बोध हो जाता है और हम प्रेम में और भी प्रपन्न हो जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि उस सारे प्रपंच का मूल कारण अहंकार ही है, अतः हम उसीको मिटाना चाहते हैं।

प्रकृत आत्म-विश्लेषण से भलीभाँति अवगत हो जाता है कि अमृतत्व एवं आनंद की कामना ही हमारे कण कण में बोल रही है। हम आनंद और शाश्वत जीवन के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहते। अमृतत्व एवं आनंद का एकमात्र

साधन जो सहसा हमारे सामने आ जाता है वह उपस्थ अथवा रति ही है। रति में आनंद का प्रादुर्भाव तो होता ही है, संतान हमारी शाश्वत सत्ता भी स्थिर रखती है ; परंतु इस आनंद और इस अमृतत्व में तृप्ति नहीं मिलती, प्रत्युत इनसे तो तृष्णा की ही वृद्धि होती है। अथच, सूफियों को सामान्य रति में वह संतोष न मिला जिसके वे भूखे थे। उनको उसमें तो उसका संकेत भर मिल सका। तब सूफियों ने देखा कि जिसको हम रति का यथार्थ आलंबन समझते हैं वह तो उसका सच्चा आलंबन नहीं, विभूति मात्र है। उसका वास्तविक आलंबन तो वही विभु होगा जिसके प्रसाद से हमें इस रति-प्रक्रिया में भी अमृतत्व एवं आनंद की आभा मिलती है: यदि वह अमृत स्वरूप और आनंदमय न होता तो संसार का संसरण भी मंगलमय न होता। संसार भी तो उसी के संकेत पर चल रहा है और उसी के अदा पर मुग्ध है, फिर उसकी उपेक्षा कैसे की जा सकती है?

किन्तु उस परम आलंबन के साक्षात्कार के पहले ही हमें उसकी मर्यादा का बोध हो जाना चाहिए। सूफियों की धारणा है कि वस्तुतः वही आश्रय है। वही हमें अपनाने के लिये अपनी माया दिखा रहा है। सृष्टि के रोम रोम में जो झलक दिखाइ दे रही है वह उसी की झाँकी है जो हमें लुभाने के लिये ही हो रही है। सितारे चमक-दमक के साथ उसकी ओर खिंचे जा रहे हैं, चाँद उसी की ओर बढ़ा जा रहा है, सूरज भी उसी के फेर में पड़कर जल रहा है, संक्षेप में, उसने चारों ओर प्रेम का बीज बखेर दिया है जिसने उगकर सबको आलंबन से आश्रय बना लिया है और इसी से हम भी उसके वियोग में पड़ गए हैं। यदि वह न चाहता तो हमें क्या पड़ी थी कि हम उसे चाहते, उसके विरह में मग्न रहते, घुलते और नाना प्रकार के उपद्रव सह मरते-मिटते सदा उसी की याद करते! हम तो खाने-पीने, भोग-विलास में ही मस्त थे ; हमें उसकी सुधि कहाँ थी जो उसके वियोग में भाँवरें भरते?

तो जब विभु की विमोहन शक्ति ही का यह सारा प्रसार है तब इसमें भय, विस्मय, क्रोध, जुगुप्सा आदि भावों के लिये स्थान कहाँ? भयभीत तो हम उस दशा में हो सकते हैं जब हम उसके स्वभाव से अपरिचित हों और उसकी चाल-

ढाल और उसके काम-कौतुक को न समझते हों। जब हम यह भलीभाँति जानते हैं कि उसी की कृपा से हम उसकी ओर बढ़ रहे हैं तब उसके कृत्यों से भयभीत नहीं हो सकते उलटे उसकी ओर और भी बढ़ ही जाते हैं और इसी से अंत में उस तक पहुँच भी जाते हैं। अब उसके चमत्कारों से हमें आश्चर्य नहीं हो सकता। हम उसके भेद से भलीभाँति परिचित जो हो गए हैं। रहस्य तो वह उन अंधों के लिये है जो आँखें फाड़ उसको हाथ पर रखकर देखना चाहते हैं। हम तो जानते हैं कि चमत्कार उसके मोहन मंत्र क्या, वह वशीकर मंत्र हैं जो हमारे चित्त को चमत्कृत कर अपनी मुट्ठी में कर लेते हैं। उसके दिए हुए कष्टों से हम क्रुद्ध नहीं हो सकते ; क्योंकि हम जानते हैं कि अंतराय उसके दूत हैं जो हमें मार्ग दिखाने के लिये ही आते हैं। हम उनका स्वागत करेंगे और दूने उत्साह से और भी प्रेम-पथ पर दृढ़ता के साथ अग्रसर होंगे। जुगुप्सा का हमको पता नहीं। कारण उसकी विभूति और उसकी अदा हमको इतनी पसंद है कि हम उसके अतिरिक्त कुछ और देखते ही नहीं, फिर घृणा किससे हो? शम की भी हमें इच्छा नहीं, हमें तो आत्मक्रीड़ा ही रुचती है। रति के प्रसार में हँसना-रोना ही हमें भाता है। हम रोकर उसे हँसाते और हँसकर उसे रुलाते और फिर दोनों हिल-मिल कर सच्चा आनंद उठाते हैं। बस हमारे लिये सर्वत्र रति ही रति है।

सूफियों के प्रकृत विभावन ने रति के व्यापार को इतना प्रबल किया कि उसके सामने विरति का सारा पक्ष निर्बल पड़ गया। भारतीय उपासना अथवा माधुर्य भाव में विरति का पक्ष कुछ-न-कुछ बना ही रहता है। भारतीय भक्त परमात्मा के व्यक्त स्वरूप में अनुरक्त हो संसारसे विरक्त पड़ जाते हैं। उनको किसी व्यक्ति विशेष से प्रेम करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। परन्तु, सूफियों में यह बात नहीं है। उनके मत में सामान्य प्रेम विशेष प्रेम का सोपान है और किसी व्यक्ति के प्रेम में पड़कर ही परम प्रेम का अनुष्ठान भलीभाँति किया जा सकता है। यही कारण है कि उनके प्रेम-प्रलाप में आलंबन के यथार्थ रूप का बोध नहीं होता। उनकी रतिके आलंबन स्त्री, अमरद और अल्लाह के अतिरिक्त मुरशिद, पीर और रसूल भी होते हैं। अल्लाह के अतिरिक्त किसी अन्य आलंबन

की आवश्यकता का मुख्य प्रयोजन यह है कि इसलामी अल्लाह सगुण और साकार होने पर भी अवतार नहीं ले सकता; उसके तो रसूल ही भूमि पर आते हैं। मनोरागों के लगाव के लिए जिस संपर्क की वांछा होती है वह इसलाममें नहीं थी। मूर्त के प्रेमी किस प्रकार अमूर्त के विरह में तड़प तड़पकर इधर-उधर बिखर पड़े थे, इसकी जानकारी हमको प्रसंगवश होती रही है। सूफियों के लिए भी यह असंभव था कि अल्लाह को माशूक बनाकर उसे कोसें, उसके रकीबों को भला-बुरा कहें, उसके मुँह और भावभंगी का खुलकर वर्णन करें और फिर भी सहीसलामत, जीते-जागते बचे रहें। इसलिए इस घोर युग में उनके प्रेम के आधार अमरद ही बने। बेचारी रमणी तो परदे में पड़ी थी। उसकी पूछ कहाँ? दूसरे, भाषा ने भी इनकी पूरी सहायता की। फ़ारसी क्रिया में कोई लिंगभेद तो था नहीं कि आलंबन का भेद चट खुल जाता।

जो हो सूफियों के आलंबन अमरद ही बने जो परोक्षरूप में प्रियतम के प्रतीक थे और प्रत्यक्ष रूप में अमीरों के माशूक भी। अतः उनकी रति भी सदा रति ही बनी रही और कभी श्रद्धा का रूप धारण कर भक्ति की कोटि में न आ सकी। यही कारण है कि सूफी भक्त नहीं आशिक ही कहे जाते हैं और रति ही उनकी परम निष्ठा होती है। 'काम मिलावे राम को' को जितना सूफी समझ सकता है उतना कोई भक्त नहीं।

सूफियों की भक्ति-भावना में उनके उद्दीपन की उपेक्षा हो नहीं सकती। सूफी तो प्रायः कण-कण से उद्दीप्त होते रहते हैं। उद्दीपन के विश्लेषण से व्यक्त होता है कि उसके तीन अंग हैं। प्रथम तो आलंबन के हाव-भाव, द्वितीय प्रकृति के राग-रंग और तृतीय आलंबन के संबंधी। सूफियों के आलंबन के विषय में हम देख ही चुके हैं कि वह अधिक से अधिक आँखमिचौनी खेल सकता है, कभी हमारी आँखों के सामने देर तक टिक नहीं सकता। रही उसकी चेष्टाओं की बात। सो उसके संबंध में यही समझ लेना चाहिए कि सूफी व्यक्तिविशेष के हाव-भाव को उसी की चेष्टा अथवा भाव-भंगी का फल समझते हैं। फलतः प्रकृति में जो कुछ विभाव गोचर होता है उसको उसी की अदा समझते हैं और उसी को उसके प्रेम का प्रसाद

मानते हैं। अब आलंबन के संबंधी को लीजिए। सूफियों की धारणा है कि प्रियतम अपने आप तो नहीं आता पर अपने रसूलों को भेजता है, जो दूत वा दूती का काम करते हैं। किताबें उसकी वह देन हैं जो सीने के घाव को सदा हराभरा रखती हैं और कभी उसको मुरझाने नहीं देतीं।

प्रकृति से उन्हें एक और प्रेरणा मिलती है। सूफी देखते हैं कि प्रकृति उसके विरह में कहीं सूख रही है, कहीं रो रही है, कहीं चक्कर काट रही है, कहीं उन्मत्त है, कहीं मूर्छित है, कहीं (स्वप्न में उसका साक्षात्कार कर) हँस रही है, कहीं रूठ रही है, कहीं लहलहा रही है, कहीं लपट रही है; कहीं कुछ कर रही है कहीं कुछ। संक्षेप में, प्रकृति इनके सामने उन फलों को भोग रही है जिनकी आकांक्षा उनमें जाग रही है। उनकी लालसा और उनकी रति यह देख देखकर तड़प उठती है, लंबी साँस लेती है, और उसके विरह में जल उठती है। कभी कभी उसकी झलक पा उसे कुछ संतोष होता है और वह खिल पड़ती है। किंतु फिर उसी वियोग में चक्कर काटने लगती है।

सूफियों के अनुभाव बड़े विकट होते हैं। प्रियतम के लिये सूफी क्या नहीं करते ? उसके लिये आँख बिछाते हैं, पथ बुहारते हैं, सर के बल चलते हैं, आँसुओं की नदी बहाते हैं, पहाड़ खोदते हैं, व्रत रहते हैं, उपवास करते हैं, रण ठानते हैं, आह से एक नया आसमान बनाते हैं, रकीबों को कोसते हैं, शरीर पर घाव करते हैं, कहाँ तक कहें कलेजे का कलेवा भी करने लग जाते हैं। उनकी यह अर्चना फूल-पत्तों की नहीं होती; उसमें प्राण चढ़ाए जाते हैं। कभी कभी सूफियों के कार्य इतने भीषण और वीभत्स हो जाते हैं कि उनसे सुरुचि को धक्का लगता है। पर उन्हें इसकी क्या चिन्ता ! उनको तो किसी प्रकार उसे रिझा कर, उसमें दया उत्पन्न कर उससे बस एक बोसा प्राप्त कर लेना है। आखिर दया उत्पन्न कैसे हो ?

सूफियों का यह अभिलाष सामान्य नहीं होता, उनको तो प्रियतम के लिये मर मर कर जीना पड़ता है। चिंता, स्मरण, कीर्तन, गुणगान आदि तो सभी कर लेते हैं। सूफियों की इसमें विशेषता क्या ? तो सूफियों का इश्क उद्वेग से रंग लाता है और मरण में ही खरा उतरता है। प्रेम की प्रमत्त दशा में सूफियों ने जो कुछ

लिखा वा प्रलाप किया है वह साहित्य संसार का अनूठा रत्न है। उन्माद के जो कृत्य प्रेमियों से बन पड़े हैं उनका प्रदर्शन प्रायः किया जाता है। उन्माद की ओट में ही जुनैद बच रहा और हल्लाज उसका सहारा न लेने से ही प्राणदंड का भागी बना। सूफी अपने को मजनून घोषित करते हैं। उनकी व्याधि की दवा नहीं। प्रियतम के अतिरिक्त उनकी रक्षा अन्य कर ही नहीं सकता। सूफी न तो मरते हैं न जीते, बस सदा उसी प्रियतम को याद करते हैं। याद करते करते समाधि लग जाती है: इनको हाल आ जाता है। हाल की इस दशा में प्रियतम का साक्षात्कार हो जाता है। इस महानिद्रा में जो महामिलन होता है, सूफी उसी को मरण कहते हैं। इसी से मरण का वर्णन सूफी खूब करते हैं। उनका मरना गोर का बास नहीं, प्रियतम का बुलावा है। सूफी सज-धज के साथ पयान करते हैं और उनका प्रेत प्रियतम के कटाक्ष पर कुरबान होता है। यही उनकी उपासना का अंत अथवा मुक्ति है।

सूफियों की जिन दशाओं का वर्णन किया गया है वे विप्रलंभ की दशाएँ हैं। सूफियों की धारणा है कि जीवात्मा परमात्मा के वियोग में व्याकुल है और उसी की वेदना में व्यग्र है। जीव को अपने प्रियतम का पता उसी की कृपा से चला। कभी वह उसके साथ था, उससे प्रतिज्ञाबद्ध हो चुका था; अतः उसको पहचानने में देर न लगी। उसका परिचय तो मिल गया, किंतु वह न मिला। उसी की खोज में सूफी निकल पड़े हैं। खोजते खोजते जब वे थक कर सो जाते हैं तब उनका प्रियतम धीरे से उनके पास आता और संजीवन रस छिड़क कर उनको सचेत कर देता है। उनको इस उद्बोधन से शांति नहीं मिलती, उनका विरह और भी बढ़ जाता है: आग को आहुति मिल जाती है। फिर तो जहाँ कहीं देखते हैं प्रियतम ही का रंग दिखाई देता है। परंतु कभी वह रंगी हाथ नहीं आता। अंत में उनसे कोई कह पड़ता है कि जिसके पीछे तुम मर रहे थे, वह कहीं अन्यत्र नहीं, तुम्हारे ही हृदय में है; जहाँ कहीं तुम देखते हो उसी की झलक दिखाई देती है, पर वह सदा परोक्ष ही रहता है। कारण, जब तुम नहीं होते तब वह हो जाता है और जब वह हो जाता है तब तुम नहीं रहते। फिर वियोग कैसे मिटे? स्वप्न वा समाधि में उसके साक्षात्कार का मुख्य कारण यही है कि इस दशा में तुम अथवा तुम्हारा

अहंभाव नहीं रह जाता। बस वही वह रह जाता है। निदान हम से वह भिन्न नहीं है। हाँ, उससे हम भिन्न अवश्य हो गए हैं। भिन्नता का आवरण उसके प्रसाद से हट जाता है, किंतु तो भी प्रमादवश उसे हम फिर अपना लेते हैं। अस्तु, यदि हम प्रपन्न हो सब कुछ उसी पर छोड़ दें तो वह हमारे आवरण को हटा दे और हम चट उसके अंक में पहुँच जायँ। राग तो हमारा अनादि है ही, बस प्रणय की देर है। प्रणय तो हमारा पुराना है ही, बस अहंकार वा मान का ठेना है। बस खुदी मिटी कि खुदा बने।

प्रियतम के द्वार पर पड़े पड़े युग बीत गए, पर कपाट न खुला। प्रियतम परिचय मांगता है। उसे अपना परिचय न जाने कितने रुपों में दिया जाता है, कितने कृत्यों का निदर्शन किया जाता है, कितने महानुभावों की सनद पेश की जाती है, पर उसका मन नहीं पसीजता। वह यही कहता है कि जगह नहीं। उसका प्रश्न होता है—'कौन' ? उत्तर दिया जाता है—'मैं'। जवाब मिलता है—कहीं और देखो। यहाँ मैं की जगह नहीं। भ्रमण करते करते जब कहीं भी 'मैं' को शरण नहीं मिलती तब उसे ग्लानि होती है कि इस 'मैं' के फेर में मैं क्यों पड़ा। 'मैं' के कारण ही तो मुझको अलग होना पड़ा। यदि 'मैं' न होता तो क्या होता ? इतना सोचना हुआ कि चट वह प्रियतम के द्वार पर पहुँचा। भीतर से ध्वनि उठी—'कौन' ? उत्तर मिला—'तूँ' फिर क्या था, कपाट खुला और आनंद का सागर उमड़ पड़ा। कठोर संसारभी आनंदमय हो गया। उसे 'बक़ा' मिल गई जो 'फ़ना' के बाद ही आती है।

विप्रलंभ में सूफियों के जो विलाप होते हैं उनमें इस बात की आशा बराबर बनी रहती है कि हमारी संवेदना महामिलन का विधान कर हमको प्रियतम का शाश्वत सुख प्रदान करेगी। यही कारण है कि वियोग की दशा में कभी कभी स्वप्न में ही सही, प्रियतम के साक्षात्कार तथा उसके स्पर्श का सुख मिलता रहता है। यदि चरम संयोग के महासुख का आस्वाद सर्वथा अगोचर रहे तो प्राणी भूलकर भी उसके लिये प्रयत्न न करे। उसके लिये यातना की तो बात ही क्या ? सूफी तो यह समझते ही हैं कि लौकिक संभोग उस अलौकिक रसनिधि का एक छींटा

है जो लुभाने के लिये आनंद के उत्कर्ष में दे दिया जाता है। सूफी 'वस्ल' की कामना उसी के आधार पर करते हैं। वस्ल में प्रेमी और प्रिय का भाव पूरा पूरा बना रहता है, उसमें अद्वैत का भान ही भर हो पाता है। सूफी वस्ल से आगे बढ़कर 'जिमाअ' (संपृक्त) का आनंद लेते हैं। जिमा में प्रेमी और प्रिय का समन्वय हो जाता है। किसी का अभिमान नहीं रह जाता। उसका स्वरूप सायुज्य सा हो जाता है, कैवल्य नहीं। कारण कि भावना के क्षेत्र में द्वैत का सर्वतः लोप नहीं हो सकता, उसका कुछ न कुछ भाव रहता ही है।

सूफियों को अद्वैत का आभास वासना तथा प्रज्ञा के द्वार से मिलता है। रति का व्यायाम करते करते किंवा विरह जगाते जगाते जब सूफी मूर्छित हो जाते हैं तब उनको इस तथ्य का पता लग जाता है कि उनका प्रियतम उनसे अभिन्न है। सूफी इस दशा को 'सुक्र' (उन्माद) कहते हैं। सुक्र की एकता प्रेम-मद की दशा की एकता है, वह किसी प्रज्ञान पर अवलंबित नहीं है। चेतना के आने से जब चित्त ठिकाने आ जाता है तब फिर पुरानी बातें सामने आने लगती हैं। उनका समाधान करते करते चित्त की वह वृत्ति हो जाती है जिसमें उसके सभी प्रश्नों का समन्वय हो जाता है और उसकी अनुभूति इतनी पक्की पड़ जाती है कि किसी प्रकार के तर्क-वितर्क से उसकी निष्ठा में बाधा नहीं आती। सूफी इसी को 'शह्व' कहते हैं। 'शह्व' को ज्ञान और 'सुक्र' को भक्ति की दशा कह सकते हैं।

प्रियतम के मार्ग में जो अंतराय आते हैं, जो व्यवधान पड़ते हैं, उनसे साधक में अनेक भावों का संचार होता रहता है। मन की चंचलता प्रसिद्ध ही है। संसार की हवा लगने से मानस में न जाने कितनी तरंगों का संचार होता है, जिनसे अंतः-करण के रंग बदलते रहते हैं। सूफियों के मानस में जो भाव उठते हैं, उसमें जो वेग काम करते हैं और उनसे जो वृत्तियाँ जागती हैं उनकी अवहेलना हो नही सकती। जन सामान्य की रति से सूफियों की अलौकिक रति की रचना इन्हीं तरंगों के आधार पर होती है। रति में हम 'अहं' का त्याग तो करते हैं, किंतु उसका संस्कार बना ही रहता है। प्रियतम की प्राप्ति में हमारे गर्व का ध्वंस हो जाता है और हम दीन बन जाते हैं। संसार के भोग-विलास से जब हम तुष्ट नहीं होते और

बार बार विवश होकर उसी की ओर बढ़ते औ क्षुब्ध हो कष्ट भोगते हैं तब हमें कुछ निर्वेद सा हो जाता है और अपनी दशा में शांति नहीं मिलती। हम ग्लानि में पड़ जाते हैं। यदि हमारी यह स्थिति न होती तो शायद हम परम प्रेम की ओर न मुड़ते और सदा विषय-वासना में ही लीन रहते। यदि हमें अपनी चिंता अथवा भविष्य के अमंगल की आशंका न होती तो हम किसी की शरण न लेते। यदि हमें जीवन का मोह, काल का त्रास, मरण का शोक आदि न होता तो हम कब किसी को याद करते! सूफियों ने प्रेम के सहारे प्रियतम के मार्ग में प्रस्थान जो किया तो उनको अन्य भावों का भी प्रबंध करना ही पड़ा।

स्वप्न का इसलाम में बड़ा महत्त्व है। वह साक्षात्कार का उत्तम साधन समझा जाता है। स्वप्न की दशा में प्रियतम की जो झलक दिखाई देती है, अपस्मार की परिस्थिति में जो उसका आलोक प्रतीत होता है, उन्माद में जो दिव्य शक्ति दर्शन देती है, प्रेम-मद में जो उमंग उठती है, प्रियतम की जो स्मृति बनी रहती है, निद्रा में जो उसका स्पर्श होता है उसके सहारे हम प्रियतम के प्रसाद का पात्र बनते और उसकी ओर खींचते जाते हैं। हमारी इस मति का प्रवर्त्तक, इस उत्सुकता का विधाता और इस उत्कंठा का नायक एकमात्र वही है जिसके प्रेम में हम विकल हैं। हम देखते हैं कि अन्य भी उसकी कृपा के पात्र हो रहे हैं और उन पर उसकी विशेष दृष्टि है। बस हम अमर्ष, ईर्ष्या, असूया आदि भावों के शिकार हो जाते हैं और विषाद में पड़ जाते हैं। हमारे आवेग का ठिकाना नहीं रहता, हम उग्र हो जाते हैं। हमको पता चलता है कि हम उसके प्रेमी नहीं, हम तो उसकी विभूति के भूखे हैं। बस हम क्षुब्ध हो जाते हैं और व्रीडा हमें आ घेरती है। फिर हमें विबोध होता है कि हमारी संकीर्णता हमें इस प्रकार प्रियतम से अलग करना चाहती है, नहीं तो वास्तव में तो सब कुछ उसी का खेल है। हम हर्ष से फूल उठते हैं और चपलता के साथ उसीमें तल्लीन होना चाहते हैं। हमें प्रियतम मिल जाता है।

सूफियों के मानस में चाहे जितने भाव उठें, चाहे जितनी दशाओं का उन्हें स्वागत करना पड़े, पर आदि से अंत तक सदा, सर्वथा, सर्वत्र उन्हें प्रेम-सागर में

निमग्न रहना है। सूफियों के प्रेम में एक बात विचारणीय है। उनकी भक्ति-भावना मादन भाव की होती है तो उनका स्थायी भाव रति ही है जिसका आलंबन अल्लाह है। इसलाम में अल्लाह यह नहीं देख सकता कि उसके बंदे उसे छोड़कर और किसी से प्रेम करें। अतः अल्लाह के बंदों में भी इस प्रकार की असूया का आभास आश्चर्य की बात नहीं। सामान्य प्रेम में भी प्रेमी अपने को उत्सर्ग कर देता है, प्रिय का सेवक बन जाता है, उसी के इशारे पर चलता है; किन्तु तो भी यह नहीं देख सकता कि उसके अतिरिक्त किसी अन्य का संबंध भी उससे हो और वह चुप-चाप सेवा में लगा रहे। फलतः सूफी भी रकीबों को देख कर जल भुनते हैं और उस को साझी समझ कोसते रहते हैं। उनका यह 'डाह' देखने के योग्य होता है।

सूफियों की भक्ति-भावना में प्रणिधान का अर्थ दास्य हो गया है। यह इसलाम का प्रधान भाव है। सूफी परमेश्वर के प्रेमी दास हैं। उनके प्रेम में आवेग, मद, उन्माद, मूर्छा और मरण आदि भावों का व्यापक प्रसार है। उनमें मादन का तीक्ष्ण आलोडन है। तड़प, हाहाकार आदि सूफियों की भक्ति में भरे पड़े हैं। उनमें उद्वेग है, आवेश है, अमर्ष है, ईर्ष्या है। उनमें भावों की उग्रता अधिक है मृदुता कम। मंद, मंथर और शांत भावों की कमी चित्त की कोमल वृत्ति को चोट पहुँचाती है तो, पर सूफियों को कोमल संसार में रहना कब पड़ा जो इसका ध्यान रख सकते! भाव भी तो परिस्थिति से ही रंग पकड़ते और कोमल तथा उग्र रूप में व्यक्त होते रहते हैं?

८. अध्यात्म

अध्यात्म आत्मचिंतन का परिणाम है, किसी संदेश वा आदेश का अंग नहीं। आदेशके आधार पर टिकने वाले धर्म किंवा संदेश के आश्रय में पलने वाले मत कभी अध्यात्म का सृजन नहीं कर सकते। वे अधिक से अधिक किसी अव्यक्त सत्ता की झलक दिखा सकते हैं, उसका प्रतिपादन नहीं कर सकते। जो लोग इस तथ्य से भलीभाँति परिचित हैं उनकी समझ में यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि शामी जातियों में किसी अध्यात्म के विकास के लिये कितना स्थान था और उसके उदय तथा प्रसार में उनका कितना योग था। सूफीमत के प्रकांड पंडित एवं इसलाम के सच्चे सपूत भी इस बात से मुकर नहीं सकते कि अरब स्वभावतः अध्यात्म के प्रेमी नहीं थे। उनका ध्यान तत्त्वचिंतन से कहीं अधिक संग्राम पर रहता था। शस्त्र को वे शास्त्र से अधिक महत्त्व देते थे। स्वयं मुहम्मद साहब की सफलता शस्त्र पर अवलंबित थी, कुछ शास्त्र पर नहीं। हम नहीं कहते कि अरब अथवा इसलाम में किसी अध्यात्म की योग्यता ही न थी। नहीं, हमारा कहना तो यह है कि अरब अध्यात्म-व्यवसायी न थे। सामान्य मानव भावभूमि की एकता में तो किसी को संदेह नहीं; पर मनोवृत्तियों की एकता प्रकृति की समता पर निर्भर होती है। यूनान, भारत, प्रभृति आर्य देशों की प्रकृति अरब, शाम प्रभृति भूखंडों से सर्वथा भिन्न है। जैसे शामी जातियों को शांति की चिंता थी वैसे ही आर्य भी शांति-पाठ करते थे, किंतु दोनों का लक्ष्य एक न था। एक की शांति-कामना एकदेशीय और बाहरी थी तो दूसरे की सार्वभौम और भीतरी। एक शांत समाज चाहता था तो दूसरा शांत चित्त। यही कारण है कि शामी जातियों का आधिदैवत तो अत्यंत पुष्ट है किंतु उनका अध्यात्म ऊपर से पैबंद सा जुड़ा जान पड़ता है। यहूदी, मसीही, मुहम्मदी क्या, एक भी शामी अध्यात्म इतना स्वतंत्र और पुष्ट नहीं है कि हम उसको उसीके आधार पर खड़ा कर सकें। फीलों, क्लेमेंट, जिली आदि विद्वानों की कौन कहे, स्वयं मूसा, ईसा

और मुहम्मद भी आर्य-संस्कृति से अछूते न बचे थे। यूहन्ना और हल्लाज ने तो प्रत्यक्षतः उसीका पल्ला पकड़ा। कहना न होगा कि उन्हीं के आधार पर मसीही और इसलामी अध्यात्म आगे बढ़े और धीरे धीरे स्वतंत्र अध्यात्म बन गए।

मीमांसकों ने चोदना[1] को धर्म का लक्षण माना है। इसलाम इस लक्षण का पक्का पाबंद है। उसका मूलमंत्र इसी पर अवलंबित है। अल्लाह के अतिरिक्त अन्य देवता नहीं और मुहम्मद उसका दूत, यही तो इसलाम की दीक्षा है? इसके अनुष्ठान में जो कर्मकांड विहित है उनमें अध्यात्म का प्रवेश नहीं। उनको तो विधि का सीधा पालन कहना चाहिए। रही इसलाम के मूलमंत्र अथवा दीक्षा की बात। सो वास्तव में उसके दो पक्ष हैं—प्रथम अल्लाह और द्वितीय मुहम्मद। इन्हीं दो पक्षों पर इसलाम ठहराया गया है। मुहम्मद के दूतत्व का अभिप्राय ही चोदना वा आदेश है। इस आदेश वा अनुशासन की प्रेरणा बाहरी है भीतरी कदापि नहीं। इसमें मानने की विधि है सोचने का विधान नहीं। अल्लाह की अनन्यता भी कुछ इसी ढंग की है; भीतर से उसका सीधा संबंध नहीं। किसी दैवी आज्ञा के कारण अल्लाहके अतिरिक्त किसी अन्य देवता को न मानना एक बात है और गहरे आत्म-चिंतन के फलस्वरूप किसी अन्य सत्ता को स्वयं स्वीकार न करना उससे सर्वथा भिन्न, दूसरी बात। प्रथम इसलाम है तो द्वितीय तसव्वुफ। इसलाम यह नहीं कहता कि अल्लाह के अतिरिक्त और कोई सत्ता नहीं। उसकी दृष्टि में तो अल्लाह के अतिरिक्त महाभूत, फरिश्ते, जिन्न आदि अन्य सत्ताएँ भी हो सकती हैं और हैं भी, पर वे विश्व के अधीश्वर या उपास्य नहीं। उधर तसव्वुफ का कहना है कि परमात्मा के अतिरिक्त और कोई परम सत्ता हो ही नहीं सकती। सृष्टि में जो कुछ गोचर होता है सब परमात्मा का ही व्यक्त रूप है, कुछ और नहीं।

सूफियों में अध्यात्म का विकास चाहे जिस ढब से हुआ हो, पर उसके चलने का मार्ग सदा इसलामी रहा है। हम उस तसव्वुफ को तसव्वुफ भले ही कह लें जिसमें अल्लाह एवं उसके रसूल की उपेक्षा हो, पर सूफी उसको सच्चा अथवा

---

(१) चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः (जै० सू० १. १. २)।

साधु तसव्वुफ तो मानने से रहे। कारण, किसी मत के प्रति उदार होना एक बात है और उसको ग्रहण कर लेना उससे भिन्न सर्वथा दूसरी बात। सूफी अन्य मार्गों से सहानुभूति इसलिये नहीं रखते कि वे उनको अपनाने के पक्ष में हैं, प्रत्युत इसलिये रखते हैं कि उनका लक्ष्य भी प्रकारांतर से वही है जिसके वियोग में वे स्वतः तड़पते और जिसकी खोज में स्वयं तत्पर होते हैं। यही कारण है कि सूफियों के सरस अध्यात्म में भी मुहम्मद साहब के नाना रूप दिखाई देते हैं और अंत में उन्हें साकार अथवा शंकर के 'ईश्वर' की प्रतिष्ठा प्राप्त हो जाती है। महमूद गजनवी के सिक्के पर तो 'मुहम्मद' को 'अवतार' ही लिखा गया है—"अव्यक्तमेकं मुहम्मद अवतार नृपति महमूद।" है न यही बात ?

जो हो, उपनिषदों का अध्यात्म[1] ब्रह्म और आत्मा को लेकर आगे बढ़ा। उन्हीं के समन्वय में वह लीन रहा। ऋषियों ने वेद को अपरा[2] की उपाधि दे कर्मकांडों को गौण ठहराया। उन्होंने आत्मा को सर्वथा मुक्त कर, उसके सच्चे स्वरूप का निदर्शन कर जिस अद्वैत का प्रतिपादन किया उसमें किसी प्रकार का भी भेद-भाव न रह गया। यदि संसार के सभी अद्वैती इतिहास पर ध्यान दिया जाय तो व्यक्त हो जाता है कि सर्वत्र उसका समादर पूर्णतः नहीं तो अंशतः अवश्य हुआ है। इसका प्रमुख कारण मनुष्य मात्र की सामान्य भाव-भूमि पर पहुँचने की सहज प्रवृत्ति ही कही जा सकती है; परन्तु इसी के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता है कि एक देश के अद्वैत का दूसरे देश के अद्वैत पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। भावना की पद्धति एक होने पर भी उसके प्रतिपादन की प्रणाली, उसके निरूपण की रीति एवं उसके विवेचन के रंग-ढंग से उसके बाहरी प्रभाव का पता लगाया जा सकता है। अतएव सूफियों के अध्यात्म को जो लोग वेदांत का प्रसाद अथवा नव-अफलातूनी मत का फल समझते हैं, उनकी धारणा दुष्ट नहीं कही जा सकती। यद्यपि कभी-कभी उनकी दृष्टि सामान्य भावभूमि की अवहेलना कर कुछ अनर्थ अवश्य कर देती है तथापि यह मानना ही पड़ता है कि हो न हो तसव्वुफ में कुछ बाहर की टीप अवश्य है।

---

(१) विचार के लिए देखिए 'दी थर्टीन प्रिंसिपल उपनिषद्स' की भूमिका।
(२) मंडूकोपनिषद्, प्र० मुं०, १–५।

मुहम्मद साहब के निधन के उपरांत मुसलिम समुदाय में 'ईमान', 'इसलाम' एवं 'दीन' के संबंध में जो प्रश्न उठे उनका समुचित समाधान सहज न था। उनसे सब से बड़ी बात तो यह उत्पन्न हुई कि मुहम्मद साहब के व्यक्तित्व तथा कुरान की परस्पर उलझन के कारण इसलाम में तर्क को स्थान मिला। इसलाम को 'तौहीद' का गर्व था। मुसलमान समझते थे कि तौहीद का सारा श्रेय मुहम्मद साहब को ही है। परंतु मनुष्य मननशील प्राणी है। उसका बुद्धि सहसा शांत नहीं होती। जिज्ञासा के उपशमन के लिये उसे छानबीन करनी ही पड़ती है। सो मनीषियों ने देखा कि इसलाम का अल्लाह एक परम[1] देवता से किसी प्रकार आगे नहीं बढ़ सकता। उसके अतिरिक्त अन्य देवता सेव्य नहीं है सो तो ठीक है, पर अन्य सत्ताएँ तो हैं? फरिश्तों की बात अभी अलग रखिए। स्वयं मुहम्मदसाहब की वास्तविक सत्ता क्या है? इंसान और अल्लाह से उनका क्या संबंध है? अब ऐसे ऐसे विकट परंतु सहज और सच्चे प्रश्नों का समाधान तौहीद के प्रतिपादन के लिये अनिवार्य था। ऋषियों के संमुख जिस प्रकार आत्मा और ब्रह्म के समन्वय का प्रश्न था उसी प्रकार सूफियों के सामने अल्लाह और मुहम्मद के संबंध का। निदान उनमें भी चिन्तन का प्रवेश हो ही गया।

परंतु कुरान में अल्लाह और मुहम्मद का संबंध बहुत कुछ स्पष्ट था। अल्लाह वस्तुतः एक अद्वितीय अधिपति थे तो मुहम्मद उनके अन्तिम और प्रिय दूत। अंतिम रसूल उसके आदेश पर ही तो चल रहे थे? हाँ, अन्य रसूलों से उनमें इतनी विशेषता अवश्य थी कि उनका नाम भी अल्लाह की उपासना का अंग बन गया था। परंतु ज्ञानी सूफी तो इसलाम को इस आदेश भूमि से उठाकर किसी उच्च सात्त्विक आधार पर खड़ा करना चाहते थे। उधर मसीहियों ने मसीह को जो रूप दे दिया था वह कोरे विश्वास पर ही निर्भर न था। उसमें दर्शन का भी पूरा पूरा योग हो गया था। यूहन्ना अथवा चौथे सुसमाचार के मसीह वस्तुतः एक अलौकिक व्यक्ति हैं। उनका संबंध परमपिता परमात्मा से इतना घनिष्ट तथा औरस कर दिया

---

(१) दी मुसलिम डाक्ट्रिन आव गाड, पृ० २१।

गया है कि वे सृष्टि के प्रधान अंग हो गए हैं। उनकी देखादेखी मुहम्मद के उपासकों अथवा इसलाम के अनुयायियों ने मुहम्मद साहब को जो रूप दिया वह अल्लाह का कनिष्ठ रूप हो गया और किसी प्रकार भी केवल दूत वा संदेशवाहक तक ही सीमित न रह सका। तर्क एवं दर्शन के द्वारा मसीह की भांति ही मुहम्मद को भी अल्लाह का अंग बनाया गया। मुहम्मद साहब के इस उत्कर्ष में मसीही मत का जो हाथ रहा उसका उल्लेख प्रायः किया जाता है। दमिश्क के जान (मृ० ८४२) को उसका बहुत कुछ श्रेय दिया जाता है, परंतु विवेचन की जिस पद्धति का यहाँ समादर हुआ है उसके अनुसार इस उत्कर्ष की मूल प्रेरणा किसी आर्य-दर्शन से ही मिल सकती है। आर्यों में दूत का विधान नहीं है। उनकी दृष्टि में जीव, जगत् और ईश्वर का प्रश्न रहता है, कुछ किसी रसूल वा वंश विशेष का नहीं। साथ ही उनमें अवतार की जो भावना है उससे एक ओर तो रसूल का काम पूरा हो जाता है और दूसरी ओर जीवात्मा और परमात्मा का समन्वय भी बड़ी सरलता से सध जाता है। उन्हें किसी रसूल वा मध्यस्थ की आवश्यकता नहीं होती और 'पुत्र' का पवित्र काम भी स्वयं पिता ही कर लेता है। अर्थात् स्वयं आता, किसी को भेजता नहीं है।

हाँ, तो मुहम्मद साहब की वास्तविक सत्ता अल्लाह पर निर्भर थी। अल्लाह के उत्कर्ष के साथ ही रसूल का उत्कर्ष भी ठीक उसी प्रकार होता रहा, जिस प्रकार जल के साथ जलज का होता है। किन्तु कठोर इसलाम में अल्लाह की जो भावना थी वह तसव्वुफ में ठीक उसी रूप में बनी न रह सकी। सूफियों ने चिंतन, अनुशीलन अथवा अनुकरण के आधार पर अल्लाह के जिस स्वरूप का दर्शन किया उसके भीतर सृष्टि और मुहम्मद किंवा जगत् और जीव की उलझन भी कुछ सुलझी हुई दिखाई पड़ी। इसलिये सबसे पहले अल्लाह की भावना की परीक्षा की गई।

अच्छा, तो हम अल्लाह के विषय में पहले ही कह चुके हैं कि वह वास्तव में एक परम देवता था। इसराएल की संतानों में जो स्थान यहोवा का था वही इसमाईल के वंशजों में अल्लाह का। अल्लाह के जो नाम कुरान में आये हैं और

उसकी ओर से जो संदेश अरबों पर उतरे हैं उनके परितः परिशीलन से स्पष्ट होता है कि कुरान का अल्लाह साकार है, सगुण है और शाश्वत है। अल्लाह के आकार का विवरण तो इसलाम में भी कभी कभी मिल जाता है[1]। 'तजसीम' शब्द इसीका द्योतक है। स्वयं कुरान में अल्लाह के हाथ, नेत्र आदि की चर्चा है। जिन मनीषियों की पैनी दृष्टि में तजसीम का विधान खटका उन्होंने 'तंजीह' के आधार पर अल्लाह को अपवाद मान लिया। मीमांसकों में अल्लाह के स्वरूप के संबंध में जो वाद चले उनका परिणाम सूफियों के लिये अच्छा ही रहा। अवसर पाते ही सूफियों ने विवेक के आधार पर अल्लाह को वह रूप दिया जो इसलाम के प्रचलित स्वरूप से सर्वथा भिन्न हो गया है। सूफी 'तजसीम' और 'तंजीह' के फेर में न पड़े। उनके सामने तो 'ज़ात' और 'हक़' का प्रश्न था। मुसलिम धर्म-शास्त्रों में इस बात पर विशेष ध्यान दिया गया है कि कयामत के दिन अल्लाह का साक्षात्कार किस रूप में होगा। पर विज्ञ सूफियों की दृष्टि में कयामत कोई ऐसी ठोस चीज नहीं जिसके पहले अल्लाह का साक्षात्कार किसी को किसी दशा में होता ही नहीं। नहीं, उन्होंने तो डट कर सिद्ध किया कि अल्लाह वस्तुतः अंतर्यामी है और उसका सिंहासन भी हृदय ही है। हृदय को सदा स्वच्छ रखने से उसीमें उसका प्रतिबिम्ब बराबर पड़ता रहता है और इस प्रकार हम उसके वास्तविक स्वरूप से बराबर परिचित होते रहते हैं।

अस्तु, कुरान में अल्लाह के जिस साकार स्वरूप का विवरण था उसके आधार पर उसकी वास्तविक सत्ता का परिचय दिया गया। परन्तु इस प्रकार अल्लाह किसी स्थल विशेष का निवासी कब तक सिद्ध किया जा सकता था? स्वयं कुरान में ऐसे वाक्यों का अभाव न था जिनमें कहा गया था कि अल्लाह पूर्व-पश्चिम उत्तर-दक्षिण क्या, सर्वत्र निवास करता है। जिधर देखो उधर उसका मुख है।

---

(१) मूर्तियों का विध्वंस करनेवाला महमूद गजनवी करामी संप्रदाय का भक्त था। अल्लाह के साकार स्वरूप में उसकी पूरी आस्था थी और वह जन्नत में अल्लाह का प्रत्यक्ष दर्शन चाहता था।

वह तो हमारे निकटतम है[१]। प्रकृत उद्गारों का मूलमंत्र चाहे कुछ भी हो, पर उनसे इतना तो प्रकट ही है कि अल्लाह की यह व्यापकता उसको देशकाल से मुक्त कर देती है। अब इसमें तनिक भी संदेह नहीं रहा कि इस प्रकार विज्ञ सूफ़ियों को कुरान में ही अल्लाह के व्यापक और अंतर्यामी स्वरूप का संकेत मिल गया और वे उसीको सत्य समझ उसके वास्तविक स्वरूप का निदर्शन, कुरान के समस्त पदों की संगति बैठा, व्यंजना के आधार पर करने लगे। तो भी उनके चिंतन का मार्ग स्वतंत्र न था। वे अन्यत्र से सामग्री लाते थे फिर भी कहते यही थे कि उनके अध्ययन का आधार स्वयं कुरान ही है और वस्तुतः उन्हींका मत कुरान का असली मत भी है। कुरान भी किसी प्रकार प्रत्यक्ष या परोक्ष सीधे या व्यंग्य रूप से उनके मत के अनुकूल अर्थ दे देती और हदीस से तो उन्हें पूरी सहायता ही मिलती थी। कारण कि उसकी कहीं इति न थी। वह नित्य-प्रति गढ़ी जा रही थी और सभी उससे अपना इष्ट साध रहे थे।

कुरान में अल्लाह के जिन गुणों का विशद वर्णन किया गया था, सूफ़ियों ने उनका विश्लेषण किया तो उन्हें स्पष्ट हो गया कि उनमें से कुछ तो उसकी सत्ता से संबंध रखते हैं और कुछ उसके शासन या व्यापार से। उनको सूझ पड़ा कि इस प्रकार अल्लाह के गुणों को किसी पद्धति पर विभाजित कर लेना उसके स्वरूप के विवेचन में सहायक होगा। निदान जिली[२] ने उनको चार भागों में विभक्त कर दिया। उसने देखा कि अल्लाह की एकता, नित्यता, सत्यता का उसकी सत्ता से संबंध है, अतः उनको उसकी 'ज़ात' का गुण कहना चाहिए; उदारता, क्षमा आदि गुणों से उसके माधुर्य का बोध होता है, अतः उनको उसके 'जमाल' का द्योतक मानना चाहिए, और शक्ति, शासन आदि गुणों से उसके ऐश्वर्य का ज्ञान होता है, अतः उनको उसके 'जलाल' का बोधक समझना चाहिए, एवं

---

(१) दी अर्ली डेवेलपमेंट आव मोहम्मेडनीज्म, पृ० ११९।

(कुरान,२-१८२, ५०-१५, ५१-२०-२१, २-१०९।)

(२) स्टडीज़ इन इसलामिक मिस्टीसीज्म, पृ० १००।

बाह्य और आभ्यन्तर, प्रथम और अंतिम आदि विरोधी गुणों से उसकी अद्भुतशक्ति का भान होता है, अतः उनको उसके 'कमाल' का गुण कहना चाहिए। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिली ने अल्लाह के समस्त गुणों को सचमुच 'जात', 'जमाल', 'जलाल' और 'कमाल' में विभक्त कर दिया जिन्हें हम क्रमशः 'सत्ता', 'माधुर्य', 'ऐश्वर्य' तथा 'अद्भुत' के रूप में देख सकते हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं कि जिली के उक्त गुणों के विवेचन में दो पक्ष हैं—अल्लाह और इंसान वा जीव। अल्लाह और जीव के संबंध का आभास जमाल एवं जलाल में मिलता है। निदान कुरान वा इसलाम में इन्हीं गुणों पर विशेष ध्यान दिया गया है। 'जात' एवं 'कमाल' की पूरी व्याख्या इसलाम में नहीं मिलती। हृदय के लिये अल्लाह का जमाल या जलाल पर्याप्त है; उनमें उसके राग-द्वेष की विधि है, पर मस्तिष्क या बुद्धि के लगाव के लिये 'जात' एवं 'कमाल' का निरूपण आवश्यक है। अल्लाह के जमाल और जलाल को ले कर भावना किस पद्धति पर चली और उनके द्वारा राग तथा विराग का कैसा परिपाक हुआ आदि प्रश्न जो आप ही उठ पड़ते हैं तो कुरान में उन कृत्यों का विधान भी मिल जाता है जिनके पालन अथवा उल्लंघन से व्यक्ति जमाल या जलाल का पात्र बनता है। किंतु उसमें अल्लाह की जात और उसके कमाल का पक्का विधान नहीं मिलता। अल्लाह की एकता, नित्यता और सत्यता से हमारा क्या संबंध है? इसका विचार कुरान में कहाँ है? क्या हम भी अल्लाह की भाँति ही एक, नित्य और सत्य हैं? हमारे भी एकता, नित्यता, सत्यता आदि गुण हैं? इसलाम इस विषय में या तो मौन रह जाता है या निषेधात्मक उत्तर देता है। कमाल के विषय में भी यही बात है। निदान, 'जात' और 'कमाल' के निरूपण में सूफियों ने कमाल किया और कुरान के कथित संकेतों के सहारे इसलाम में वास्तविक अध्यात्म का प्रसार किया। 'अन-अल्-हक़्क्' इसीका परिपाक ही नहीं अपितु साक्षी भी है।

जीव हक बना और अपने को सत्य प्रतिपादित करने लगा। प्रश्न उठा कि नाना प्रकार के दृश्य जो उसके सामने उपस्थित हैं और उसके आगे-पीछे, इधर-उधर पड़े दिखाई देते हैं, उनकी वास्तविक सत्ता क्या है? अल्लाह और जीव की

अभिन्नता तो ठीक, पर इस जगत् की क्या दशा है ? उसका अल्लाह और जीव से क्या संबंध है ? सो कुरान के सामने तो इन प्रश्नों की उलझन थी ही नहीं। मुहम्मद साहब को तो सीधे नियत आदेश का प्रचार भर करना था, और सुनाना था अल्लाह का संदेश। फिर उनके कट्टर अनुयायियों के लिये भी इतना ही पर्याप्त क्यों न होता कि अल्लाह मालिक है, कर्त्ता है सब कुछ है। उसके 'कुन' मात्र से जब सारी सृष्टि हो गई तब फिर भला उसकी इच्छा मात्र से उसका लोप भी क्यों नहीं हो जायगा ? पर सूफियों को इतने से ही संतोष कहाँ ? उनके सामने तो जगत् का भी प्रश्न बना है। अंत में विवश हो उन्हें उसके भाव-अभाव, उपादान, निमित्त आदि का विचार भी करना ही पड़ता है। फिर भी, उनकी मीमांसा उतनी स्वच्छ और प्रांजल नहीं हो पाती जितनी वेदांतियों की होती है। बात यह है कि उनको उन घोर परिस्थितियों का भी सामना करना तथा उन प्रश्नों का भी समाधान करना होता है जो इसलाम के अंग बन गए हैं और जिनकी उपेक्षा किसी भी दशा में प्राण-दंड से कम नहीं होती। निदान तसव्वुफ में वेदान्त का तेज कहाँ ? हाँ, तो सूफियों को जिस विकट परिस्थिति में अद्वैत का प्रतिपादन करना था वह वेदांतियों के देशकाल से सर्वथा भिन्न थी। माना कि वेदांती भी श्रुति के पक्षपाती हैं; पर उनको प्राणदंड का तो भय नहीं ? ऋषियों ने कर्मकांड की गणना 'अपरा'[1] के भीतर कर साधना के क्षेत्र में जिस परा विद्या का विधान किया उसके प्रसाद से वेदांतियों की सारी बाधाएँ दूर हो गईं और वे स्वच्छ तथा निर्मल बुद्धि-व्यवसाय के लिये सर्वथा स्वतंत्र हो गए। तभी तो नास्तिकों की वेद-निंदा के विरोध में वेदांतियों के जो आंदोलन उठे उनमें ज्ञान की पूरी प्रतिष्ठा हो सकी और वे ज्ञान के द्वारा उन्हें परास्त करते रहे कुछ फरमान फतवा वा दंड के द्वारा नहीं। उधर कुरान भी जन्म से अपौरुषेय है। किंतु उसमें विभूतियों का निदर्शन नहीं, अल्लाह के संदेश और मुहम्मद के दूतत्व का विधान है। उसके संकीर्ण और विहित मार्ग में मीनमेष की आज्ञा नहीं। अतः उसकी सनद के बिना किसी मत का प्रदर्शन किया नहीं जा सकता। उसके आलोचकों की कुशल नहीं।

---

(१) मुंडकोपनिषत्, प्र० मु० ३-५०।

निदान, सूफियों को एक निहायत तंग और संकुचित गली से आगे बढ़ना पड़ा। कहने को तो तसव्वुफ में भी जीव, जगत् और ईश्वर की व्याख्या होती रही, किंतु अधिकतर उसमें ईश्वर की ही बात रही। इंसान अपने को हक समझ कर शांत हो गया तो उसका ध्यान जगत् पर बहुत ही कम गया। यद्यपि वेदांत में भी जगत् पर उतना ध्यान नहीं दिया गया है जितना आत्मा या परमात्मा पर तथापि उसमें जगत् की अच्छी और पूर्ण मीमांसा हुई है। हाँ, मध्व के सिद्धांत में द्वैत का अर्थ है जीव और ईश्वर एवं ईश्वर और जगत् की द्वैतता। पर वस्तुतः है इस द्वैत के नामकरण का मूल कारण एक तो जीव और ईश्वर की द्वैतता और दूसरे शंकर के अद्वैत का विरोध। अन्यथा वास्तव में प्रकृति और पुरुष का पक्षपाती सांख्य ही द्वैत का सच्चा प्रतिपादक कहा जा सकता है। मध्व के द्वैतवाद के प्रमाण पर सूफियों की जगत् की उपेक्षा कुछ क्षम्य हो जाती है, किंतु इससे उनके अध्यात्म की पूर्णता तो नहीं सिद्ध हो जाती? उपनिषदों में ब्रह्म और आत्मा के समन्वय में वास्तव में जिस अद्वैत का निरूपण किया गया है उसमें ईश्वर नाम की परम सत्ता नहीं है। पर सूफियों के सामने सब से बड़ी अड़चन सदा यही रही कि उनको अल्लाह से ही अपने अध्यात्म का आरंभ करना होता है। फलतः वह बहुत कुछ एकांत और अद्वैत भाव तक ही सीमित रह जाता है और उसमें अद्वैतवाद का प्रौढ़ प्रतिपादन खुल कर नहीं हो पाता। इमाम गजाली[1] का कहना है कि ईश्वर का ज्ञान बिना जगत् पर विचार किए ही हो जाता है। सामान्यतः इसलाम ने उसकी बात मान भी ली है; परन्तु अपनी तात्त्विक दृष्टि की प्रधानता के कारण अरबी[2] (मृ० १२९३) ने गजाली की इस प्रतिज्ञा में दोष निकाला है। उसका कहना है कि जगत् की उपेक्षा करने से ईश्वर का बोध नहीं हो सकता। ईश्वर परम सत्ता नहीं; एक उपास्य देवता है, अतः उसकी उपासना के लिये किसी उपासक का होना अनिवार्य है। जगत् की सत्ता को अस्वीकार

---

(१) स्टडीज इन इसलामिक मिस्टीसीज्म, पृ० १५०।

(२) ,, ,, ,, , पृ० १५०।

करने पर किसी उपास्य की उद्भावना कैसे हो सकती है? हाँ, परम तत्व की स्थापना की जा सकती है। कहने की बात नहीं कि अरबी की बातें यद्यपि विवेक और तर्क पर अवलंबित हैं तथापि उनसे जिली को संतोष न हो सका[1]। उसने इसलाम की प्रबल प्रेरणा से गज्जाली का पक्ष लिया और अरबी के पश्नों के समाधान की चेष्टा और उसके आक्षेपों के निराकरण का प्रयत्न बहुत कुछ उसी ढंग पर किया जिस ढंग पर रामानुजाचार्य ने शंकराचार्य के आक्षेपों का समाधान किया था। किन्तु रामानुज ने शंकर का विरोध वहीं तक किया जहाँ तक उनकी दृष्टि में अद्वैत से भक्ति-भाव का विरोध था। परंतु जिली ने तो अरबी का खंडन यहाँ तक कर दिया कि उसके मत में सम्यक् ज्ञान का अभाव और इसलाम का पूरा प्रसार फूट पड़ा। जिली ने अल्लाह के स्वभाव का जो परिचय दिया उसमें 'ईमान' का पूरा पूरा योग है। उसकी दृष्टि में[1] इलाह ही परम सत्ता है। 'अहद','वाहिद','रहमान' और 'रब्ब' इसी का क्रमिक विकास अथवा अवतरण है। विचारने की बात है कि 'इलाह' अहद से भी पहले किस प्रकार से रह सकता है; क्योंकि उसमें तो हक के साथ ही खल्क का भाव भी निहित है। उसके प्रतिपादन के लिये 'मलहूम' (सेवक) जरूरी है। जिली स्वतः इस उलझन को स्वीकार करता है, किंतु इसलाम की रक्षा और भक्ति-भावना की तुष्टि के लिये तर्क का प्रयोग विपरीत दिशा में करता है। भक्तों के भगवान् सदा से परात्पर रहते और उपास्य बनते आ रहे हैं, अतः जिली के इस विवेचन में कुछ अनोखी बात नहीं। कृष्णभक्तों ने भी तो कृष्ण को उसी रूप में अंकित किया है जिस रूप में जिली 'इलाह' का उल्लेख कर रहा है? अस्तु जिली का इलाह वेदांतियों का ईश्वर कहा जा सकता है। उसके इस इलाह के वास्तव में दो पक्ष हैं, एक अहद और वाहिद दूसरा रहमान और रब्ब। प्रथम पक्ष का संबंध उसकी सत्ता से है। जिसको हम उसकी सत्ता का गुण कह सकते हैं, और द्वितीय का संबंध उसकी उपाधि या व्यापार से है, अतः हम उसको उसके व्यवहार का गुण मान सकते हैं। कुरान के प्रेमी-भलीभाँति जानते हैं कि उसमें रब्ब की प्रधा-

---

(१) स्टडीज़ इन इसलामिक मिस्टीसिज्म, पृ० ९८।

नता है। रहमान यद्यपि अल्लाह का नाम सा हो गया है तथापि उसका प्रयोग रब्ब से बहुत कम हुआ है। रब्ब की पुनरावृत्ति यदि कुरान में ९६७ बार हुई है तो रहमान की केवल ५६० बार। बात यह है कि अल्लाह के रहम से सृष्टि होती है और उसके तेज से उसका संचालन होता है। उसका प्रथम रूप ब्रह्मा का है तो द्वितीय विष्णु का। इसी विष्णु में रुद्रता भी निहित है। संहार का केवल एक दिन नियत होने के कारण सूफी रुद्र रूप को अलग नहीं कर सकते। इस दृष्टि से विचार करने पर अहद से वाहिद, वाहिद से रहमान, और रहमान से रब्ब की ओर क्रमशः विचार का उतार दिखाई पड़ता है और जिली का मत साधु नहीं ठहरता। किंतु वह इसलाम के अनुरूप अधिक अवश्य है।

अहद और वाहिद में भी भेद है। 'अहद' को 'केवल' और 'वाहिद' को 'एक' कह सकते हैं। एक में अनेक का भाव छिपा रहता है। वह संख्या से संबद्ध है। अहद में यह बात नहीं होती। अहद के पहले की अवस्था को 'ज़ात' कहना ठीक है। जात से वाहिद की प्रक्रिया क्या है इसको भी थोड़ा देख लेना चाहिए। बात यह है कि मनुष्य की बुद्धि जहाँ तक देख सकती है वहीं सब का अंत नहीं हो जाता। बस वह स्पष्ट रूप से अधिक से अधिक यहीं तक कह सकता है कि वस्तुतः परम सत्ता अहद है, केवल है, अद्वैत है पर उसका अथ वा मूल सर्वथा तमसावृत वा अज्ञेय ही है। बुद्धि को उसका ठीक ठीक बोध नहीं हो सकता। सूफी इसको 'अमा' की अवस्था कहते हैं। उनकी धारणा है कि व्यक्त होने की भावना से जब 'वह' अग्रसर होता है तब हम उसको अहद के रूप में पाते हैं। अहद में तद्भाव और अहंभाव का समावेश रहता है। सूफी इन्हीं को 'होविय्या' और 'अनिय्या' का भाव कहते हैं। प्रथम बातिन है तो द्वितीय जाहिर। पहली अव्यक्त है तो दूसरी व्यक्त। अहंभाव ने जो रूप धारण किया वही एक अथवा वाहिद बना। फिर अभिमान से अनेक का ताँता बँधा। इलाह और मलहूम का व्यापार चल पड़ा। वास्तव में यह इलाह ही अल्लाह अथवा मनीषियों का ईश्वर है, कोई अन्य सत्ता नहीं।

अल्लाह का प्रवचन है कि आत्मज्ञापन की कामना से उसने सृष्टि की रचना की। ऋषियों का मत है कि रमण की कामना से पुरुष द्विधा फिर बहुधा हो जाता

है। कामना या इच्छा से परम पुरुष कैसे बद्ध हुआ, इसके विवेचन की आवश्यकता नहीं। हमें तो देखना यह है कि अनेक का कारण या सृष्टि का उपादान क्या है। सूफियों के अध्ययन से अवगत होता है कि उनके सामने चित्, अचित् का झगड़ा न था। उनकी समझ में चेतन पुरुष से जड़ प्रकृति के उत्पन्न होने में कोई अड़चन न थी। सत्कार्यवाद का उनके यहाँ वह महत्त्व न था जिसके कारण सांख्य द्वैत का प्रतिपादन करता है। विवर्त्त का भी वह बोध उनमें नहीं था जो सृष्टि को माया का प्रसार अथवा इन्द्रजाल समझते। उनमें विवर्त्त का जो आभास मिलता है वह स्वतंत्र चिंतन का परिणाम नहीं, वेदांत का प्रभाव है। इसलाम का अमोघ अस्त्र अल्लाह है। अल्लाह की शक्ति अपरिमित है। उसके 'कुन' में सारी शक्ति भरी है। वह यदृच्छा[1] के आधार पर अभीष्ट रचना कर सकता है। सृष्टि उसके 'कुन' का प्रसार है। बस जगत् की और चिन्ता व्यर्थ है।

कुरान ने कुन के आधार पर सृष्टि की उत्पत्ति बताई और इसलाम ने आदम को अल्लाह का प्रतिरूप और इंसान को सृष्टिशिरोमणि माना। उसका काम इतने ही से चल गया। मुहम्मद साहब के अनंतर इसलाम में जो प्रश्न उठे उनकी चर्चा हम समय समय पर करते आए हैं। यहाँ हमें उस प्रश्न पर विचार करना है जो सृष्टि के संबंध में छिड़ गया था। इसलाम की दृष्टि में सृष्टि अल्लाह की क्रिया है। इस कृति की वास्तविक सत्ता क्या है ? इसको नित्य तो मान नहीं सकते ; क्योंकि इसकी नित्यता से अल्लाह की अद्वितीयता में बाधा पड़ती है। निदान उसको अनित्य कहना ही इसलाम का निश्चय है। उसके विचार में अल्लाह के अतिरिक्त जो कुछ है वह सृष्टि है, पर सृष्टि नित्य नहीं, उत्पन्न है।

सृष्टि की उत्पत्ति का कारण आत्मज्ञापन कहा गया है। वादियों में इस विषय का विवाद छिड़ा कि अल्लाह ने रचना का काम स्थगित कर दिया अथवा नित्य करता जा रहा है। इस प्रश्न का उचित समाधान न हो सका। विरोधी शब्दों के

---

(१) दी हिस्टरी आव फ़िलासफ़ी इन इसलाम, पृ० १६२।

आवरण एवं विरुद्ध गुणों[1] की लपेट में इस प्रश्न को किसी प्रकार सुलझाया गया। अंत में मान लिया गया कि सृजन अल्लाह का गुण है। वह प्रकृति के प्रथम भी कर्ता था। सृष्टि उसके ज्ञान में थी। वह सृष्टि के पूर्व स्रष्टा था। कहना न होगा कि इस प्रकार की उपपत्ति से किसी जिज्ञासा को संतोष नहीं मिल सकता, तृप्त होना तो और आगे की बात है। फलतः सृष्टि के विषय में तर्क होते रहे। सूफियों ने सृष्टि को स्वप्न माना। तत्त्वदर्शी ज्ञानियों ने देखा कि वास्तव में वस्तुओं की स्वतंत्र सत्ता नहीं। तसव्वुफ में 'मादूम' की प्रतिष्ठा हो गई। 'अभाव' की स्थापना से कुछ शान्ति मिली।

अरबी का कहना[2] है कि 'कुन' का अर्थ क्रिया नहीं। अल्लाह वस्तुओं या द्रव्यों के तथ्य से सदैव परिचित है। उसके संकल्प में ही सबका निवास है। उसके कुन के उच्चारण से सब का विभव हो जाता है। सृष्टि को यदि हम रचना की दृष्टि से देखते हैं तो वह मिथ्या है, उसकी निजी मूल सत्ता नहीं। वह विभु की विभूति है। उसकी सत्ता सापेक्ष है। अरबी संसार को शाश्वत प्रपंच समझता है। उसके मत में 'तजल्ली'[3] का प्रवाह सतत गतिशील है उसका आवर्त्तन नहीं होता। वह अनेक को एक की विभूति, द्रव, विभावन, प्रभाव, प्रकार आदि के रूप में व्यक्त करता है। उसकी दृष्टि में सृष्टि स्वतंत्र नहीं, पर नित्य है। काल की उसको बाधा नहीं। वह परम धर्मी का धर्म है, जो नियति का पालन करती है।

जिली[4] का कथन है कि अल्लाह चन्द्रकांति मणि के रूप में था। जब उसको सृष्टि की कामना हुई तब उसने अपने स्वच्छ स्वत्त्व पर दृष्टिपात किया। वह संकल्पघन था। उसके कटाक्ष से वह पिघलकर पानी हो गया; क्योंकि अल्लाह के कमाल को वह सह नहीं सका, तब अल्लाह ने उसे जलाल की दृष्टि से देखा।

---

(१) दी मुसलिम क्रीड, पृ० २११, २६७।
(२) स्टडीज इन इसलामिक मिस्टीसीज्म, पृ० १५१।
(३) ,, ,, पृ० १५४।
(४) ,, ,, पृ० १२१-२।

उसमें सागर की भाँति तरंगें उठने लगीं, जिससे स्थूल द्रव्य फेन के ढंग पर ऊपर छा गया। अल्लाह ने उससे सप्तपृथिवी की रचना की। उसके सूक्ष्म तत्त्व वाष्प की भाँति ऊपर उठे। अल्लाह ने उनसे सप्तलोक और फरिश्तों की रचना की, जो उनके अधिदेव हुए। फिर शेष जल को सप्तसागर में विभक्त कर दिया। यही सृष्टि का प्रसार है।

जामी[1] का मत है कि अल्लाह परम सौंदर्य है और वह प्रेम चाहता है। प्रेम से प्रभावित होकर उसने अपने मुख का आदर्श लिया और उसमें अपना रूप अपने आप पर व्यक्त करने लगा। वह द्रष्टा और दृश्य दोनों था। उसके अतिरिक्त किसी ने विश्व को नहीं देखा। सर्व अदृश्य था। सृष्टि गर्भ की भाँति अभाव में शयन करती थी। प्रियतम की दृष्टि ने जो नहीं था उसको रूप दिया। यद्यपि उसके गुण उसे पूर्णतः व्यक्त थे तथापि उसको उनको प्रकट करना अभीष्ट था। अतएव देश-काल की रचना कर उसने एक उपवन का डौल डाला, जिसका प्रत्येक पत्ता उसके कमाल को प्रत्यक्ष करता है। जामी की दृष्टि में विश्व सत्य का प्रत्यक्ष रूप है और सत्य विश्व का परोक्ष भीतरी मूल तत्त्व। विश्व विकास के पूर्व सत्य से अभिन्न था और सत्य विकास के अनन्तर विश्व से अभिन्न है।

इस प्रकार अल्लाह और विश्वकी अभिन्नता तो सिद्ध हुई, पर जीव का पता अभी तक न चला। अल्लाह ने आदमी को अपना प्रतिरूप बनाया और उसमें अपनी रूह फूँक दी। अरबी[2] का मत है कि आत्मदर्शन के लिये अल्लाह ने जिस विश्व को रचा वह अंधा दर्पण था, अतः अल्लाह को उसमें अपना रूप गोचर नहीं होता था। इसलिये उसने आदम का निर्माण किया, जो उसी का प्रतिरूप था। बस अल्लाह ने आदमी में अपना रूप देखा और इसी से इंसान अल्लाह की दृष्टि है और इसी से उसको 'इंसान' कहते भी हैं। इंसान के द्वारा ही अल्लाह सृष्टि का अवलोकन तथा जीवों पर दया करता है।

---

(१) दी मिस्टिक्स आव इसलाम, पृ० ८०-१।

(२) स्टडीज इन इसलामिक मिस्टीसीज्म, पृ० १५५-६।

जीव के विवेचन के पहले ही आदम और मुहम्मद के संबंध पर विचार करना अत्यंत आवश्यक प्रतीत होता है। मुहम्मद साहब ने अपने को स्वयं रसूल कहा था और उनके नाम का विधान भी उनके जीते जी सलात में अल्लाह के साथ हो गया था, तो भी उनको इस रूप का भान न था जो उनको उनके निधन के उपरांत दिया गया। मसीही संघ ने बहुत पहले ही मसीह को प्रेम, प्राण, प्रकाश आदि सिद्ध कर उनको परमेश्वर का एक मात्र पुत्र और परम तारक बना लिया था। मसीह परम पिता की क्रियाशक्ति के रूप में अंकित थे। मुसलमानों की भक्तिभावना भी कुछ इसी ढर्रे पर आगे बढ़ी। सूफियों ने घोषणा कर दी कि यद्यपि मुहम्मद दूतत्व की दृष्टि से अंतिम रसूल हैं तथापि परमेश्वर के प्यार की दृष्टि से उनका स्थान सर्वप्रथम है। अल्लाह ने आत्मज्ञापन की प्रेरणा से जब अव्यक्त से व्यक्त होने की कामना की तब उसे ज्योति का निर्माण करना पड़ा। अंधकार के कारण सत् अलक्ष्य था, इससे उसको परिलक्षित करने की कामना से अल्लाह ने 'नूर' को उत्पन्न किया। मुहम्मद साहब की वास्तविक सत्ता यही 'नूर' है। इस नूर से 'क्षिति', 'जल', 'पावक', एवं 'समीर' का प्रादुर्भाव उसी प्रकार मान लिया गया जिस प्रकार हमारे यहाँ आकाश से शेष तन्मात्राओं का कहा गया है। इसलाम आकाश जैसे सूक्ष्म तत्त्व का चिंतन नहीं करता। यूनानी दर्शन में भी इस तत्त्व का अभाव, था फिर इसलाम में कहाँ से आ जाता?

सूफीमत पर विचार करते समय हम मुहम्मद को भूल नहीं सकते। चिंतन के कारण अल्लाह का स्वरूप जितना ही सूक्ष्म होता जाता था, मनोरागों तथा भय के दबाव के कारण उसके रसूल का स्थान उतना ही भव्य तथा मनोरम। इसलाम में सगुण क्या, साकार अल्लाह की प्रतिष्ठा थी। तसव्वुफ ने अल्लाह को 'अमा' तक पहुँचा दिया। उसे निरंजन बना दिया। निरंजन या निर्गुण तर्क का परिणाम होता है, हृदय का आलंबन नहीं। कोई आलंबन जब कारण विशेष के प्रभाव में पड़ कर अपने गुणों को त्याग निर्गुण बनने लगता है तब हृदय उसका साथ छोड़ उसी से संबद्ध कोई दूसरा ठिकाना ढूँढने लगता है। यही कारण है कि सूफियों को मुहम्मद साहब में उन सभी गुणों का आरोप करना पड़ा जो हृदय को लगाए रहते और

लोक-संग्रह के भाव बनाते रहते हैं। फलतः मुहम्मद साहब सूफियों की दृष्टि में केवल उम्मी रसूल ही नहीं रहे, वे उनके प्रिय, रक्षक, तारक, हिरण्य-गर्भ, सगुण और ईश्वर सभी कुछ हो गए। अल्लाह के आप महबूब हुए और आप ही के लिये सृष्टि का यह सारा प्रसार हुआ। आप में 'ज़ात' (सत्त्व) 'सिफत' (गुण) और 'इस्म' (संज्ञा) का समन्वय कर दिया गया और आप के संकेत पर संसार चलने लगा। सूफियों की दृष्टि में आप 'कुत्ब' हैं, पुरुषोत्तम हैं। आपका नूर सृष्टि का उपादान और आप उसके निमित्त हैं। आप अल्लाह की वह प्रतिमा हैं जिसके अनुरूप आदम को रूप मिला। वस्तुतः ज्ञानियों की 'माया' भक्तों की 'शक्ति' और सूफियों के 'नूर' का सृष्टि-व्यापार में एक ही स्थान है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि मुहम्मद अल्लाह और इंसान के संधिस्थल हैं। उनके नूर से अल्लाह का साक्षात्कार किया जा सकता है। जिली[1] का मत है कि लोक-मंगल के लिये समयानुकूल मुहम्मद साहब लिबास धारण करते हैं। जिली मुसलमान होने के कारण 'अवतार' से चिढ़ता है और कठोर आग्रह के साथ कहता है कि उसके इस कथन को लोग हुलूल (अवतार) न समझ लें। उसका कहना है कि मुहम्मद साहब ही शेख़ के लिबास में उसे गोचर हुए थे। और वही अरब में मुहम्मद के रूप में प्रकटे भी थे। जिली के 'लिबास' को हम 'उपाधि' का रूपांतर भर समझते हैं। वास्तव में मुहम्मद वेदांतियों के सोपाधि ब्रह्म वा ईश्वर हैं जो धर्म की संस्थापना और लोक-रक्षा के लिये संसार में अवतार नहीं लेते प्रत्युत मुहम्मद की उपाधि धारण करते हैं। तात्त्विक दृष्टि से अवतार अविद्या और उपाधि विद्या वाचक शब्द है। अस्तु, जिली के लिबास में वेदांतियों की उपाधि का पूरा प्रसार है। जिली की दृष्टि में कुत्ब के लिबास में मुहम्मद सदा लोक रक्षा करते हैं और सूफी मात्र कुत्ब के सत्कार को आराधना समझते भी हैं।

जीव के संबंध में स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि वह कष्ट में क्यों पड़ा है। अल्लाह के अतिरिक्त यदि और कोई सत्ता नहीं है तो पाप-पुण्य, धर्म अधर्म का

---

(१) स्टडीज़ इन इसलामिक मिस्टीसीज्म, पृ० १०५।

भेद कैसा ? पश्चिम के पंडितों ने प्रायः ऐसे वचनों की भर्त्सना की है जिनमें सूफियों तथा वेदांतियों के 'न पापं न पुण्यं' का उद्घोष है। परंतु व्यवहार में तो सूफी नियम की अवहेलना कर पाप-पुण्य को एक ही नहीं कर देते, वे तो धर्माधर्म का बराबर ध्यान रखते हैं। हाँ, भावावेश की दशा में जब कभी उनमें प्रियतम का प्रकाश फूटता है तब उन्हें कहीं द्वन्द्व दिखाई नहीं देता, और उसकी छाया से सब कुछ प्रकाशमय हो जाता है। सचमुच उस समय पाप-पुण्य का सारा भेदभाव मिट जाता है; पर व्यवहार में नहीं। व्यवहार में तो सूफी मजहब के पाबंद होते हैं और जिंदीकों की इसीलिये निंदा भी खूब करते हैं।

पाप-पुण्य का सम्यक् विवेचन तभी संभव है जब जीव की परिस्थिति का ठीक ठीक पता हो जाय। सूफी साहित्य में जीव का शास्त्रीय विवेचन अधूरा है। वहाँ काव्य के आवरण में प्रतिपादित किया गया है कि जीव अल्लाह से भिन्न नहीं है। वस्तुतः दोनों एक ही हैं। इसमें तो संदेह नहीं कि सर्वत्र सूफियों ने अद्वैत का पक्ष लिया है। उनके अद्वैत के भी उसी प्रकार कई पक्ष हैं जिस प्रकार भारतीय अद्वैत के। हल्लाज की दृष्टि में जीव सर्वथा ब्रह्म नहीं बन सकता, वह पानी की भाँति शराब में मिल सकता है, पर बिल्कुल ब्रह्म ही नहीं हो सकता। उसकी सत्ता बनी अवश्य रहती है। कभी उसका पूर्णतः लोप नहीं होता, अतएव उसके यहां 'देवत्व' और 'मनुष्यत्व' 'लाहूत' और 'नासूत' का विचार है। उसका कथन है कि वह जिससे प्रेम करता है वह स्वतः वही है। वास्तव में एक ही शरीर में दो प्राण हैं, जो परस्पर प्रणयबद्ध हैं। अंतर केवल यह है कि प्रेमी के स्वरूप-बोध से प्रियतम का दर्शन मिल जाता है, पर प्रियतम के साक्षात्कार से दोनों की सत्ता स्पष्ट हो जाती है।[1] रूमी (मृ० १२३०) हल्लाज से कुछ भिन्न है। उसका मत यह है कि प्रेमी और प्रिय देखने में भिन्न हैं; पर तथ्यतः उनके युगल शरीर में, मिथुन रूप में एक ही आत्मा का निवास है। जिली का कहना है कि प्रेमी और प्रिय एक ही की आत्मा हैं जो क्रम से दो शरीर में रहते हैं। फारिज (मृ० १२४८) आग्रह

(१) स्टडीज इन इसलामिक मिस्टीसीज्म, पृ० ८०।

करता है कि प्रेमी सदैव प्रिय था और प्रिय सदैव प्रेमी था, उनमें कुछ भी अंतर न था। सचमुच सत्ता ही सत्ता से प्रेम करती थी। सारांश, सभी सूफी अद्वैत का प्रदर्शन करते हैं, किंतु इसलाम की कठोरता के कारण खुलकर उसके प्रतिपादन में लीन नहीं हो पाते। फलतः उनके अद्वैत के विषय में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वह कहाँ तक केवल, विशिष्ट, शुद्ध अथवा द्वैताद्वैत के अनुकूल है। हाँ अद्वैत भावना का प्रसार सर्वत्र दिखाई देता है। पर किस अद्वैत-वाद का, इसे खुलकर कौन कहे ?

सूफियों का अद्वैत भाव-प्रधान है। दार्शनिक वाद का पूर्ण प्रकाश उसमें नहीं। इसलाम की कट्टरता स्वतंत्र चिंतन के सदा प्रतिकूल रही। विरोध की यह तत्परता शामी जातियों की विशेषता है। आगस्टीन भी विरोध के कारण दंड से भयभीत था। वह कह रहा था कि हम जिसकी भावना करते हैं वही बन जाते हैं, परंतु उसके मुँह से यह न निकल सका कि ईश्वर की भावना करने से हम ईश्वर हो जाते हैं। फारिज ने भी आगस्टीन का पक्ष लिया है। उसका दावा है कि प्रतीक रक्षक ही नहीं, उस सत्य के प्रदर्शक भी होते हैं जिसके प्रकाशन में वाणी असमर्थ होती है। प्रतीक की ओट में, रूपक और अन्योक्ति के सहारे सूफियों ने आत्म-रक्षा और अपने भावों का प्रदर्शन तो किया, पर साथ ही उनके मत का स्वरूप भी अस्थिर और संदिग्ध हो गया। उनके उद्गारों में अद्वैत की प्रधानता तो है, किंतु उनके व्याख्यानों में इसलाम का ही अनुमोदन है। इसलाम तौहीद का भक्त है, अतः तौहीद के आधार पर अद्वैत का प्रचार होता रहा। हल्लाज, अरबी, जिली प्रभृति प्रतिभाशाली पंडितों ने अपने विचारों का ग्रंथन किया। उनके अध्य-यन से स्पष्ट अवगत होता है कि उनमें चिंता का बहुत कुछ मेल है। अस्तु, हम देखते हैं कि अरबी जैसे समर्थ सूफियों ने भी खुल कर कभी नहीं कहा कि—"सत्यं ब्रह्म जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।" नहीं, वे तो बस किसी प्रकार

---

(२) दी मिस्टिक्स आव इसलाम, पृ० ११८।

अपनी प्रतीक-प्रणाली पर इसका आभास भर देते रहे और केवलाद्वैत की अपेक्षा विशिष्टाद्वैत की ओर ही अधिक मुड़ते रहे।

अद्वैत के राज्य में द्वन्द्व नहीं रहता पर दुनिया में तो सुख-दुःख, राग-द्वेष, पाप-पुण्य का पचड़ा है ही, तो फिर सुखद होते हुए भी अन्यथा करने की प्रेरणा हमें क्यों होती है? जो हम दुःख भोगते हैं, ज्ञानी इसका कारण कुछ भी कहें पर इसलाम तो शैतान को ही सबका मूल मानता है। उसकी दृष्टि में उसीके जाल में पड़ कर जीव नाना प्रकार के जंजाल भोगता और दुःख-द्वन्द्व से मुक्त नहीं हो पाता है। अरबी की इस विषय की जिज्ञासा है—

"रब्ब भी हक़्क़ है और अब्द भी हक़्क़ है, काश मुझे मालूम हो जाय कि इनमें मुकल्लिफ़ (कष्टदाता) कौन है। अगर अब्द मुकल्लिफ़ क़रार दिया जाय तो वह तो मुर्दा है। अगर रब्ब मुकल्लिफ़ है तो वह किस तरह मुकल्लिफ़ हो सकता है?"[१]

अरबी के गूढ़ भावों की व्यंजना आसान नहीं।

सूफियों के सामने शैतान का प्रश्न वेढब था। कुरान के कथनानुसार उसका एकमात्र अपराध यह था कि उसने अल्लाह की आज्ञा की उपेक्षा की और आदम का अभिवादन नहीं किया। फलतः अल्लाह ने उसको दंड दिया। उसका काम यह हो गया कि वह अल्लाह के बंदों को गुमराह करे और उन्हें कुमार्ग में लगाए। कुरान में यह भी कहा गया है कि अल्लाह जिसको चाहता गुमराह करता और जिसको चाहता सत्पथ में लगाता है। यदि वह चाहता तो सबको सत्पथ पर लाता। सूफियों ने देखा कि इबलीस अल्लाह का समकक्ष बागी तो हो नहीं सकता। जब अल्लाह अपनी इच्छा से किसी को गुमराह करता है तब इसका दोष शैतान के सिर क्यों मढ़ा गया? अल्लाह की आज्ञा का पालन इबलीस नहीं कर सका तो इसका कारण अल्लाह की इच्छा ही है। क्योंकि अल्लाह स्वयं चाहता है कि कोई ऐसी भी सत्ता हो जो भक्तों को प्रेम की खरी कसौटी पर कसे और उनमें से

---

(१) तारीख़ फलासिफ़तुल इसलाम, पृ० ४०६।

खरे-खोटे को सदा बिलगाता रहे। अतएव अंत में जब अल्लाह फिर उससे आदम की आराधना को कहेगा, तब वह कातर स्वर से निवेदन करेगा—

"यदि यह अपने वश की बात होती तो मैं उसी क्षण आदम की पूजा करता जब मुझे उक्त आज्ञा मिली थी। अल्लाह मुझे आदम की उपासना की आज्ञा देता है, पर वह स्वतः नहीं चाहता कि मैं उसके आदेश का पालन करूँ। यदि वह ऐसा चाहता तो मैं अवश्य ही आदम की आराधना करता।"[1]

सूफियों के यहाँ निश्चय ही इबलीस इसलाम का शैतान नहीं, पुराणों का नारद है जो अल्लाह का परम भक्त और अनन्य उपासक है। अल्लाह की आराधना और उसकी उपासना में उसकी इतनी अनन्य श्रद्धा है कि वह उसके आगे उसकी आज्ञा को भी कुछ महत्त्व नहीं देता और शाश्वत कष्ट सहने को तत्पर हो जाता है। यदि इबलीस न होता तो सभी अल्लाह के भक्त बन जाते, साधु-असाधु का प्रश्न ही उठ जाता और अल्लाह का जलाल व्यर्थ जाता। अस्तु सूफियों के विचार में इंसान इबलीस[2] की प्रेरणा से नहीं, बल्कि नियति से भ्रष्ट होता है।

नियति का प्रश्न इसलाम में अत्यंत जटिल है। मोतजिलियों ने न्याय का पक्ष लेकर सिद्ध किया कि अल्लाह कर्मों का फल देता है। अरबी कुरान के इस पद की—यदि अल्लाह चाहता तो सबको सत्पथ पर लाता—व्याख्या में स्पष्ट कहता है कि अल्लाह के न चाहने का कारण नियति के अतिरिक्त और क्या हो सकता है। अरबी पक्का कर्मवादी[3] है। सूफी प्रसाद पर जोर देते हैं और उसीके भरोसे भव-सागर पार करना चाहते हैं, पर वे यह नहीं मानते कि अल्लाह नियति को अस्तव्यस्त करता है। उनके मत में अल्लाह की यह कम कृपा नहीं है कि वह हमको सुधरने का अवसर देता है और बराबर हमको सावधान करता रहता है। उसके जमाल में उनको पूरा विश्वास है। उनकी धारणा है कि रहमान ने रहम की प्रेरणा से प्रेरित हो अपने जलाल से नरक की रचना की। यही कारण है कि उसमें भी खाज खुजलाने

---

(१) स्टडीज इन इसलामिक मिस्टीसीज्म, पृ० ५४।
(२) दी मुसलिम क्रीड, पृ० १६५।
(३) स्टडीज इन इसलामिक मिस्टीसीज्म, पृ० १५७।

का सा आनंद आता है और आशा की जाती है कि अंत में उसके प्रसाद से जीवमात्र का उद्धार हो जायगा और किसी को भी कोई शाश्वत दुःख भोगना न पड़ेगा।

अस्तु, तसव्वुफ में इबलीस अल्लाह का वह रूप है जो अपनी दुष्टता से इंसान को सावधान करता है। वह अपराध, दोष, पाप और अवगुणों का अधिष्ठाता है। परंतु वास्तव में दुर्गुणों की तो स्वतंत्र सत्ता है ही नहीं। इबलीस भी तो दर्पण का पृष्ठ ही है जिसके द्वारा पापकर्म में भी हमें आत्मदर्शन होता है और सच्चे साक्षात्कार के होते ही पाप का अभाव हो जाता है, जिससे सर्वत्र आत्मप्रकाश ही व्याप्त होता है। रूमी[1] ने भलीभाँति समझा कर सिद्ध कर दिया है कि प्रकृत दोषों के कारण अल्लाह दोषी नहीं ठहरता, क्योंकि कुरूप का निर्माता चित्रकार कभी कुरूप नहीं कहा जाता; हाँ, कुरूपता के अभाव में उसकी कला अपूर्ण अवश्य कही जाती है। पुण्य के प्रसंग में दैववश पाप बन जाते हैं, पर प्राणी स्वतः पापी बनना नहीं चाहता। अरबी तथा हल्लाज के मत में अल्लाह के आदेश का अतिक्रमण ही अपराध है, पर वह उसके उद्देश्य का उल्लंघन नहीं; प्रत्युत प्रकारांतर से उसीका पोषण है। प्रकाश के अभाव को अंधकार, पुण्य के अभाव को पाप, सत्त्व के अभाव को तम कहते हैं। वस्तुतः उनकी स्वतंत्र सत्ता नहीं, वे तो सापेक्ष हैं। नास्तिकता और पाप तभी तक संभव हैं जब तक अल्लाह को अपना जलाल प्रकट करना है। हम कह ही चुके हैं कि वास्तव में इबलीस दर्पण का पृष्ठ है जो अल्लाह के प्रतिबिंब का कारण होता है। अतः जब तक साक्षात्कार नहीं होता तभी तक वह लगा दिखाई देता है, पर जहाँ साक्षात्कार हो गया वहाँ उसकी कोई आवश्यकता नहीं रही। सूफियों की दृष्टि में जब पाप के अधिष्ठाता इबलीस की ही यह दशा है तब उसके दुष्कर्म नित्य कैसे हो सकते हैं? यही कारण है कि सूफी पाप को अभाव का द्योतक मानते हैं और कभी उसको शाश्वत नहीं समझते।

---

(१) दी मिस्टिक्स आव इसलाम, पृ० ९७–९९।

मनुष्य जमाल और जलाल के योग से बना है। उसके पिंड में जो कुछ है वही ब्रह्मांड में बिखरा पड़ा है। वह सृष्टि-शिरोमणि और अल्लाह का प्रतिरूप भी है। उसमें अल्लाह की रूह है। उसकी आवश्यकता अल्लाह को इसलिये है कि वह अपने को व्यक्त कर सके। उसे अल्लाह की आवश्यकता इसलिये है कि उसकी सत्ता का पारमार्थिक दर्शन हो और वह सदा बना रहे। अरबी के इस[1] कथन से स्पष्ट है कि अल्लाह इंसान में आत्मदर्शन करता है। इंसान तत्त्वतः हक है। हक से ही उसका उदय और हक में ही उसका अस्त होता है। सूफियां मे से किसी के मत में तो परम सत्ता में जीव का लोप सर्वथा और किसी के मत में अंशतः ही होता है। किसी की दृष्टि में शराब पानी की भाँति, किसी के मत मे नदी-समुद्र की नाईं और किसी के विचार में आग-लोहा की तरह, यह मिलन होता है। जो हो, और जैसा हो, पर इतना तो प्रकट ही है कि सूफी महामिलन के भूखे हैं और दिन-रात प्रियतम के रोम-रोम में समा जाने के लिये आकुल हो तड़पा करते हैं। वे कभी भी अपने को अल्लाह से भिन्न नहीं देख सकते। सदा उसीका और उसीमें होकर रहना चाहते हैं; कुछ उससे छिटक कर दूर अलग रहना नहीं।

अस्तु, यदि ध्यान से देखा जाय तो सूफीमत में 'क़ल्ब' की महिमा अपार है। वह अल्लाह का मंदिर और सत्य का दर्पण है, साक्षात्कार के लिये उसका परिमार्जन अनिवार्य है। सूफी उसको भौतिक[2] मानने में संकोच करते हैं। उनका मत है कि कल्ब अध्यात्म का आधार और अल्लाह का अधिष्ठान है। वास्तव में कल्ब मांसपिंड नहीं, एक विशेष करण है जिसका धर्म सत्य-ग्रहण और सत्य-प्रकाशन है। जिली ने कल्ब[3] का एक चित्र उपस्थित कर सिद्ध किया है कि उसके मुख पर किस प्रकार अल्लाह के नामों के प्रतिबिंब पड़ते हैं और उसका पृष्ठ किस प्रकार उनसे वंचित रह जाता है। सूफियों ने कल्ब के विषय में जो कुछ कहा है उससे

---

(१) स्टडीज इन इसलामिक मिस्टीसीज्म, एपिंडिक्स २।

(२) जायसी ग्रन्थावली भूमिका, पृ० १७०-३।

(३) स्टडीज़ इन इसलामिक मिस्टीसीज्म, पृ० ।

उसके मर्म का ठीक-ठीक पता नहीं हो पाता, पर उसके देखने से अनुमान यही होता है कि हो न हो उनका कल्ब उपनिषदों का हृदय है। 'हृदि अयम्' से हृदय की सिद्धि मानी जाती है। उपनिषदों के हृदय में वह गुण है जो सूफी कल्ब में प्रतिष्ठित करते हैं। "हृदयेन हि रूपाणि जानाति हृदये ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानि भवन्ति...हृदयेन हि सत्यं जानाति हृदये ह्येव सत्यं प्रतिष्ठितं भवति।"[१] निदान यही 'हृदय' तसव्वुफ का 'कल्ब' है। अन्यथा कुछ और नहीं।

हृदय के संबंध में अल्लाह का प्रवचन है कि पृथिवी और अंतरिक्ष मुझे धारण नहीं कर सकते, किंतु भक्तों का हृदय[२] मुझे धारण कर लेता है। सूफियों की इस कथन पर पूरी आस्था है। वे कल्ब में अल्लाह को धारण करते हैं। वस्तुतः कल्ब अल्लाह का आधार या सत्य का निवास ही नहीं, उसका निदर्शक भी है। दर्पण रूप को ग्रहण कर उसका विक्षेप भी तो करता है? अस्तु, वह सत्य का अधिष्ठान और आत्मा का करण है। सूफी इसीमें सत्य का साक्षात्कार करते और अपने को धन्य समझते हैं।

कल्ब के संबंध में इतना और जान लेना चाहिए कि वह वास्तव में भौतिक पदार्थ है। सूफी उसको अभौतिक इस दृष्टि से कहते हैं कि उस पर अल्लाह का प्रतिबिंब पड़ता है और उसीके द्वारा उसका साक्षात्कार भी होता है। परंतु सूफी यह भी कहते हैं कि भूतमात्र अल्लाह का दर्पण है, जिसमें उसीकी झलक दिखाई पड़ती है। फिर कल्ब को अभौतिक सिद्ध करने का प्रयोजन ही क्या! वेदांतियों ने भी हृदय-तत्त्व को अंतःकरण की संज्ञा दी है। उन्होंने मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार को अंतःकरण कहा, पर माना उसे भौतिक ही है। निदान 'कल्ब' को अभौतिक कहने की कोई आवश्यकता नहीं।

कल्ब के भीतर एक सूक्ष्मतम करण होता है। सूफी उसको 'सिर्र' कहते हैं।

---

(१) बृ० आ० उ०, तृ० म०, न० ब्रा०, २०, २३।

(२) दी मिस्टिक्स आव इसलाम, पृ० ६८।

सिर्र की व्याख्या कुछ क़ल्ब से भी कठिन है। अबू 'सईद का मत है कि अभाव, उत्कंठा और उद्वेग से व्याकुल हृदय में अल्लाह अपने जमाल से जिस तत्त्व को जन्म देता है वही सिर्र है। सिर्र उसके जमाल का प्रसाद है, जो इंसान को निष्काम, निवृत्त, संन्यस्त अथवा मुखलिस बना देता है। सिर्र का प्रभाव ही इखलास है। सिर्र ईश्वरीय है, शाश्वत है। उसका बिनाश नहीं होता। वह इंसान में अल्लाह की धरोहर है। सिर्र के संबंध में हमारी धारणा है कि उसका बाह्य सत्त्व और अभ्यंतर अनुभूति है। अभ्यास एवं वैराग्य के द्वारा सत्त्व शुद्ध हो जाता है और उसमें परमात्मा की अनुभूति होती है। सूफी इसी को प्रियतम का 'दीदार' कहते हैं। निदान कहना पड़ता है कि यदि कल्ब हृदय है तो सिर्र सत्त्व है। सत्त्व और हृदय का अपनी साधना में जो स्थान है वही तसव्वुफ में सिर्र और कल्ब का।

सिर्र सब को नसीब नहीं होता। उसके पात्र चुने हुए लोग ही होते हैं। कल्ब भी सबका स्वच्छ नहीं रहता, उस पर भाँति भाँति के आवरण पड़े होते हैं। चाहते तो सभी हैं, पर सबको साक्षात्कार क्यों नहीं होता? सूफी एक स्वर से उत्तर देते हैं 'नफ़्स' के कारण। नफ्स वास्तव में है भी बड़ी बला। कदाचित् यही कारण है कि साधकों में किसी ने उसे लोमड़ी के रूप में देखा तो किसी ने उसे श्वान के रूप में पाया, और किसी ने उसे चूहा समझा तो किसी ने उसे सर्प ही घोषित कर दिया। सारांश यह कि सभी लोगों ने उसे किसी न किसी मूर्त्तरूप में देखा और उसकी कपट-लीला को व्यक्त करने का प्रयत्न किया। जो हो, सूफी सचमुच नफ्स को इबलीस की दूती अथवा शैतान की कुट्टिनी समझते हैं जो प्रेमी को प्रियतम से विमुख कर उसके हृदय में अन्यथा भाव भरती है। नफ्स विषय-वासना को सूँघती, भोगविलास को ढूँढ़ती, और तरह तरह की काटछाँट करती फिरती आत्मबंचना में लीन रहती है। इसीसे अन्तिम रसूल ने नफ्स को इंसान का सब से भयंकर शत्रु कहा और उससे सावधान रहने की अपने बन्दों को सलाह दी। नफ्स इंसान को

---

(१) स्टडीज इन इसलामिक मिस्टीसीज्म, पृ० ५१।

(२) दी मिस्टिक्स आव इसलाम, पृ० ३९-४०।

दुनिया में लगाती और परमार्थ से हटाती है तो सूफी उसको साधने के लिये 'मुजाहदा' करते हैं। 'जिक्र', 'फ़िक्र' आदि उपायों से इसपर अधिकार जमाते हैं। कल्ब की चारों ओर इसी का पहरा है। इसको वश में किए बिना अल्लाह का साक्षात्कार हो नहीं सकता। जप-तप ही क्या, जिस प्रकार संभव हो इसका निरोध करना चाहिए। अतः हम चाहें तो 'नफ़्स' को वासना या चित्तवृत्ति कह सकते हैं, जिसके निरोध के लिये सूफी साधना करते हैं। प्रेम के क्षेत्र में सूफियों को इसी नफ्स को मारना वा वशीभूत करना रहता है। विरह में तड़प-तड़प कर उनका बार बार मरना इसी नफ्स का मरना होता है।

यदि नफ्स की चलती तो इंसान अल्लाह का नाम न लेता; किन्तु उसमें वह अलौकिक शक्ति है जो उसे बराबर अल्लाह की झलक दिखाती रहती है। सूफी उसी को रूह कहते हैं। अल्लाह ने इंसान में रूह की प्रतिष्ठा की। रूह की सत्ता शरीर से पहले भी थी। हदीस[1] है कि रूह को दो सहस्र वर्ष के बाद शरीर मिला। रूह का राग अल्लाह और नफ्स का लगाव शैतान से होता है। नफ्स निधन में शरीर के लिये रोती है और रूह समा में अल्लाह के लिये तड़पती है। हमारी रूह तब तक शांत नहीं होती जब तक उसे परम रूह का दीदार नहीं मिलता। इंसान की रूह अल्लाह की रूह की झलक है। जिस प्रकार किरण उतर कर जीवन को उष्ण करती और फिर सविता में समा जाती है उसी प्रकार रूह इंसान को प्रसन्न करती और फिर अल्लाह में निमग्न हो जाती है। दोनों का संपर्क नित्य बना रहता है। अल्लाह की रूह का जो संबंध सृष्टि से है वही इंसान की रूह का शरीर से। रूह सारे शरीर में व्याप्त है। उसका कोई रूप-रंग वा संस्थान नहीं।

[2]जिली ने सृष्टि का उपादान रूह को मान लिया। उसके मत में अल्लाह ने अपनी सत्ता को सर्वप्रथम रूह का रूप दिया। रूह ही परम देवता और सृष्टि की

---

(१) स्टडीज़ इन इसलामिक मिस्टीसीज्म, पृ० २०४।
(२) ,, ,, ,, पृ० १०९-१२।

जननी है। फरिश्ते उसी से उत्पन्न होते हैं। जिली रूह को 'मुहम्मद', 'कुत्ब', 'क़लम' और न जाने क्या क्या सिद्ध करता है। रूह के इस परम रूप से हमारा कुछ काम नहीं सरता। हमें तो रूह के उस अंग पर विचार करना है जो पिंड में प्रविष्ट है। सूफी रूह को भी कल्ब की तरह अभौतिक मानते हैं। जिली का कहना है कि कुरान में आदम में जो रूह फूँकने की वार्त्ता है वास्तव में वह कल्ब की ओर संकेत करती है। रूह और कल्ब के संबंध में हम कह सकते हैं कि कल्ब एक करण या साधन है जिसका उपयोग रूह करती है। रूह के लिए कल्ब दर्पण है। जिसमें उसे परम सत्ता का साक्षात्कार होता है। रूह को हम सामान्यतः आत्मा कह सकते हैं। जो परमात्मा की धुन में लीन रहती है।

इंसान में नफ्स और रूह के अतिरिक्त एक चीज और होती है। सूफी उसे 'अक़्ल' कहते हैं। मनुष्य में या तो नफ्स की प्रधानता होगी या अक्ल अथवा रूह की। सूफी उनको क्रमशः अधम, मध्यम और उत्तम बताते हैं। अक्ल के विषय में कुछ पहले भी कहा जा चुका है। सूफी अक्ल और इल्म का प्रसार नहीं चाहते। उनकी दृष्टि में उनसे नफ्स का निरोध नहीं होता, बल्कि उसको और भी मदद मिल जाती है। उनके विचार में इल्म वह आवरण है जो रूह को ढक लेती और साक्षात्कार नहीं होने देती है। सूफी इल्म को ईश्वरीय देन नहीं समझते। उनकी दृष्टि में तो वह 'बुद्धि-विलास ही है। हाँ, म्वारिफ (प्रज्ञा) का सत्कार अवश्य करते हैं। 'आजाद' सूफी तो मौजी होते ही हैं; उन्हें कुरान के इल्म की भी चिंता नहीं होती। फिर किसी दूसरी किताब की तो बात ही क्या ? सूफी इल्म और अक्ल की उपेक्षा इसलिये करते हैं कि उनके प्रपंच में पड़ने से परमार्थ का बोध नहीं हो सकता। हाँ, व्यवहार में उनकी अधिक उपयोगिता अवश्य है पर उनसे नफ्स को उत्कर्ष भी मिल सकता है। अतः उनके संपादन में लीन न हो सतत अभ्यास में निरत होना चाहिए। कारण कि म्वारिफ के उदय से इल्म और अक्ल की जरूरत नहीं रह जाती और रूह को परम रूह का साक्षात्कार हो जाता है।

तो भी नफ्स एवं रूह के द्वंद्व का मूल कारण अल्लाह ही है। शैतान था नहीं, आत्म-ज्ञापन के लिये अल्लाह ने अपने जलाल से उसे उत्पन्न किया। नफ्स की भी यही दशा है। वास्तव में रूह के अभाव में नफ्स की चलती है। रूह से नफ्स की रचना है, नफ्स से रूह की नहीं। रूह और नफ्स में आलंबन का अंतर है, भाव वा आश्रय का नहीं। यही कारण है कि सूफी प्रत्येक भावना, प्रत्येक उपासना और प्रत्येक भाव का आदर करते है। उनके विचार में नफ्स के रूप में भी इंसान अल्लाह की ही उपासना करता है। किसी अन्य सत्ता की नहीं। कमी उसमें केवल यही रह जाती है कि वह निष्काम नहीं हो पाता। बस, सभी सूफी सुर में सुर मिलाकर एक साथ यही कहते हैं कि खुदी को दूर करो, तुम खुदा हो। अरे! तुम नफ्स, इल्म वा खुदी के चक्कर में क्यों पड़े हो, कल्ब की क्यों नहीं सुनते ?

खुदी को सूफी सह नहीं सकते। उनकी समझ में अहंकार ही नास्तिकता है। अहं हक हो, सत्य हो, ब्रह्म हो, पर वह करता धरता तो कुछ भी नहीं। वह तो वास्तव में हक नहीं, हक का प्रतिबिंब है। तभी तो जो कुछ उसमें क्रिया दिखाई देती है वह उसके वश की नहीं होती और जब जैसा चाहती है उससे करा लेती है ? निष्कर्ष यह कि वही नहीं अपितु विश्व में वनस्पति, पशु-पच्ची, जीव-जंतु आदि जो कुछ गोचर हो रहा है वह उसीके अंग-प्रत्यंग की छाया है और उसी का नखशिख सर्वत्र प्रतिफलित हो रहा है। वही सत्य है। शेष उसका प्रतिबिंब है जो उसके प्रेम को प्रकट कर उसके सौंदर्य पर उसी को निछावर करता है। सूफी उसी सौंदर्य की झलक पर मुग्ध हो उसके मूल स्रोत में मग्न होना चाहता है और उसी में तन्मय हो अपने को हक समझने लगता है। नहीं तो वस्तुतः जो स्फूर्ति बिंब में होती है उसी को वह व्यक्त करता है। क्योंकि वह उसी का प्रतिबिंब जो है।

प्रतिबिंबवाद को सूफियों ने साधु माना है। वाद अथवा दर्शन की दृष्टि से सूफी प्रतिबिंबवादी कहे जा सकते हैं। कहने को यहाँ भी कुछ प्रतिबिंबवादी हो गए हैं पर दर्शन में उनको कुछ विशेष महत्त्व नहीं मिला। भारतीय दर्शन के प्रतिबिंब पर बिचार करने का यह अवसर नहीं। यहाँ कहना तो केवल यह है कि

प्रतिबिंबवाद से सूफियों की कामना पूरी हो गई। सूफी जीजान से चाहते थे कि इसलाम के सामने कोई ऐसा वाद रखें जो इसलाम की श्रद्धा और भक्ति को समेट सके। प्रतिबिंबवाद में यह बात मिल गई। मुसलिम आदम को अल्लाह का प्रतिरूप मानते ही थे। उनके मत में आदम में अल्लाह की रूह थी ही। फिर तो सूफियों ने भी इसी के आधार पर आदम को अल्लाह का प्रतिबिंब बना दिया। उन्होंने कहा कि यदि सृष्टि का दर्पण न होता और अल्लाह आत्मदर्शन की कामना न करता तो उसका प्रतिबिंब अर्थात् इंसान भी न होता। अस्तु, इंसान तभी तक उससे अलग दिखाई देता है, जबतक वह सृष्टि के दर्पण में अपना रूप देखना चाहता है। जब कभी उसने अपनी इच्छा का लोप किया कि इंसान का रूप जाता रहा और वह अल्लाह में मिल गया। तब तो उसके अतिरिक्त और कुछ भी न रहा। इंसान भी वही हो गया जो कि वह था। यही सूफियों का 'अन-अल-हक़' अथवा 'अहं ब्रह्मास्मि' है। यही तसव्वुफ का चरम उत्कर्ष और सूफी-दर्शन की पराकाष्ठा है। प्रतिबिंबवाद ही तसव्वुफ का वास्तविक वाद है कुछ अद्वैतियों का खरा अद्वैत-वाद नहीं। वेदान्ती 'अद्वैत' का अर्थ ठीक वही नहीं समझते जो सूफी समझते हैं। दोनों की दृष्टि वा दर्शन में कुछ भेद भी है कुछ एकता भी। हम इस भेदाभेद की चर्चा फिर कभी करेंगे। यहाँ इतना ही पर्याप्त है।

---

*

१. साहित्य

अरब स्वभावतः कविता के प्रेमी थे। वह कबीला धन्य समझा जाता था जिसमें कवि जन्म लेते थे। शाइर अलौकिक शक्ति-संपन्न व्यक्ति समझा जाता था। उसका प्रधान काम युद्ध में प्रोत्साहन देना और वीरों का गुणगान करना था। उसकी कविता को सस्वर पढ़ने के लिये उसके साथ रावी वा चारण भी रहता था, जो लय के साथ उसे पढ़कर जनता पर जादू का प्रभाव डालता था। अरब कवियों का मुख्य विषय यद्यपि संग्राम ही था तथापि वे प्रेम, सुरा और स्रोत आदि पर भी कविता कर लेते थे। प्रिया के रूपरंग और नखशिख के वर्णन में अरब कुछ उठा नहीं रखते थे; किंतु उसके शील और सद्गुणों पर बहुत ही कम ध्यान देते थे। स्त्रियाँ भी कविता करती थीं। उनमें करुण रस की प्रधानता रहती थी। गजल में प्रिय-प्रिया के संभाषण होते थे और उसमें प्रेम का पूरा प्रसार रहता था। प्रेम-प्रसंग की प्राचीन गजलों में जो भाव व्यक्त हुए हैं उनका आज हकीकी अर्थ भी लगाया जा सकता है। सूफियों को गजल में प्रेम और शराब का जो रंग मिला उसी को उन्होंने कुछ और भी चोखा वा अलौकिक कर दिया। निदान सूफी कवियों का प्रेम-प्रलाप इतना सहज और स्वभाविक होता है कि उसको अलौकिक समझने का का कोई प्रकट आग्रह नहीं होता। पाठक उसे मजाजी या हकीकी कुछ भी समझ सकते हैं। किन्तु कितने ही कवियों को अपनी कविता की व्याख्या इसीलिये करनी पड़ी कि लोग उसके हकीकी अर्थ को नहीं समझते थे और केवल उसके मजाजी अर्थ पर ही लटक रहते थे। अरबी मक्का की किसी रमणी[1] पर मुग्ध था। उस पर उसने जो कविता लिखी उसका अन्त में हकीकी अर्थ निकाला गया। कहने का तात्पर्य है कि प्राचीन अरब कविता में रति के कुछ ऐसे प्रसंग मिल जाते हैं जिनकी व्याख्या

(१) ए लिटेरेरी हिस्टरी आव दी एरब्स, पृ० २३६।

अरबी की पद्धति से हकीकी भी की जा सकती है[1]। अरब में इसलाम के पहले भी प्रेम और सुरा का वही राग आलापा जाता था जिसे सूफियों ने प्रतीक के रूप में ग्रहण किया। 'मोअल्लक़ात' में उमर की जो रचना रक्षित है उसके कतिपय पद्य इतने अनूठे और भव्य हैं कि उनका आज वही अर्थ लगाया जायगा जो खय्याम या हाफिज के पद्यों का लगाया जाता है। उनमें प्रिया से वही शराब माँगी गई है जिसके सेवन से दुःखदर्द सब भूल जाते हैं।

अरब इसलाम या मुहम्मद साहब से पहले अल्लाह की तीन बेटियों की आराधना करते थे। उनमें 'लात' सर्वप्रधान थी। मुहम्मद साहब ने लात का विध्वंस कर दिया किन्तु अरब इसलाम कबूल करने पर भी उसे भुला न सके। किसी न किसी रूप में उसकी आराधना उनमें होती ही रही। उसमें विशेषता इतनी अवश्य आ गई कि अब वे लात की जगह अल्लाह को प्रेमपात्र समझने लगे। अस्तु, अरब में भी वही बात घटी जो इसराएल की संतानों में घट चुकी थी। इसलाम में भी गीत-ग्रंथन किया गया। सुलैमान के गीतों के संबंध में हम पहले भी कुछ कह चुके हैं। 'किताबुल' अग़ानि' में उन्हीं के ढंगके प्रेम का कीर्तन किया गया है। उसमें भोगियों को भोग और योगियों को योग भी मिल सकता है। उसमें माजाज़ी के साथ ही साथ हकीकी का भी दावा किया जा सकता है। अस्तु, इसलाम ने अरबों को नागर बना

---

(१) अरबी की उक्त रमणी पर रचना का भाव है—"मेरी जान क़ुरबान उन गोरी गोरी शर्मीली अरब लड़कियों पर जिन्होंने रुक्न यमानी और हजर असवद के बोसे के वक़्त मेरे साथ ठठोल किया। जब मै उनके पीछे हैरान व सरगर्दान फिरता हूँ तो मुझे उनका पता उनकी ख़ुशबूइयों से चलता है। मैंने उनमें से एक के साथ जो ऐसी हसीन थी कि जिसका कोई नज़ीर न था मोहब्बत से लतीफ़ गुफ़्तगू की। अगर वह अपने चेहरों से नक़ाब उठाकर उसको ज़ाहिर कर दे तो तू ऐसी रोशनी देखेगा कि गोया आफ़ताब बिला तग़ैय्युर तूलूआ हो रहा है। उसकी जबीन (लिलाट) रोशन आफ़ताब है और उसकी ज़ुल्फ़ स्याह शब तारीक। क्या ही प्यारी सूरत है जिसमें रोज़वशब का इज्तिमाअ (जमघट) है।" (तारीख़ फ़लासिफ़तुल इसलाम, पृ० ४०१)।

दिया। उनके प्रेम का सहज अल्हड़पन जाता रहा। भावभंगियों और 'नाज़-अंदाज़' का जमाना आ गया। अरब अदा पर मरने लगे। भोग-विलास को प्रोत्साहन मिला। सामग्री प्रस्तुत थी। पर परदे के कारण रमणी बन्धन में जा पड़ी और मगबच्च सामने आ गए। हुस्न 'हरम' से फूट कर 'बाजार' में फैल गया और इसलाम ने खुले दिल उसका स्वागत किया। अरबी कविता में भी तसव्वुफ बस गया। परंतु फारसी सी कविता उसमें न हो सकी। अरबी में प्रथम श्रेणी के सूफी कवियों का अभाव सा है। अरब स्वभावतः प्रत्यक्षप्रिय और कठोर होते हैं। उनकी परोक्ष वा गुह्य में विशेष रुचि नहीं होती। हाँ, अरबी और फारिज अवश्य ही ऐसे अरबी सूफी कवि हैं जिनका काव्य सूफी साहित्य में आदर की दृष्टि से देखा जाता है। किंतु इनमें भी यदि ध्यान से देखा जाय तो कवित्व की अपेक्षा आचार्यत्व ही अधिक है। अरबी की रति का अलंबन इतना प्रगल्भ है कि उसे सर्वथा अलौकिक मान लेना अत्यन्त कठिन है। इसी से उसको अपनी कविता की व्याख्या स्वयं लिखनी पड़ी। फारिज में प्रतीकों की प्रधानता है। उनके द्वारा उसने अपने मत का प्रदर्शन किया है, कुछ प्रेम-रस का प्रसार नहीं।

तो भी अरबी में जो सूफी साहित्य है उसका अधिकांश स्वयं अरबों का नहीं, बल्कि ईरानियों का रचा है। ईरान में जब मुसलिम शासन आरंभ हो गया तब ईरानियों को भी अरबी का अध्ययन दीन तथा दुनिया के विचार से करना ही पड़ा। ईरानी साहित्य के इतिहास का सबसे विकट और आवश्यक अंग जो अभी तक खुल न सका यह है कि इसलाम के पहले और कुछ बाद तक भी उसकी क्या अवस्था थी। प्रश्न देखने में जितना सरल और स्वाभाविकहै, उत्तर उतना ही कठिन और दुरुह।

हाँ, अल्लामा शिबली सदृश मर्मज्ञ मनीषी का मत है—

"लेकिन चार शेर भी हाथ न आए। फ़ारसी के क़दीम अशआर न मिलते तो न मिलते, लेकिन शुअरा का नाम तो जबान पर होता। जब यह कुछ नहीं तो सिर्फ़ जमीन को वलवलाखेज़ी की शहादत कहाँ तक काम दे सकती है।......इसलिए जब तक ईरान में खालिस अरब की हुकूमत रही फ़ारसी शाइरी ने ज़बान नहीं खोली। इस जमाने में अजम

में हज़ारों शुअरा पैदा हुए लेकिन जो कुछ कहते थे अरबी में ही कहते थे...मामून के ज़माने में मुल्की शुआरा को ख़्याल पैदा हुआ कि मुल्की ज़बान की क़द्रदानी का भी वक्त़ आ गया।...वाक़आत मज़कूरा से ज़ाहिर होगा कि ईरान में शाइरी की इब्तदा क़ुदरती तौर से नहीं, बल्कि इक्तसाबी तौर से हुई।...जो शख़्स शाइर होना चाहता था किताबों के ज़रिए से उसकी तालिम हासिल करता था।[१]

इसमें संदेह नहीं कि उक्त अल्लामा साहब का प्रकृत मत ही मुसलमान का प्रतिष्ठत मत है। इसलामी साहित्य के आधार पर मौलाना शिबली ने जो कुछ कहा है उसमें ननुनच की जगह नहीं। पर विचारणीय प्रश्न यहाँ यह है कि क्या किसी भी सभ्य जाति के इतिहास में यह संभव है कि उसमें किसी प्रकार की कविता प्रचलित न रही हो। उसे रोना और गाना भी किसी अन्य जाति से सीखना पड़ा हो? यदि नहीं, तो ईरान में ही इसका अपवाद क्यों मान लिया जाता है? अलीगढ़-सम्प्रदाय का कहना है—कुछ मिलता जो नहीं।

'अजम' की संस्कृति एवं सभ्यता अरब से बढ़ी चढ़ी थी। ईरानियों के उत्थान-पतन न जाने कितनी बार हो चुके थे। स्वयं रसूल उनके प्रभाव से अछूते न रहे थे। पारसीकोंके पास भी अपने धर्मग्रन्थ थे। अवस्ता और वेद में जो समता दिखाई देती है उसको देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि एक ओर तो एक वर्ग में साहित्य की बाढ़ सी आ गई और दूसरी ओर उसके दूसरे वर्ग में उसके प्राण के भी लाले पड़ गए। हाँ, जो लोग इतिहास से सर्वथा अनभिज्ञ नहीं हैं उनको इस बात का कुछ पता अवश्य है कि इसलाम के पहले भी ईरान की सहज साहित्य-धारा कुछ संकीर्णता से घिर गई थी। बात यह है कि पारसीयों का धर्माचार्य 'जरतुश्त' एक सुधारक साधु था। उसके संबंध में रवि[२]बाबू का कहना है कि वही सर्वप्रथम पुरुष है जिसने मनुष्यमात्र को देश-काल से मुक्त कर आत्मा की स्वतंत्रता की ओर अग्रसर किया और यज्ञ का आध्यात्मिक अर्थ लगाया। कुछ भी हो,

---

(१) शियरुल् अजम, जिल्द चहारुम, पृ० ११२–११५।

(२) दी रेलिजन आव मैन, पृ० ७५, ८२।

इतना तो स्पष्ट है कि जरतुश्त ने ईरान की विचार-धारा को बहुत कुछ सीमित कर दिया और उसके मतके प्रचार से एक विशेष ढंग के साहित्य को ही प्रोत्साहन मिला। जरतुश्त के अनंतर ईरानियों का विकास स्वाभाविक ढंग पर न हो सका। उनको एक संकुचित क्षेत्र से चलना पड़ा। प्राचीन धर्मग्रन्थों की व्याख्या आरंभ हुई और ईरानी अवस्ता, जेंद, पजंद की रचा में लग गए। परंतु मनुष्य की बुद्धि जब घेर दी जाती है तब वह उसी कठघरे के भीतर चुपचाप पड़ी नहीं रहती, बल्कि कुछ न कुछ अपना जौहर दिखाती ही रहती है—यदा कदा उसकी स्फूर्ति होती रहती है। बात यह है कि जरतुश्त के मतावलंबी भी पूरे कर्मकांडी हो गए थे और उनका ध्यान भी स्वभावतः कर्मकांड ही पर अधिक रहता था। फलतः जो कुछ चिंतन किया जाता था वह उन्हीं कर्मकांडों के प्रतिपादन के लिये होता था और इसीसे उपनिषदों की भांति 'गाथा' में अध्यात्म विद्या का रहस्य नहीं खुला। फिर भी देखने से पता चलता है कि ईरान में भी कुछ तपी, त्यागी और उदात्त[1] पुरुष थे ही। उनका भाव-भजन किस प्रकार चलता रहा इसका हमें ठीक-ठीक पता नहीं। परंतु इतना हम जानते हैं कि उनमें उन्हीं बातों की प्रधानता थी जो आगे चलकर सूफियों में प्रकट हुई। दक़ीक़[2] ने जो सुरति, सुरा, संगीत और जरतुश्त का गुणगान किया वह अति प्राचीन संस्कार का नवीन उद्गार भर था जो इसलाम के बाहरी दबाव के कारण छिद्र देखकर कहीं से फूट निकला था। ईरान की सूफी कविता में इस प्रकार के उद्गारों की कमी नहीं है। न जाने कितने कवियों ने ज़रतुश्त का स्मरण किया और मगों की मुरीदी की। 'पीरेमुग़ां' तो कवियों का प्रतीक ही हो गया है। कहने का तात्पर्य यह कि जरतुश्त के प्रचार और इसलाम के आवर्त्त ने सब कुछ किया पर पारस को मगों से मुक्त नहीं किया। फारसी-साहित्य के मग ही गुरु बने रहे। निदान मानना पड़ता है कि इसलाम के पहले भी ईरान की कोई न कोई काव्य-परम्परा अवश्य थी जिसका नाश अल्लाह के कट्टरबंदों ने कर दिया।

(१) दी ट्रेजर आव दी मगी, पृ० ११४।
(२) ए लिटेरेरी हिस्टरी आव पर्शिया, प्रथम भाग पृ० ४५९।

इसलाम के प्रचार के पहले ईरान में सुशील अनूशीरवाँ का राज्य था। उसके शासन में कवियों पर किसी प्रकार का शासन न था। उसकी उदारता की प्रशंसा मुसलिम भी खूब करते हैं। उसके युग में ईरान ने सभी कलाओं में पूरा योग दिया और उनकी उन्नति की, तो केवल कविता में ही वह पीछे क्यों रह गया? इसका भी तो कुछ उत्तर होना चाहिए? उसके बहुत पहले इस पराधीन देश ने काव्य-कला का प्रदर्शन नहीं किया तो नहीं सही, किन्तु उसके वंश में तो उसे पूरी स्वतंत्रता मिली थी? सभी उत्थान को आकुल थे? फिर बिचारी कविता ही क्यों अलग रही? तात्पर्य यह कि ईरान की उस समय की प्रचलित भाषा में किसी न किसी ढंग की कविता अवश्य होती थी और अधिकतर उसमें प्रेम और मदिरा के गीत भी रहते ही थे। इसलाम के अवरोध के कारण उनका प्रवाह बदला और उनका स्थान नवीन छंदों को मिला। [1]मसऊदी का कहना है कि ईरानी अपने मत को इब्राहीम का मत अथवा जरतुश्त को इब्राहीम कहने लग गए थे। जब जरतुश्त की यह दशा थी तब पुराने 'शुअरा' के नाम किसकी जुबान पर कैसे रह सकते थे? आसमानी किताब के बंदों को इंसानी किताब से काम ही क्या था जो चार शेर किसी के हाथ आते? किसी ने हाथ भी तो पसारा होता? उलटे हुआ तो यह कि सारी ईरानी रचना ढूँढ़ ढूँढ़कर जला दी गई और 'ईरानी' का व्यवहार भी अपराध समझा गया[2]। ईरान ही नहीं, अन्यत्र भी मुसलमानों ने प्रायः यही किया।

---

(१) स्टडीज़ इन एंशियंट पर्शियन हिस्टरी, पृ० २३।

(२) राजनीति के विचार से पर-भाषा के विषय में 'ख़लीफ़ा मामून' का कहना यह था कि यदि विजित जाति के किसी कवि ने अपनी देशभाषा को अपने विचारों का साधन बनाया और उसके द्वारा उनको प्रजा में फैला दिया तो राजा का राज करना कठिन हो जायगा। इसलिये प्रजा की भाषा का विनाश होना चाहिए। मजहब के विचार से ख़लीफ़ा उमर का निश्चय था कि 'क़ुरान' के अतिरिक्त किसी 'ग्रंथ' की आवश्यकता नहीं। कारण कि यदि उसमें सत्य है तो वह कुरान में है ही और यदि और कुछ है तो उसके होने की आवश्यकता नहीं। बस उसे पानी में डाल दो अथवा

मुसलमानों के उपद्रव से तंग आकर जो पारसी भारत में आए उनके लिए अपने प्राण ही भारी थे ; उन पर अन्य पुस्तकों का बोझ कहाँ तक लादा जा सकता था ? फिर भी उन्होंने उन ग्रंथों की रक्षा की जो कर्मकांड के विधायक थे । उनमें कविता की झलक कहाँ तक अपना राज्य दिखाती है इसका कुछ पता दीनशाह ईरानी की 'सखुनवरान दौरान पह्लवी' की भूमिका से चल जाता है, और उससे यह भी प्रकट हो जाता है कि किस प्रकार ईरान की वाणी का अरबों के द्वारा सर्वनाश हुआ ।

हाँ, तो हमारा कहना है कि 'अजम' में इसलाम के पहले भी कविता होती थी । उसके न मिलने का प्रधान कारण इसलाम की संकीर्णता है । मुसलमानों ने एक ओर जब पुस्तकों को जला दिया और दूसरी ओर जब इंसान को कुरान के भीतर घेर दिया तब फिर कविता के लिये मुक्त क्षेत्र कहाँ रहा ? अरबी कुरान की भाषा थी । इसलाम की वही पाक जबान थी । उसीमें कुरान, हदीस, सुन्ना आदि का चयन हो रहा था । अतः पह्लवी को छोड़ कर अरबी की पैरवी करना ही मजहब की पुकार थी । ईरानी भी अरबी में ही लिखे, यही विधान था । एक कट्टर अरबी ख़लीफ़ा[१] को तो यहाँ तक आश्चर्य है कि ईरानी इतने वर्षों तक राज्य करते रहे पर उन्हें कभी अरबों की आवश्यकता न पड़ी, किंतु शती मात्र के शासन में अरबों को उनकी सहायता अनिवार्य हो गई । बात यह है कि ईरान को समय के साथ चलने की टेव है । उसमें तिनके की ऐंठ नहीं वेतस की वृत्ति है । इसीसे झुककर उसने इसलाम को अपनी मुट्ठी में कर लिया । जब तक विवश था, अरबी का भक्त बना रहा, पर अवसर पाते ही सचेत हुआ और ईरानी का पल्ला पकड़ 'फ़िरदौसी' जैसे प्रौढ़ राष्ट्र कवि को जन्म दिया, जिसे अरबी शब्द तक से चिढ़ थी और जो अरबी की अवहेलना करते हुए भी शाहनामा सा विश्व विख्यात ग्रंथ रच सका । कहा जाता है कि शाहनामा को प्रस्तुत करने में फिरदौसी को उन[२] वृत्तों से

आग में जला दो । फलतः मुसलमानों ने उस समय किया भी यही । इसके लिए देखिए 'सखुनवरान दौराने पह्लवी, पृष्ठ ५७, ५८ ।

(१) उमर ख़य्याम एंड हिज एज, भूमिका पृ० १८ ।

(२) पार्शियन लिटरेचर, पृ० १४ ।

पूरी मदद मिली जो जनता में गीति के रूप में प्रचलित थे। जान पड़ता है कि पह्लवी भाषा में इस प्रकार की कविता वा वीरगाथाओं का पूरा प्रचार था। मुसलमानों की क्रूरता अथवा अरबों के प्रकोप[1] के कारण ही उसका लोप हुआ अन्यथा उसके दो चार शेर तो अवश्य हाथ लग जाते। और लगे भी तो हैं? परन्तु उन्हें देखता कौन है? आज हैदराबाद के उदार[2] शासन में देश भाषाओं के लिये जो हो रहा है उसे कौन नहीं जानता? तो वह समय तो कुछ और भी निराला था।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि 'अजम' में भी कविता का उदय बिलकुल 'कुदरती' तौर पर हुआ था, 'इक्तसाबी तौर' पर नहीं। अर्थात् ईरान में भी कविता ईरानी कंठ से अपने आप ही फूट पड़ी थी कुछ अरब के द्वारा फोड़ी

---

(१) ध्यान देने की बात है कि शम्सुल उलमा अलहाज श्री मुहम्मद अब्दुल गनी साहब ने इस प्रश्न पर विशेष ध्यान दिया है और भरसक इस सत्य को फूंक से उड़ा देने का प्रयत्न किया है। माना कि ईरानी ग्रंथों का नाश 'ग्रीक और पार्थियों' के शासन में हुआ परन्तु 'सासानी' शासन में जो कुछ बना वह किस 'ग्रीक' के हाथ कहाँ गया? नहीं, ऐसा हो नहीं सकता। आजकल के हिन्दी मुसलमान अरब-गुणगान में चाहे जो कुछ कहे पर यह ध्रुव सत्य है कि अरबों ने अपनी प्रभुता के मद में ईरानी वाङ्मय का विनाश किया। साक्षी के रूप में 'अब्दुल रहमान इब्न खल्दू' से विचारक, 'अबूरेहाँ अल् बेरुनी' से पंडित और 'दौलतशाह समरकन्दी' से साहित्यशास्त्री का उल्लेख भर पर्य्याप्त होगा। इन सभी उद्भट विद्वानों ने एक स्वर से माना तथा बताया है कि ईरानी वाङ्मय का विनाश अरबी शासन में किस प्रकार हुआ। आप इसे चाहे इसलाम का प्रताप समझें चाहे अरब-शासन की नीति, पर हुआ यही। श्री 'गनी' साहब के विचार के लिये देखिए उनकी पुस्तक 'प्रीमुगल पर्शियन, इन हिंदुस्तान' पृ० ६३-६७।

(२) श्री 'गनी' महोदय को ठंडे दिल से विचार करना चाहिए और देखना यह चाहिए कि 'खलीफ़ा मामून' के शासन में ठीक उसी प्रकार अरबी भाषा और साहित्य की वृद्धि हुई जिस प्रकार आज नव्वाब 'उसमान अली' के शासन में उनकी भाषा उर्दू की हो रही है। 'मामून' ने भी 'ईरानी' को उसी दृष्टि से देखा जिस दृष्टि से हजरत

नहीं गई थी। जो हो, मानीमन के जो अवशिष्ट[1] मिले हैं उनमें मादनभाव का विधान है ही। निदान हमको मानना पड़ता है कि ईरान में कवि बराबर पैदा होते रहे परन्तु फारसी में कविता करने की परिपाटी तब चली जब ईरान इसलाम का उपासक हो गया और अरबी में काफी साहित्य पैदा कर चुका। अतः उस समय उसके लिये यह उपयोगी न था कि इसलाम और अरबी की सर्वथा उपेक्षा कर किसी नवीन पद्धति पर चलता। निदान जब ईरानी इसलाम में अपनी अलग जगह बना सके और इसलाम का शासन भी ढीला पड़ गया तब फिर वे अरबी को तिलांजलि दे फारसी में कविता करने लगे। ईरानियों की इस मनोवृत्ति पर लोग हैरान होते हैं और आश्चर्य के साथ कहते हैं कि पुराने लोगों ने ईरानियों को सच्चा क्यों समझ लिया था; क्योंकि इसलाम में सारे उपद्रवों के कारण वास्तव में ईरानी ही तो थे ? बात यह है कि ईरान को अपनी संस्कृति और सभ्यता का गर्व है। इसलाम की आँधी में उसका पतन तो हो गया, पर उसे अपना स्वरूप न भूला और वह समय पाते ही जहाँ तहाँ फूट निकला। तसव्वुफ और फारसी-साहित्य उसी का परिणाम है। शीआ-मत तो आज भी ईरान का राजमत है। सारांश यह कि इसलाम के प्रचार के पहले और बाद में भी ईरान में सच्ची कविता का सर्वथा अभाव न था। सच तो यह है कि जो बीज बहुत दिनों से ईरान की जनता में दबा[2] पड़ा था वही अब्बासियों के पतन से लहलहा कर फूट निकला और 'सामानी' शासन में अपने आमोद से इसलाम को सुरभित भी कर दिया।

'उसमान' 'हिंदी' को आज देख रहे हैं। रही 'उदार' अकबर की बात ! सो दुनिया जानती है कि उसीके उदार शासन में हिंदी 'शासन' (फ़रमान) से हटी और 'सिक्का' से भी दूर हुई। सच तो यह है कि जिसे प्रोफेसर 'गनी' साहब प्रमाण समझते हैं वही उनके प्रतिकूल गवाही देता है और यह प्रकट दिखा देता है कि किस प्रकार कुशल और कूटज्ञ शासक प्रजा की भाषा का संहार करते हैं और शासित को अपनी बोली बोलने को विवश कर देते हैं। श्री 'गनी' के तर्क के लिये देखिए 'प्री-मुगल पार्शियन' का वही अंश।

(१) मुसलिम रिव्यू, १६२७ ई० भाग २; पृ० ३०।

(२) डाक्टर मोदी मेमोरियल वाल्यूम, पृ० ३४१-४४।

अस्तु, सूफी-साहित्य के वास्तव में तीन अंग हैं। यद्यपि सूफियों की प्रतिष्ठा उनके मुख्य अंग काव्य पर ही अवलंबित है तथापि उसके अन्य अंगों का भी, सूफी-साहित्य की समीक्षण में, पूरा पूरा विचार होना चाहिए। तसव्वुफ के विवेचन में सूफियों के उन निबंधों तथा ग्रंथों का प्रमुख स्थान है जिनमें उनके आचार्यों ने तसव्वुफ पर विचार और स्वमत का प्रतिपादन किया है। सूफीमत के परिपाक में प्रसंगवश जहाँ तहाँ उन आचार्यों का उल्लेख किया गया है। यहाँ इतना और स्पष्ट कह देना है कि इस प्रकार के ग्रंथों में भी स्वतंत्र चिंतन और आत्म-जिज्ञासा की अपेक्षा उन बातों से बचने पर ही अधिक ध्यान दिया गया है जिनके कारण उनका मत इसलाम के प्रतिकूल समझा जाता था और लोग उन्हें जिंदीक समझते थे। सूफियों ने अपने विचारों की जो कुरान या इसलाम से संगति बैठाने की चेष्टा की उन्हीं का व्यवस्थित रूप इन निबंधों वा ग्रंथों में प्रायः पाया जाता है। इस-लाम के उत्थान से मुसलिम समाज में जो नाना प्रश्न उठे थे उनके समाधान का प्रयत्न बहुतों ने किया। मजहबी विचार होने के कारण उनको मजहबी जबान में लिखना उचित समझा गया। यही कारण है कि सूफियों के इस कोटि के विवेचना-त्मक ग्रंथ अधिकतर अरबी में ही हैं

सूफीमत की प्रतिष्ठा अथवा तसव्वुफ की संस्थापना के लिए लिखे तो बहुत से ग्रंथ गए, किंतु ख्याति कुछ ही को मिली। सूफीमत के संस्थापकों में गज्जाली को मुख्य कहना चाहिए। उसकी 'इहयायउलूमुद्दीन' ने सचमुच तसव्वुफ को जीवन-दान दिया। उसके अनंतर एक भी विचारशील मुसलमान ऐसा न हुआ जिस पर तसव्वुफ का कुछ [1]प्रभाव न पड़ा हो। श्रीमैकडानल्ड[2] का तो यहाँ तक कहना है कि सभी विचारशील मुसलमान सूफी हैं। यह बात दूसरी है कि बहुत से इस बात को नहीं जानते कि वे वास्तव में सूफी हैं, जो हो, गज्जाली का यह प्रयत्न प्रशंसनीय है। उसके पहले भी अनेक सूफियों ने तसव्वुफ पर कुछ न कुछ लिखा था। यजीद,

---

(१) दी हिस्टरी आव फ़िलासफ़ी इन इसलाम, पृ० १५५।

(२) ऐस्पेक्ट्स आव इसलाम, पृ० ११५।

जुनैद आदि ज्ञानियों के निबंधों का तो उसने अध्ययन ही किया था। हल्लाज की प्रसिद्ध पुस्तक 'किताबुलतवासीन' में भी तसव्वुफ का विशद वर्णन है। पर तसव्वुफ का तात्त्विक विवेचन जितनी गंभीरता के साथ अरबी ने किया वैसा कभी इसलाम में न हुआ। उसने 'फ़तूहात मक्किया' और 'फुसूसुल्हिकम' में जिस तथ्य का निरूपण एवं सत्य का उद्घाटन किया वह आज भी इसलाम में अपना सानी नहीं रखता। वह तर्क-वितर्क से बहुत कुछ निर्भय और सुरक्षित है। अरबी की दार्शनिक दृष्टि बहुत कुछ वेदांतियों से मिलती है और वह अद्वैतवादी प्रतीत होता है। अरबी के अनंतर जिली ने 'इंसानुलकामिल' नामक निबंध में बहुत कुछ इमाम गज्जाली का पक्ष लिया और मुहम्मद साहब को ईश्वर तक सिद्ध कर दिया। यहाँ ईश्वर से तात्पर्य वेदांतियों के उपाधिधारी ब्रह्म से है, भक्तों के भगवान् से नहीं उक्त ग्रंथों के अतिरिक्त कुशेरी का 'रिसाला' और सुहरावर्दी का 'अवारिफुल्म्वारिफ' नामक निबंध सूफियों के प्रसिद्ध पथप्रदर्शक ग्रंथ हैं। उनसे सूफियों की अनेक बातों का पता चलता है। महमूद शबिस्तरी की पुस्तक 'गुल्शने राज़' फ़ारसी की एक प्रसिद्ध पुस्तक है जिसे गुह्य विद्या के प्रेमी खूब पढ़ते हैं। प्रश्नोत्तर के रूप में उसमें तसव्वुफ का 'राज़' (भेद) खोला गया है। 'इराक़ी' की पुस्तक 'लमात' चंपू है। उसमें गद्य और पद्य दोनों के द्वारा प्रेम-पथ का अच्छा निदर्शन किया गया है। इनके अतिरिक्त और बहुत से निबंध तसव्वुफ पर लिखे गए परंतु उनको सूफी-साहित्य में कुछ विशेष महत्त्व नहीं मिला। उनके विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं।

सूफी-साहित्य के द्वितीय अंग से हमारा तात्पर्य उन निबंधों तथा ग्रंथों से है जिनमें सूफियों का जीवन-वृत्त या परिचय दिया गया है। अरबी तथा फारसी दोनों ही भाषाओं में इस विषय की बहुत सी पुस्तकें हैं जिनमें सूफियों का विवरण एवं उनकी करामत का प्रदर्शन किया गया है। देखने से पता चलता है कि सूफी-साहित्य का यह अंग भी पुष्ट है; हमारे यहाँ की तरह उपेक्षित नहीं। 'अत्तार' की पुस्तक 'तज़किरातुल औलिया' को कौन नहीं जानता? उसमें आरंभ के सूफियों का तो विवरण है ही, उससे सूफीमत के इतिहास पर भी पूरा प्रकाश पड़ता है। दौलत

शाह ने कवियों का जो परिचय दिया है उसमें भी अनेक सूफियों का हाल है। उसकी 'तज़किरातुल शुअरा' नामक पुस्तक से सूफियों के विषय में बहुत कुछ जाना जाता है। 'जामी' इस क्षेत्र में किसी से पीछे नहीं रहा। उसकी किताब 'नफ़हातुल-उंस' में सूफी संतों के जीवनवृत्तों का अच्छा संकलन है। इनके अतिरिक्त भी बहुत से छोटे मोटे ग्रंथ हैं। सूफियों के संबंध में तो पिछले लोग नित्य ही कुछ कहते रहते थे। उनके लेखों का विवरण कहाँ तक दिया जा सकता है। प्रस्तुत प्रसंग के लिए इतना ही पर्याप्त है।

सूफी-साहित्य का तृतीय अंग काव्य है। काव्यानंद ही तसव्वुफ का प्राण है। आज हम जो सूफियों का नाम लेते हैं, उसका सर्वप्रधान कारण यह है कि हमें उनके काव्य का कुछ रस मिल गया है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो सूफी-साहित्य के अन्य अंग इसी पर अवलंबित हैं और इसी की पूर्ति के लिये रचे गए हैं। सूफियों ने काव्य के भीतर जिस सत्य का आभास दिया तथा कविता में जिस तथ्य का निर्देशन किया वह इसलामी साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है। सूफियों की जो कुछ प्रतिष्ठा या ख्याति है वह उनके काव्य और प्रेम पर ही निर्भर है। उनके तात्त्विक विवेचन को कितने लोग जानते हैं ? उनके दर्शन को कितने लोग मिथ्या पाखंड नहीं समझते ? उनको कितने लोग जिंदीक़ नहीं मानते ? परंतु फिर भी लोग सूफियों का सत्कार क्यों करते हैं ? उनकी प्रशंसा में क्यों लगते हैं ? यही न कि उनके काव्य अथवा प्रेम-प्रलाप में जो आनंद आता है वह अन्यत्र नहीं मिलता और होता भी है अनिर्वचनीय अथवा ब्रह्मानद सहोदर ही ? सचमुच सूफियों के प्रेम प्रवाह में वह शक्ति है जो उनके काव्य को अमृत बना देता है और लोग उसके आस्वादन में अपने को भूल जाते हैं।

सूफी काव्य के परिशीलन से पता चलता है कि सच्चे सूफियों का ध्येय काव्य करना न था। काव्य के आवरण में उन्हें जिस सत्य का प्रकाशन करना था तथा जिस तथ्य का निरूपण एवं जिस प्रेम का प्रदर्शन करना था उसका आभास हमें उनके अध्यात्म के प्रकरण में मिल चुका है; और हमने यह भी देख लिया है कि प्रतीकों के आधार पर किस प्रकार लौकिक के रूप में अलौकिक का बोध कराया

गया है। यहाँ केवल इतना स्पष्ट कर देना है कि सूफियों ने किस पद्धति का अनुसरण कर काव्य-प्रवाह को हृदयग्राही और रोचक बना दिया। लोग उनकी बातों को क्यों ध्यान से सुनने लगे और 'गैरइसलामी' होने पर भी उसकी प्रशंसा करते रहे।

सूफी हृदय के पक्के पाबंद होते हैं। प्रेम के सामने 'मजहब' से उनका कुछ मतलब नहीं होता। इश्क से ही उनका नाता रहता है। भाव के व्यापार में वे मग्न रहते हैं। वादविवाद या तर्क-वितर्क की खटपट में नहीं पड़ते। यही कारण है कि मौलाना रूमी तथा अत्तार जैसे मनीषी सूफियों ने अपने मत के प्रतिपादन के लिये उस प्रणाली का अनुसरण किया जो मनोरम और रोचक थी और जिसके रोम रोम से हृदय बोल रहा था। मौलाना रूमी की मसनवी के विषय में कुछ कहने की जरूरत नहीं। उसमें कुरान का सार और तसव्वुफ का सर्वस्व है। मौलाना जब झोंक में आते थे और खंभे की चारों ओर चक्कर काटने लगते थे तब उनके हृदय से काव्य-धारा फूट पड़ती थी और लोग उसे टाँक लिया करते थे। अन्योक्ति वा रूपक के सहारे कल्पित या प्राचीन कथाओं के आधार पर मौलाना रूम ने जिस रहस्य का उद्घाटन किया वह आज भी तसव्वुफ में पूरा पूरा प्रतिष्ठित है। इसलाम में जो मर्यादा कुरान की है, तसव्वुफ में वही प्रतिष्ठा मौलाना रूम की मसनवी की है। सूफी उसी के द्वारा प्रेम-पीर को जगाते और उसीके पारायण से पथभ्रष्ट होने से बच जाते हैं। अत्तार ने भी उक्त मौलाना का अनुसरण किया है। उसकी मसनवी 'मंतिकुत्तैर' में पक्षियों की वार्ता है। जीव संसार के रूपरंग में किस प्रकार लिपटा है, भोग विलास मे लीन है, और सद्गुरु के आदेश अथवा अन्तरात्मा की पुकार से विचलित हो किस प्रकार प्रियतम की ओर उन्मुख हो चल पड़ता है, पर बीच ही में लोभ विशेष के कारण फंस जाता है और फिर उचित आदेश पा अपने लक्ष्य में लीन हो अपने को सत्य समझता एवं परमात्मा और जीवात्मा का एकीकरण कर अपनी वास्तविक सत्ता का परिचय प्राप्त कर लेता है, यही तो अत्तार की मसनवी का अभीष्ट है? इसीको तो वह इस प्रकार दिखाना चाहता है? सनाई ने कुछ पहले जिस तथ्य का संकेत किया था उसीको चित्रित कर रूमी और अत्तार ने तसव्वुफ को

इतना मूर्त्त बना दिया कि अंधे भी टटोल कर उसे समझ सकते हैं और सत्य के प्रकाश में अपनी अन्तरात्मा को देख सकते हैं अथवा परम प्रियतम का साक्षात्कार कर सकते हैं।

कथानकों के आधार पर मसनवियों में जो बात कही जाती है वह सीधे दिल में बैठ जाती है और जनता सुनती भी उसे बड़े चाव से है। पर गजल में यह बात नहीं होती। उसमें तो सरस छीटों से ही काम लिया जाता है, और प्रेमी तड़प तड़प कर रह जाता है। फिर भी फारिज ने इस क्षेत्र में वही किया जो उक्त कवियों ने मसनवियों में किया था। प्रसिद्ध है कि फारिज भी जब हाल की दशा से सचेत होता तभी अपने भावों को व्यक्त करता था। फारिज के पद्यों में उसके भाव स्पष्ट झलकते हैं और उससे तसव्वुफ पूर्णतः प्रकट हो जाता है। किंतु भावनाओं की व्यंजना मात्र से फारिज को संतोष नहीं होता। वह तो अपने मत के प्रतिपादन मे निमग्न हो जाता है। उसकी रचनाओं में कहीं कहीं जो अलौकिक झलक दिखाई पड़ती है उसीके प्रकाश में हम उसके परम प्रियतम का साक्षात्कार कर पाते हैं। अरबी में वही एक कवि है जो फारसी के प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित कवियों से टक्कर ले सकता है। फिर भी फारिज सर्वथा अरब है। उसमें वह रोचकता, वह कोमलता, वह प्रसन्नता नहीं जो हाफिज के पद्यों में कूट कूट कर भरी है।

सचमुच 'हाफ़िज़' में काव्य-कला की पराकाष्ठा है। रूमी कवि से कहीं अधिक आचार्य हैं, किंतु हाफिज में आचार्यत्व का नाम तक भी नहीं है। हाफिज फारस के सच्चे कवि हैं। ईरान उन्हीं की वाणी से बोलता है। 'लिसानुलगैब' या 'परोक्ष की वाणी' वे कहे भी जाते हैं। हाफिज के पदों में जो प्रसाद है, जो रस है, जो सफाई है, वह अन्यत्र कहाँ? इतना अवश्य है कि हाफिज ने अलौकिक को लौकिक के आवरण में इस ढंग से लपेट कर रख दिया है कि उसको लौकिक से अलौकिक समझ लेना अत्यंत कठिन हो जाता है। कुछ लोग तो उनकी सुरति और सुरा को और कुछ मानते ही नहीं।

फारसी के इन चार प्रसिद्ध कवियों के अध्ययन के उपरांत किसी अन्य कवि के अध्ययन की आवश्यकता नहीं रह जाती। संपूर्ण फारसी साहित्य में 'फिरदौसी' ही

एक ऐसा कवि है जो अपने क्षेत्र में अद्वितीय और सारे मुसलिम साहित्य में निराला है। उसमें तसव्वुफ का नाम नहीं। शेष तीन कवियों में रूमी और हाफिज पक्के सूफी हैं। हाफिज में फारस की प्राचीन संस्कृति का प्रेम भरा है और वे ढोंगी सूफियों को कोसते भी खूब हैं। सादी में यद्यपि तसव्वुफ की मात्रा कम नहीं है तथापि उनका ध्यान सदाचार पर ही अधिक टिका है। फिरदौसी और किसी अंश तक सादी को छोड़ कर फारसी के शेष जितने अच्छे कवि हुए हैं सभी सूफी हैं और प्रेम-पीर का प्रचार करते हैं।

सूफी कवियों के प्रसंग में उमर खय्याम को छोड़ जाना शायद आजकल अपराध ही समझा जायगा। फारसी साहित्य में तो खय्याम गणित और ज्योतिष के लिये ही प्रसिद्ध था, सूफी कविता के लिये इतना कदापि नहीं। परंतु उसकी स्वच्छंदता पश्चिम को इतनी प्रिय लगी कि उसके सामने फारसी के सारे कवि फीके पड़ गए आज रूमी और हाफिज को लोग भूल से गए, पर खय्याम की सज-धज सर्वत्र जारी है। श्री मैथिमीशरण गुप्त जैसा वैष्णव कवि उसके अनुवाद में लीन है और उसके पद्यानुवाद को सुरा के साथ शान से प्रकाशित कराता है। मतलब यह है कि खय्याम की कविता समय के अनुकूल है। उसके प्रशंसकों को इस बात की चिंता नहीं कि उसकी रूबाइयों में कुछ किसी अन्य का भी योग है अथवा नहीं। सईद और खय्याम इस ढंग के व्यक्ति हैं जो परंपरा का आदर नहीं करते और जो रस्मपरस्ती से चिढ़ते तथा सर्वथा स्वच्छंद रहते हैं। खय्याम के विषय में तो बहुतों की धारणा है कि वह सुरति और सुरा का सचमुच भक्त था और किसी व्यक्त 'साक़ी' से ही अपना दुखड़ा रोता था और 'अंगूर की बेटी' में ही उसे सब कुछ दिखाई देता था। कुछ भी हो, खय्याम आनंद के लिये कविता करता था और मौज में आकर ही शेख, मुल्ला और काजी की खूब खबर लेता था। उसका उदय भी फारसी के आदि काल मे हुआ था जो मुल्लाओं के प्रकोप का काल था।

उमर खय्याम से आते आते हाफिज तक सूफी काव्य इतना व्यापक और पूर्ण हो गया कि उसके किसी भी अंग की पूर्ति की आवश्यकता न रह गई। हाफिज के अनंतर जितने कवि हुए हैं सभी सच्चे सूफी नहीं हैं, किंतु कविता सबकी सूफी रंग

में डूबी हुई है। उनके भावों, विचारों और प्रतीकों में कुछ नवीनता नहीं दिखाई पड़ती। जान पड़ता है कि उनको कही हुई बातों के कहने में ही रस मिलता है। फारसी में कविता करे और सुरति तथा सुरा का गुणगान न करे यह असंभव है। अनुकृति के कारण सूफी कवियों में भी कृत्रिमता आने लगी और काव्य-धारा का सहज प्रवाह रुक सा गया। उसकी स्वच्छता जाती रही। उसमें बनावट की बू आने लगी। हाफिज के बाद जामी ही सफल कवि निकला। उसकी प्रतिभा बहुमुखी थी। उसमें फिरदौसी, सादी, रूमी और हाफिज आदि सभी के कुछ न कुछ गुण मौजूद थे। उसकी मसनवी, 'युसूफ़ व जुलेखा' का फारसी साहित्य में बराबर सत्कार होता रहा है। उसकी अन्य रचनाएँ भी कम नहीं हैं। उनसे तसव्वुफ के अध्ययन में मदद मिलती है।

भारत में जो सूफी काव्य धारा उमड़ी उसके संबंध में स्वतंत्र रूप से विचार करने का संकल्प है। अतः यहाँ केवल इतना ही कह देना पर्याप्त है कि भारत में भी अमीर खुसरो सा फारसी का प्रसिद्ध सूफी कवि हुआ जिसकी कविता की धाक ईरान में भी जम गई और न जाने कितने ईरानी उसके शिष्य हो गए। और मुगल शासन में तो भारत फारसी कवियों का अड्डा ही हो गया। आज भी फारसी कवियों की सुधि दिलाने के लिये जहाँ तहाँ हिन्दी कवि फारसी में रचना कर रहे हैं। और स्व० डाक्टर सर मुहम्मद 'इक़बाल' तो उसीके हो कर मरे हैं। उनका लेखा कौन ले? इन सूफी कवियों में कतिपय ऐसे भी हुए जिन्होंने अन्य विषयों पर भी रचना की। पर सूफीमत के प्रसंग में इन पर विचार करने की आवश्यकता नहीं।

अस्तु, यहाँ हमको अब यह देख लेना चाहिए कि सूफी-काव्य की प्रगति किस ओर अधिक रही और विश्व-साहित्य में उसका क्या महत्त्व है। सो इतना तो प्रकट ही है कि सूफी साहित्य का क्षेत्र अत्यंत ही संकुचित है। सूफी कवियों ने जैसे शपथ सी ले ली है कि सुरति और सुरा से वे स्वप्न में भी एक पग भी आगे न बढ़ेंगे और यदि कभी अवसर भी मिला तो बस चमन से कब्र तक दौड़ लगा लेंगे। पर इससे आगे और कुछ भी न करेंगे। सूफी शाइरी में से यदि साकी और बुलबुल को निकाल दिया जाय, इश्क और शराब का नाम लेना बन्द कर दिया जाय, चमन और कब्र से परहेज किया जाय तो सूफी-काव्य का उसी क्षण अंत हो जाय। संसार में रहते

हुए मनुष्य के जो नाना व्यापार होते हैं, प्राणियों में परस्पर जो नाना संबंध स्थापित हो जाते हैं, हृदय में जो नाना प्रकार के भाव उठते हैं, मनोरागों के जो भाँति भाँति के कल्लोल होते हैं, उनके विषय में सूफी कवि सर्वदा मौन ही रहे हैं। उनके यहाँ तो बस केवल प्रेम का प्रसंग छिड़ा है, साकी की पुकार मची है, शराब का प्याला ढला है। और यदि कभी इससे फुरसत भी मिलती है तो वही चमन का रोना है, कहीं मानव-जीवन का देखना नहीं। जिन्होंने देखा भी है भरपूर नहीं; इधर उधर से कोई कोना झाँक भर लिया है। हाँ, हिन्दी भाषा के कवियों ने कुछ और अवश्य किया है। मलिक मुहम्मद जायसी की 'पदमावत' में क्या नहीं है?

प्रेम के प्रसंग में भी यह स्मरण रखना चाहिए कि इन सूफियों के सामने केवल मादन भाव रहा है। एक रति के आधार पर भारतीय भक्त न जाने कितने भावों की भक्ति करते हैं, किंतु ले-दे के सूफी वहीं रह जाते हैं। मादनभाव से रत्ती भर भी नहीं डिगते। बस, मुसलिम दास्यभाव का हामी और सूफी मादनभाव का भूखा है। माधुर्य भाव पर भी वह विशेष ध्यान नहीं देता। मादनभाव में भी केवल पूर्व राग का वर्णन खुल कर करता है। पूर्वराग में ही वियोग इतना प्रगल्भ हो उठता है कि प्रेम की सारी अवस्थाएँ उसपर वहीं उतर आती हैं और उसका निधन तक हो जाता है। सूफी इसीको प्रणय समझते हैं। सारांश यह कि सूफी-काव्य में विप्रलंभ ही प्रधान है और सर्वत्र उसी का राज्य है। विश्वसाहित्य के इस क्षेत्र में सूफियों की जोड़ नहीं। वसुधा का प्रेम-साहित्य आज सूफियों के प्रेम से प्रभावित है। सचमुच सूफी कविता ईरान के उल्लास और पतन की मुद्रा है। उसके द्वारा हम उसके हृदय में पैठ सकते हैं; पुरुषार्थ में नहीं। इसके लिये हमें कहीं अन्यत्र जाना होगा।

१०. ह्रास

सूफियों के व्यापक प्रभाव को देख कर यह जानने की इच्छा स्वतः उत्पन्न हो जाती है कि उनकी आधुनिक परिस्थिति कैसी है और वे किस प्रकार अपने मत के प्रचार में लीन हैं और इसलाम या मुसलिम शासकों की धारणा उनके प्रति क्या है। सो गत प्रकरणों में हम पहले ही देख चुके हैं कि सूफियों की दशा सदा बदलती रही है—कभी तो उनके सद्भावों का पूर्णतः आविर्भाव हुआ तो कभी फिर उन्हीं भावों का सहसा तिरोभाव। बात यह है कि जब कभी बाहरी बातों का आतंक छा जाता है, लोग कर्मकांडों में आवश्यकता से अधिक निरत हो जाते हैं और किसी अंतरात्मा की पुकार नहीं सुनी जाती, तब किसी न किसी महात्मा का उदय अवश्य होता है जो बाहरी क्रिया-कलापों से हटाकर हमें अपने भीतर देखने की दृष्टि देता है और 'ज़ाहिर' की अपेक्षा 'बातिन' को ही अधिक ठीक ठहराता है। उसके अथक प्रयत्न से बाहरी बातों का महत्त्व घट जाता है और लोग हृदय के भीतर झाँकने लगते हैं। यह झाँकना भी जब रूढ़ हो जाता है और लोग किसी लकीर के फिर फकीर बन जाते हैं तब किसी अन्य महापुरुष का आविर्भाव होता है जो जनता को फिर से किसी प्रशस्त मार्ग पर चलाना चाहता है। वह भी जिन बातों पर जोर देता तथा जिन कार्यों को करता है उसकी भी एक प्रणाली सी निश्चित हो जाती है और उपासक उसी प्रणाली पर आँख मूँदकर चलने लगते हैं। परिणाम यह होता है कि उसका भी महत्त्व नष्ट हो जाता है और लोग उसकी बातों की भी परेड सी करते रहते हैं। इस परेड में बाहरी एकता चाहे जितनी बनी रहे, पर इसमें वह स्वतंत्र चिंतन नहीं रह जाता जिसके प्रसाद से मनुष्य प्राणिमात्र को अपना रूप समझता और जीवमात्र की सुधि लेता है। इस प्रकार कालांतर में प्रकट प्रच्छन्न वा प्रत्यक्ष परोक्ष को दबा देता है और फिर रूढ़ियों का राज्य स्थापित हो जाता है। मंगोलों के आक्रमण के समय तसव्वुफ की भी ठीक

यही दशा थी । उसमें रूढ़ियों का प्रचार खूब हो गया था। सूफी प्रेम और ज्ञान की चिंता छोड़ पद्धति-विशेष पर बहस करते और 'खानक़ाहों' में अपनी अलग अलग डफली बजाते थे । मानव-हृदय से उनका नाता टूट सा गया था ।

मंगोलों ने बात की बात में इसलाम के दर्प को चूर कर उसके साम्राज्य को छिन्नभिन्न कर दिया । ईरान जब स्वतंत्र हो गया तब उसे अरबी इसलाम की अपेक्षा अपनी अधिक चिंता हुई । ईरान तसव्वुफ का स्रोत था। फारसी-साहित्य में सूफियों की कविता ही नहीं कुछ तत्त्वचिन्ता भी थी। यद्यपि ईरान के अनेक सूफी विद्वानों ने अरबी में तसव्वुफ पर ग्रन्थ रचे तथापि फारसी में ही सूफियों का हृदय खुला और उनके प्रेम-प्रवाह ने फारसी के द्वारा ही इसलाम को तृप्त किया । बात यह है कि ईरान ने अपनी सत्ता अलग बनी रखने में कभी भूल न की । इसलाम के सपाटी शासन में भी इसने अपने संस्कारों की रक्षा तथा अध्यात्म के लिये एक ओर अद्वैत को चुना तो दूसरी ओर आस्था के लिये अली को अपना लिया । अली में विशेषता यह थी कि वे कवि, व्याख्याता, वीर और सुशील भी थे । उनमें अरबों की खड़ी उद्दण्डता न थी। उनका विवाह रसूल की लाड़ली लड़की बीबी 'फ़ातिमा' से हुआ था और वे मुहम्मद साहब के चचेरे भाई भी थे। कहा तो यहाँ तक जाता है कि मुहम्मद साहब ने उन्हीं को अपना 'ख़लीफ़ा' भी चुना था; परंतु जब वे रसूल के दफनाने की चिंता में मग्न थे तभी उमर ने अवसर देखकर चालाकी से अबूबकर को खलीफा बना दिया और अली का अधिकार छीन लिया । अली में एक बात और भी थी। उनकी पुत्रवधू ईरानी राजदुहिता थी। उनके वंशजों में ईरानी रक्त था । कारण कुछ भी रहा हो, यह स्पष्ट है कि ईरान ने अली का दिल खोलकर स्वागत किया और सूफी भी पहले उन्हीं को लेकर आगे बढ़े। परन्तु, धीरे धीरे अली के वंशजों को इतना महत्त्व मिला कि ईरान सर्वथा इमामपरस्त हो गया और ईरानी प्रेमी से भक्त बन गए। आलंबन की परोक्षता जाती रही । रति के आलंबन शरीरधारी साकार इमाम बने । उसकी दुरूहता और गुह्यता न रही। हृदय को प्रत्यक्ष हृदय मिला और वह उसकी आराधना में लीन हुआ ।

स्वतंत्र ईरान ने अपने उत्कर्ष के लिये शीआमत को ग्रहण किया और उसी को अपना राजमत माना। जब तक ईरान अरबी या तुर्की सेना से आक्रांत था तब तक वह रसूल का उपासक था पर जहाँ उसको स्वतंत्रता मिली वह इमामपरस्त हो गया। इमाम में रसूल का खून और ईरान का रक्त था। फिर वह उसकी अराधना में क्यों नहीं लग जाता? आर्यों की देव-भावना शामियों से भिन्न थी। आर्य जिस देवता की उपासना करते थे उसका साक्षात्कार भी कर सकते थे और उसे अभीष्ट रूप भी दे लेते थे, किंतु शामियो की धारणा इससे सर्वथा भिन्न थी। उन्हें जीते-[१]जी देवता का दर्शन नहीं मिल सकता था, यद्यपि वह था शरीरधारी एक परम देवता ही। शीआ-संप्रदाय ने भी आगे चलकर गुप्त इमाम की कल्पना की। उसकी दृष्टि में इमाम महदी जो गुप्त हो गए हैं फिर प्रकट होंगे और भक्तों की सुधि लेंगे। धीरे धीरे इस धारणा का प्रचार इसलाम में इतना हो गया कि सभी इमाम महदी की बाट जोहने लगे। ईरानी अग्निपूजक थे। फलतः उनका नूर भी इमाम में उतरा। शीआ कहते हैं कि रसूल की कला इमाम में और इमाम की कला शासक में उतरती है। शासक इमाम का अंश होता है, अतः उसमें इमाम की ज्योति देखनी चाहिए। इमामों की संख्या के संबंध में शीआ एकमत नहीं हैं। उनमें से कुछ तो सात इमामों को मानते हैं और कुछ बारह इमामों को; पर वास्तव में इमामपरस्त हैं सभी। सभी अपने को अली का कुत्ता वा उनके वंश का दास समझते हैं।

शीआ एक बात में अति उदार और ठीक हैं। उनके विचार में धर्म परिवर्तनशील है। सुन्नी संप्रदाय की दृष्टि में धार्मिक प्रश्नों और मजहबी गुत्थियों के सुलझाने के लिये किसी नवीन पद्धति का अनुसरण नहीं किया जा सकता। पंडितों या 'फ़क़ीहों' का काम यह है कि वे प्राचीन ग्रंथों के आधार पर यह निश्चित कर दें कि धर्माचार्यों की राय किस विषय में क्या है। इन्हीं के आधार पर 'फ़तवा' देने का अधिकार किसी सुन्नी मुल्ला को प्राप्त है। सुन्नियों की धारणा है कि आचार्य हंबल के बाद स्वतंत्र 'फ़तवा' का द्वार उसी प्रकार बंद हो गया जिस प्रकार मुह-

---

(१) इसराएल, पृ० ४५८।

म्मद साहब के बाद ईश्वरी पैगाम का। पर शीआ इस धारणा को ठीक नहीं समझते। मजहबी सवालों को हल करने के लिये वे सुन्नियों से आगे बढ़ते और 'इजतिहाद' में विश्वास करते हैं। उनके विचार में जिस प्रकार मुहम्मद साहब की कला अथवा इमाम का अंत नहीं होता उसी प्रकार व्यवस्था देने का अधिकार भी किसी हंबल के बाद नष्ट नहीं हो जाता। भक्ति-भावना के लिये 'इमाम' और धार्मिक व्यवस्था के लिये 'मुजतहिद' का होना अनिवार्य है।

शीआमत का जो संक्षिप्त परिचय दिया गया है उसका तात्पर्य है कि ईरान की वास्तविक स्थिति को ठीक ठीक समझ सकें। ईरान की वस्तु-स्थिति को जाने बिना हम तसव्वुफ के मर्म से अभिज्ञ नहीं हो सकते। ईरान में तसव्वुफ के लिये तभी तक जगह थी जब तक उसका राजमत शीआ नहीं हुआ था। शीआ वस्तुतः सूफी नहीं हो सकते। उनकी भक्ति-भावना किसी निरंजन या निराकार को लेकर आगे नहीं बढ़ सकती। उसके लिये तो अल्लाह का नूर ही मूर्त्त-रूप में प्रकट होता है और वह इमाम के रूप में सदा बना भी रहता है। तो फिर वह प्रत्यक्ष को छोड़कर किसी परोक्ष के पीछे क्यों मरे? अली अथवा इमाम से प्रकट तारक को छोड़ कर किसी अलख का विरह क्यों मोल ले? वह तो आराध्य को कोसता नहीं प्रत्युत उसके लिये हथेली पर प्राण लिये रहता है। शायद इसीलिये वह कुछ उग्र और कठोर भी हो जाता है। वह 'शाह' नहीं 'कल्ब' (कुत्ता) है। कल्पना के प्रेम और प्रमोद से उसका जी नहीं भरता। वह तो अपने को अपने उपास्य पर चढ़ा देता है और नित्य उसीकी सेवा में निरत रहता है।

उधर सूफियों की सफलता लोक-रुचि पर निर्भर थी। 'फकीह' दरबारों में जमे रहते थे और जनता के हृदय से उनका सीधा सम्बन्ध कुछ भी न था। जनता उनको पहचानती भी नहीं थी। परंतु फकीरों को वह अपना तारक समझती थी और उनकी दुआ के लिये उनके पास दौड़ती रहती थी। दरवेश भी उसके द्वार खटखटाते और उसकी प्रार्थना पर ध्यान देते थे। जो काम लकीर से नहीं चलता था उसे फकीर कर देते थे। लोग उनकी बातों को ध्यान से सुनते थे, उनके आख्यानों का अर्थ लगाते थे, उनके अलौकिक

प्रेम का मर्म समझते थे और उनके प्रसाद (तबर्रुक) से शैतान को मार भगाते थे। परंतु जनता के सामने फिर भी एक उलझन बनी ही रहती थी। वह सूफियों के 'इश्क़ हक़ीक़ी' को समझ नहीं पाती थी। वह किसी प्रकार उनके 'हक़ीक़ी माशूक़' को अपने 'मजाज़ी माशूक़' से अलग नहीं कर सकती थी। परिणाम यह होता था कि इस 'इश्क' की पुकार से लोग अमरदपरस्ती में लग जाते थे और राष्ट्र का बलवीर्य नष्ट हो जाता था। उधर भक्तों के भगवान् और शीओं के इमाम में प्रेम का यह घपला नहीं था। उनमें संयम था, संस्कार था और था हृदय के लगाव का पूरा प्रबन्ध। फलतः हसनहुसैन के अतिरंजित वृत्तों में जनता का मन अच्छी तरह रम गया और ईरान में 'ताज़िया' की धूम मची। लोग उसके सामने तसव्वुफ को भूल गए। हृदय को प्रत्यक्ष हृदय मिल गया और जनता उसके अभिनय में लीन हुई, और इसीसे अपनी मुराद भी पूरी करने लगी। फक़ीह तसव्वुफ के कट्टर विरोधी थे ही। उनको और भी अच्छा अवसर हाथ लगा। मुजतहिदों की शनिदृष्टि सूफियों पर पड़ी तो उनका ईरान से निर्वासन हो गया। ईरान सदा के लिये शीआमत का पक्षपाती हो गया और उसमें सूफियों के फलने-फूलने की जगह न रही।

तसव्वुफ के इतिहास की यह करुण कथा है कि उसके विनाश का मूलकारण उसीका सहोदर शीआमत हुआ। शीआमत की प्रतिष्ठा सफवीवंश के शासन में हुई। सफवीवंश वास्तव में सूफी-वंश[1] था। फिर भी उसके शासन में सूफियों का ह्रास हुआ। न जाने कितने सूफियों का काल प्रसिद्ध मुजतहिद मुल्ला 'मुहम्मद बाक़िर' मजलिसी बना। उसके अनुमोदन या आग्रह से सूफियों का तिरस्कार, निर्वासन और बध आदि सभी कुछ हुआ। उसके अत्याचारों की सीमा न रही। उसके कारण तसव्वुफ ईरान से बिदा हो गया तो भारत में उसे शरण मिली।

बाकिर मजलिसी भी सूफी संतान था। उसका पिता सूफियों के प्रति उदार था। अपने पक्ष की पुष्टि तथा जनता पर धाक जमाने के लिये उसे स्वयं कहना पड़ा—

---

(१) ए हिस्टरी आव पर्शियन लिटरेचर इन माडर्न टाइम्ज़, पृ० २०-१।

"मेरे पिता के संबंध में कोई ऐसी धारणा न करे कि वह सूफी थे। नहीं। मैं बराबर उनसे समाज तथा एकांत में हिला मिला रहता था और उनके विचारों से भलीभाँति परिचित हो गया था। वास्तव में मेरे पिता सूफियों का सदैव अहित चाहते थे और इसीलिये उनके संघ में शामिल भी हुए थे कि उनके बीच में रहकर उनका विध्वंस करें। उस समय सूफी शक्तिशाली थे। अतः पूज्य पिताजी को प्रच्छन्नता से काम लेना पड़ा।"[1]

अब तो इसमें कोई संदेह नहीं रहा कि तसव्वुफ का विनाश उसी के देश में उसी की संतानों ने कर दिया और देखते ही देखते वह ईरान से बोल गया।

'सूफीकुश' बाकिर तथा अन्य मुजतहिदों के फतवे व्यर्थ नहीं गए। उनके प्रकोप से तसव्वुफ नष्ट हो गया, काव्य अपने लक्ष्य से गिर गया, विद्या-प्रेम जाता रहा, विधि-विधानों की प्रतिष्ठा हुई, और सर्वत्र शीआमत छा गया। ईरान का राजधर्म शीआ हो गया और उसके विधाता मुजतहिद बने। परिणाम यह हुआ के ईरान से सूफियों के निशान मिटे। मिर्जा मुहम्मद खां ने इस संबंध में स्पष्ट कहा है कि सफवी शासन से अध्ययन, अनुशीलन, काव्य और साहित्य का सिक्का उठ गया। मठों, खानकाहों आदि सूफी संस्थाओं की दशा यह हो गई कि अब बतूता के वर्णन में सहसा विश्वास नहीं होता कि किसी समय ईरान उनसे पटा पड़ा था। ईरान की इस प्रगति से अनभिज्ञ व्यक्ति उसकी इस परिस्थिति को देखकर चकित हो सकता है। उसके मन में प्रश्न उठ सकते हैं कि क्या यह वही ईरान है जिसमें कभी सूफियों की तूती बोलती थी, प्रेम के गीत गाए जाते थे, राग की तान छिड़ती थी और इश्क का बोलबाला था। आज तो ईरान में किसी भी सूफी संस्था का पता नहीं और कहीं किसी भी खानकाह का संचालन नहीं।[2]

ईरान से तसव्वुफ के उठ जाने का प्रधान कारण उसकी राष्ट्रभावना है। शीआमत भी वास्तव में इसी राष्ट्रभावना का परिणाम है। किसी भी देश की कट्टर राष्ट्र-

(१) ए हिस्टरी आव पर्शियन लिटेरेचर इन माडर्न टाइम्ज पृ० ३८३।
(२) " " " पृ० २६-८।

भावना तसव्वुफ का प्रतिपादन नहीं कर सकती। उसके सामने तो केवल राष्ट्र-हित का प्रश्न रहता है कुछ समूचे विश्व का नहीं। अतः सफवी वंश ने भी 'इश्क' को छोड़ 'ईरान' को अपनाया और वियोगी सूफियों को वहाँ से दूर मार भगाया। सफवी वंश के उपरांत जो वंश ईरान के शासक हुए उनमें भी राष्ट्रभावना बनी रही। वे कभी इतने उदार न हुए कि ईरान में तसव्वुफ की फिर प्रतिष्ठा होती। जब कभी अवसर मिला ईरान में तसव्वुफ की तान छिड़ी पर फिर कभी उसकी चैन की वंशी न बजी। उसके प्रतीक चलते रहे पर प्राण उनमें न रहा। कहा जाता है कि पहले के सूफियों ने तसव्वुफ के बारे में इतना कुछ कह दिया था कि पिछले कवियों के लिये उसमें कुछ जोड़ना कठिन था। हो सकता है, सूफी-साहित्य के ह्रास का एक कारण यह भी हो, किन्तु इसी से तो तसव्वुफ की दुर्गति का प्रश्न हल नहीं हो जाता? इसके लिए तो शीआमत का दुर्भाव मानना ही होगा। शीआमत के प्रचार ने तसव्वुफ को हड़प लिया। मुरीद आशिक से इमामपरस्त हो गए और हसन-हुसैन की मिन्नत से मनचाही चीज पाने लगे। कवि भी उनकी कथा में लीन हुए। 'रति' को शोक ने खदेड़ दिया। ईरान में करुण रस की धारा फूट निकली। 'रति' को भारत में स्थान मिला। मुगल उस पर टूट पड़े और वह रंग उड़ाया कि ईरानी भी मात हो गए।

उधर ईरान का संबंध यूरोप से जुटा तो इधर उसमें एक नये मत का जन्म हुआ। सैयद अली मुहम्मद 'इमाम महदी' का 'बाब' (द्वार) बना और कहने लगा कि उसीके द्वारा लुप्त इमाम का दर्शन किया जा सकता है। आरंभ में तो वह बाब ही बना रहा, पर धीरे धीरे अन्त में उसने अपने को इमाम महदी का अवतार ही घोषित कर दिया। उसके चेलों ने भी उसे ब्रह्मस्वरूप माना और उसको 'खुदा आफरीं' कहा। एक भक्त ने तो उसके एक प्रसिद्ध अनुयायी (बहाउल्लाह) को, जो स्वयं स्वतंत्र मत (बहाई) का प्रवर्त्तक बन बैठा, यहाँ तक कह दिया कि—"लोग तुझे 'ख़ुदा' कहते हैं। यह ग़ज़ब की बात है। बस, परदा हटा ले। ख़ुदा के लांछन को अधिक न सह[१]।"

(१) ए हिस्टरी आव पर्शियन लिटेरेचर इन माडर्न टाइम्स, पृ० १५१।

'बहाउल्लाह' वास्तव में उपासकों की दृष्टि में परम सत्ता का व्यक्त रूप है जिसको वे खुदा का भी खुदा मानते हैं। शीआसंप्रदाय के इस दल ने तसव्वुफ को और भी धक्का दिया। लोग 'बाब' की उपासना में लगे और सूफियों के 'कुत्ब' वा 'इंसानुल् कामिल' का महत्त्व जाता रहा : सूफी बाब के भक्त बन गए और भजन की गुह्यता जाती रही।

गत महासमर ने जिस व्यापक और भयानक परिस्थिति को उत्पन्न किया उसके प्रकोप से संसार का कोना कोना काँप उठा। सभी देशों को भविष्य की चिंता सताने लगी। ईरान ने यद्यपि उसमें कोई सक्रिय योग नहीं दिया तथापि उसपर भी उसका पूरा प्रभाव पड़ा। धीरे धीरे उस में भी सुधार होने लगे। उसे अपने प्राचीन इतिहास का गर्व और प्राचीन संस्कृति का लोभ हुआ। किन्तु तुर्कों की भाँति चट्ट में उसने न तो इसलाम को निकाल ही फेंका और न पठानों की भाँति अपने कठमुल्लाओं का स्वागत ही किया। बाबमत भी रुक सा गया। रिजाशाह पह्लवी में वह शक्ति थी जो किसी शेख को बंदी बना सकती है और ईरानी भाषा से अरबी शब्दों को निकाल फेंकने का आदेश दे सकती है। उसकी 'पह्लवी' उपाधि से सिद्ध होता है कि आज ईरान को किसी फिरदौसी की जरूरत है, हाफिज या किसी अन्य सूफी की नहीं। ईरान आज इसी गति से आगे बढ़ रहा है। ईरानी साहित्य में नवीन भावों तथा विचारों का प्रकाशन हो रहा है। उसके वर्तमान कवि सजग, सजीव और सावधान हैं। उनकी रचनाओं में तसव्वुफ की अवहेलना और राष्ट्र की आराधना बोल रही है।

तुर्क भी आज सूफियों के प्रति वही व्यवहार कर रहे हैं जो सफवी वंश के शासन में ईरान ने तसव्वुफ के साथ किया था। तुर्क सदा से नीति-निपुण हैं। वे नीति के पालन में दीन की चिंता नहीं करते। जो लोग तुर्कों की प्रकृति से अपरिचित हैं उन्हें उनकी प्रगति पर आश्चर्य हो सकता है और उनकी बातों को वे आश्चर्य के साथ देख सकते हैं। परन्तु जो उनके स्वभाव से परिचित और उनकी नीति से अभिज्ञ हैं उनको इन बातों पर आश्चर्य नहीं होता। कहा तो यहाँ तक जाता है कि कमाल पाशा ने इसलाम को टर्की से बिदा कर दिया, और जो कुछ उसमें इसलाम

दिखाई पड़ता है वह भी शीघ्र ही बिदा होनेवाला है। इसमें तो सन्देह नहीं कि तुर्कों ने परदा और टोपी को हटा कर जो हैट अपनाई है उससे स्पष्ट हो जाता है कि उनका दिमाग अब इसलामी नहीं रहा। फिर भी कुछ मुसलिम यहाँ तक कि हमारे डाक्टर इकबाल[१] से मनीषी भी उनके इन कृत्यों का प्रतिपादन करते और कमालपाशा को मुजतहिद समझते हैं। उनकी धारणा है कि इसलाम के मंगल के लिये इजतिहाद आवश्यक है। तुर्की की इस नीति से इसलाम चमक उठेगा[२]।

मुस्तफा कमाल पाशा वस्तुतः तुर्कों का विधाता है। उसकी नीतिपटुता से संसार परिचित है। नीति की प्रेरणा से उसने अरबी और फारसी का निषेध कर तुर्की भाषा और रोमी लिपि का विधान किया। अब अंगोरा का भाग्य किसी 'खलीफ़ा' के अधीन नहीं रहा। नहीं, वह तो 'गाजी मुस्तफा' कमाल, नहीं नहीं 'अतातुर्क' के अनुयायियों की भावभंगी पर निर्भर हो गया। अब तुर्क मजहबी बखेड़ों से बरी हो गए हैं। तुर्की उत्कर्ष के लिये उनको कुरान के मग्ज की भी जरूरत नहीं है। वह तो मौलाना रूमी के लास्य के लिये ही उपयोगी था। तुर्क तांडव चाहते हैं, उन्हें लास्य से सन्तोष नहीं। मतलब यह कि जहां से खिलाफत का नाम मिट गया, जहाँ से कुरान का अरबी पाठ उठ सा गया, जहाँ 'रोजा-नमाज' का नाम ही शेष रहा, जहाँ अरबी-फारसी का अध्यापन अपराध समझा गया वहां तसव्वुफ की बात बेकार है। हम यह जानते हैं कि सूफी इश्क के बंदे होते हैं किसी मजहब के पाबन्द नहीं; पर हम यह भी देखते हैं कि फकीर खुदा-परस्त होते हैं, मुल्क-परस्त नहीं। तुर्क मुल्कपरस्त हो गए हैं उन्हें इश्क हकीकी की चिंता नहीं। कमालपाशा की आज्ञा से खानकाहों और मजारों के द्वार बंद हो गए हैं, उनमें प्रविष्ट होने का अधिकार नहीं। जिक्र[३] की यह दशा है कि कोई उसे अकेला भी नहीं कर सकता। समुदाय की तो बात ही अलग है। गाजे-बाजे के साथ सलात का पालन तुर्क कर लेते हैं। बस उनके लिये इतना ही इसलाम बहुत है।

---

(१) सिक्स लेक्चर्ज, पृ० २२०।

(२) तुर्की में मशरिक व मग़रिब की कशमकश, दीबाचा, पृ० १२!

(३) हांदर इलसाम, पृ० १६७।

तुर्क कभी प्रियतम के प्रतीक थे। फारसी में तुर्क[१] का मतलब ही माशूक हो गया। तुर्क मगबच्चों से कठोर थे। मगबच्चे अधिकतर 'साक़ी' थे तो तुर्क 'क़ातिल'। तुर्कों से प्रेम तो जाता रहा, किंतु उनकी कठोरता आज भी बनी है। तुर्क आज कमाल-परस्त हैं, पीर या बुतपरस्त नहीं। उनके विचार में कुरान, काबा, रसूल आदि की परस्ती भी मुल्क परस्ती से खाली नहीं। इनसे उन्हें कुछ मतलब नहीं। विचारशील तुर्कों का कहना है कि इसलाम कभी अरब[२] के लिये उत्तम था, आज भी

---

(१) शिअरुल अजम, जिल्द चहारुम, पृ० १९० ।

(२) प्रसिद्ध तुर्की पत्रिका' 'इजतिहाद' के संपादक डाक्टर अब्दुल्ला जेवदेत बे का कथन है—

"God says in the koran, 'verily we have sent down the koran in the Arabic language, so that you may understand it.' From these words it is evident that the koran has been addressed to the Arabs, and the Turks can have no share in it. In the early ages of superstition it was only natural that each people should have a god of their own creation, and in that case it was to be expected that the revengeful Arabs should have a revengeful and mighty Allah. However much we try to prove the unity of god, it is true that there are as many gods as the number of men in the world. My own god is one who does only good, and is able to do every thing that is good, who is sun by day and moon by night, who is eye to men and light to their eyes. This is the God whom the brave worship. Such is my God. my God is not the creator of evil. My God is light to the eyes. He is the sun by day and the moon by night. If he does not prevent adisaster, He weeps together with those who suffer and need consolation.

"The Arabs have ruined us (the Turks) by forcing upon us an Allah of their own creation. This Allah does

उसके लिये हितकर हो सकता है, किंतु उसके आचरण से उनका उद्धार नहीं। सारांश यह कि आजकल के तुर्क कवि कर्मयोगी हैं, प्रेम-पंथी कदापि नहीं। उनकी दृष्टि में देश और जाति के मंगल के लिये जो कुछ किया जाय और जिससे अपना अभ्युदय हो वही धर्म है। निरा तसव्वुफ उनके काम का नहीं। उनको परिश्रम और पुरुषार्थ में ईश्वर का साक्षात्कार होता है, कुछ कोरे प्रेम और कलित वेदना में नहीं। तुर्क फकीरी नहीं, शासन चाहते हैं और करते भी डट कर हैं। पराया भावभजन उन्हें नहीं भा सकता।

फिर भी तुर्कों में कुछ इसलाम बचा है। रूस की तरह उसका उनमें सर्वथा लोप नहीं हो गया है। रूस में न इसलाम रहा और न तसव्वुफ। शायद उसमें मजहब का नाम भी गुनाह हो गया है। यूरोप के अन्य देशों में जहां मुसलिम रह गए हैं तसव्वुफ़ की प्रतिष्ठा है। बालकन प्रदेशों में तो दरवेशों का आज भी पूरा समादर है। उन्हीं के आचार-विचार और साधु व्यवहार से उक्त प्रांतों में इसलाम टिका है। फकीर किसी से द्रोह नहीं करते, फलतः मसीही भी उन्हें चाहते ही हैं।

तुर्क अरबी और इसलाम की उपेक्षा भले ही कर लें, पर अरबी और इसलाम अरब की अपनी चीज तो हैं। फिर भला अरब उनको कैसे छोड़ सकते हैं? फलतः आज भी उनमें उनका वही सत्कार है। परंतु जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं अरब प्रकृति से फटे और प्रत्यक्षप्रिय होते हैं। तसव्वुफ उनके अनुकूल नहीं होता। आज से सात आठ सौ वर्ष पहले एक अरब सज्जन ने इस बात की उग्र चेष्टा की थी कि इसलाम से उन सारी बाहरी बातों को जो उसमें घुस पड़ी हैं

---

not lack some good and noble qualities, but He has attributes that have paralysed our national and normal growth. Our minds have remained puzzled in the midst of contradictions. The Persian disintegration is also due to the same thing." (इजतिहाद, अगस्त १९२४ ई० से 'मॉसलेम मेंटालिटी' पृ० १२२-३ पर अनूदित)

निकाल फेंका जाय और उसे स्वच्छ और निखरे रूप में जनता के सामने रखा जाय। उस समय इसलाम में विद्या का व्यापक व्यसन और तसव्वुफ का सच्चा समादर था, अतः उक्त महानुभाव को सफलता न मिली। किंतु उनका प्रयास सर्वथा निष्फल न गया। समय आने पर फिर उसमें बहार आई। आगे चल कर जब तसव्वुफ का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत हो गया और नाना प्रकार की बाहरी बातें उसमें घुस पड़ीं यहाँ तक कि उनको तसव्वुफ का अंग समझ लिया गया और सूफी सिद्धांतों से दूर रह उनकी ऊपरी बातों के अनुकरण में गर्व करने लगे तथा इसलाम में चारों ओर पीरों की उपासना, मजारों की जियारत, दरगाहों की यात्रा आदि छा गई तब सच्चे मुसलिम इसलाम के मूल स्वरूप को चेतने लगे और फलतः वहाबियों का उदय हुआ। श्री वहाब शुद्ध इसलाम का कट्टर पक्षपाती था। उसको इसलाम का वही स्वरूप भाता था जिसको रसूल ने जीवनदान दिया था और जो इब्राहीम का पुराना मत कहा जाता था। अब्दुल वहाब सूफियों से जलता था। शीआमत का वह घोर विरोधी ही नहीं कट्टर शत्रु भी था। उसके आंदोलन की प्रथम सफलता सं० १८५८ में उस समय लक्षित हुई जब उस के अनुयायियों ने बगदाद के निकट इमाम हुसैन नामक ग्राम को लूट लिया और इमाम की प्रसिद्ध समाधि को भ्रष्ट कर दिया। उनका साहस इतना बढ़ा कि देखते ही देखते उनका वज्रपात काबा और स्वयं मुहम्मद साहब की कब्र पर भी हो गया। अभी उस दिन फिर काबा पर उनका प्रकोप हुआ था और उसकी गत भी खूब बनी थी। कहने की आवश्यकता नहीं कि आज अरब में उन्हीं वहाबियों की प्रभुता है जो तसव्वुफ के शनि और सूफियों के शत्रु ठहरे। अतएव अरब में भी तसव्वुफ का आदर नहीं हो सकता। विनाश के साधन वहाँ भी प्रस्तुत हैं। आज सऊदी शासन 'शरात्र' का पक्का पुजरी है।

महासमर की लहर से मुसलिम सचेत हो गए हैं। उनके जो प्रांत फिरंगियों के अधिकार में आ गए हैं उन में धीरे धीरे विदेशियों के साथ ही विदेशी विचार भी घर करते जा रहे हैं। सीरिया, इराक आदि मुसलिम प्रांतों की परिस्थिति बहुत कुछ एक सी है। उनमें न तो तुर्कों का प्रगल्भ जागरण है और न अफगानों का प्रखर रोष ही। अभी उनमें विप्लव विशेष की आशंका भी नहीं है। उनमें जो

सूफियों के 'खानदान' हैं उनमें अधिकांश संपन्न और सुखी हैं; लेकिन उनकी ओर से भी तसव्वुफ के प्रचार का कोई प्रबंध या आयोजन नहीं है। दरवेशों के हृदय में भी अब रूसी साम्यवाद की तरंगें उठ रही हैं। उनके प्रेम का रंग फीका पड़ता जा रहा है। हाँ, उनमें से कुछ का ध्यान इसलाम की वर्त्तमान अवस्था पर भी गया है। किन्तु उन्हें किसी प्रकार का प्रबल प्रोत्साहन नहीं मिल रहा है। नहीं, वहाबियों के प्रचार से तसव्वुफ का महत्त्व वहाँ भी घट रहा है।

अरबी भाषी देशों में मिस्र ही प्रधान है। मिस्र की प्राचीन सभ्यता का नाश तो कभी हो गया, किंतु उस की प्रतिष्ठा आज भी बनी है। सिकंदरिया की बात जाने दीजिए। आज भी काहिरा मुसलिम संसार का अद्वितीय विद्यापीठ है। उमर के शासन से ही मिस्र इसलाम का अड्डा सा रहा है। नैपोलियन के आक्रमण और अंगरेजों के संघर्ष ने मिस्र को सचेत कर दिया। तुर्कों के ह्रास किंवा अपने पतन को देखकर मुसलिम इसलाम की चिंता में लगे और मुसलिम साम्राज्य का फिर स्वप्न देखने लगे। किन्तु गत महासमर के उपरांत न जाने क्यों सभी मुसलिम देशों को अपनी अपनी पड़ी और कुछ काल के लिये इसलाम के आधार पर एक मुसलिम साम्राज्य स्थापित करने का संकल्प जाता रहा। भारत के अतिरिक्त सभी तन-मन-धन से राष्ट्र-सेवा में लगे। सब का ध्यान अपनी प्राचीन संस्कृति पर गया। मिस्र का अतीत अत्यंत उज्ज्वल था। उसकी सभ्यता अति प्राचीन थी। उसका ध्यान कुछ उस पर भी गया है। उसकी यह प्रवृत्ति प्राचीनता की ओर यदि और अधिक हुई तो इसलाम के उत्कर्ष में उससे उलझन अवश्य उत्पन्न होगी। पर अभी मिस्र जिस पद्धति पर आगे बढ़ रहा है वह इसलाम के अनुकूल है। मिस्र के नवयुवकों ने जो संघ स्थापित किया है वह व्यापक तथा उदार है। जिन विचारों को लेकर वे मैदान में आए हैं उनके प्रसार से इसलाम का बंधुभाव ही नहीं तसव्वुफ का सम-भाव भी बढ़ेगा। वास्तव में मिस्र के नवयुवक सूफियों की मधुकरी वृत्ति का सहारा ले रहे हैं और सार-संग्रह में निमग्न हैं। हाँ, प्रेम-प्रसंग में पड़ कर अपनी जातीयता को नष्ट करना नहीं चाहते।

अच्छा, तो मुसलिम देशों में मिस्र ही एक ऐसा देश है जो स्वस्थ चित्त से

समन्वय की ओर अग्रसर है। उसके सामने एक ओर दीन और देश का प्रश्न है तो दूसरी ओर प्राची और प्रतीची की उलझन। वह अपने प्रयत्न से पूर्व और पश्चिम को मिलाकर एक कर देना चाहता है। उसके सपूत इसलाम; प्रगति और अपनी प्राचीन संस्कृति का मेल चाहते हैं। उनकी धारणा है कि वे इसलाम के साथ ही साथ मिस्र के प्राचीन गौरव और वर्तमान सभ्यता की सेवा में समर्थ होंगे। उनके साहित्य में तसव्वुफ की प्रतिष्ठा है। सूफियों के अनूठे भाव उनके मस्तिष्क में भरे हैं। यूनान और भारत के दार्शनिक विचार उन्हें अब भी भाते हैं। उनके सामने भी इसलाम और राष्ट्र का द्वंद्व है। उनमें से कुछ तो राष्ट्र को प्रधानता देते हैं और कुछ इसलाम को। कुछ अपने को सर्वप्रथम मुसलिम कहते हैं तो कुछ मिस्री। सच्चे सूफी अपने को देशकाल और मजहब से मुक्त कर सर्वत्र प्रेम का प्रचार करना चाहते हैं। मिस्र में भी उनकी जो उपेक्षा हो रही है उस को युग-धर्म ही समझना चाहिए; किसी राष्ट्र विशेष का अपराध नहीं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि मिस्र में तसव्वुफ के मूल-भावों की रक्षा तो हो रही है, पर वहाँ भी दरवेशों का गौरव नष्ट होता जा रहा है। राष्ट्र का ध्यान उनकी ओर नहीं है। सूफियों के प्रतिकूल वहाँ कुछ कहा तो अवश्य जाता है, किंतु उनके शील और स्वभाव की निन्दा नहीं की जाती। मिस्र में तसव्वुफ के विध्वंस का कोई आयोजन भी नहीं है। वह परिस्थिति के अनुकूल फलफूल सकता है।

मिस्र के अतिरिक्त अफरीका के अन्य जिन भूखंडों में इसलाम का प्रसार है उनमें तसव्वुफ की धाक आज भी जमी है और कहीं तो बढ़ भी रही है। उनमें अभी कोई राजनीतिक हलचल इतनी प्रबल नहीं हुई है कि उससे उनमें भी राष्ट्र-भावना का उदय हो और तसव्वुफ का विरोध डट कर किया जाय। प्रचार-प्रिय मुसलमानों के प्रयत्न से उनमें इसलाम के मजहबी भाव भी बढ़ रहे हैं और इसके फल स्वरूप उनमें कुछ इसलामी कट्टरता भी आ रही है। पर सामान्यतः उनमें दरवेशों की पूरी प्रतिष्ठा है। शामी नबियों की भाँति ही अफरीका के दरवेश भी सिद्धियों के दाता और प्राणियों के रक्षक समझे जाते हैं। उनकी बुद्धि अभी इतनी विकसित नहीं हुई है कि वे तसव्वुफ के सिद्धांतों को समझ सकें। उनके लिये तो फकीरों की

दुआ ही चिंतामणि है। फकीरों के खिलाफ चलने की हिम्मत उनमें से किसी में नहीं है। लोग उनके दर्शन के लिये लालायित रहते और उनकी समाधि की पूजा करते हैं। माला जपते जपते जब उन्हें हाल आ जाता है तब उन्हें सब सिद्धियाँ मिल जाती हैं। परंतु, जो प्रांत कुछ सभ्य हो गए हैं और जिनको पश्चिम की हवा भी कुछ लग चली है उनमें समा का निषेध कर दिया गया है। तंबाकू पीना तक मना कर दिया गया है। इसलाम की सबसे बड़ी सेवा तो उन फकीरों से यह हो रही है कि उनके शील, स्वभाव, प्रेम तथा करामत के कारण वहाँ के हबशी भी मुसलमान बनते जा रहे हैं और उन्होंने बहुत से मसीहियों को भी मुरीद बना अपने सिलसिलों में दाखिल कर लिया है। दरवेशों की प्रशंसा सुनकर लोग उनके पास जाते हैं और तुरत उनके मुरीद बन जाते हैं। इसलाम कबूल करने में महज कलमा की जरूरत पड़ती है जिसको जुबान किसी तरह कह ही लेती है। धीरे धीरे ये ही मुरीद इसलाम के अंग बन जाते हैं और बहुतों को मुसलिम बनाते हैं। इन सिलसिलों में अलजीरिया का सनूसिया सिलसिला बड़ी तत्परता से बहुत काम कर रहा है। मरक्को में पीरों की समाधियों की खूब पूजा होती है। सुंदर रूप के लिये लड़की दरगाहों का पानी पीती तथा दुलहिन देवर के साथ जियारत करती और बलि चढ़ाती है। इदरीस का रौजा तो अपराधियों का थाना ही बना है उसमें घुस जाने से उनको भोजनछाजन ही नहीं अपितु अभयदान भी मिल जाता है। पर अब कभी कभी किसी अपराधी को कचहरी का मुँह देखना पड़ता है। भारत का अहमदिया संघ इन प्रांतों में भी कुछ काम कर रहा है। पर इससे सूफियों की ख्याति में अभी कुछ बट्टा नहीं लगा है।

अफगानों में इसलामी कट्टरता सभी मुसलिम प्रदेशों से अधिक है। श्री अमानुल्लाह ने अफगानों को तुर्क बनाने का जो प्रयत्न किया उसका परिणाम यह हुआ कि राज्य उनके हाथ से जाता रहा और कुछ ही दिनों के बाद मुल्लाओं का फिर आतंक छा गया। पर उसकी वर्तमान स्थिति को देख कर यह विश्वास करना पड़ता है कि श्री अमानुल्लाह ने अफगानिस्तान में जो सुधार के बीज बोए वे निष्फल नहीं गए। उसमें भी राष्ट्रभावना का उदय हो ही गया। आज उनको 'पश्तो' में जो

मजा मिल रहा है वह फारसी में नहीं। किन्तु अफगानों को किसी नवीन पद्धति पर ले चलना यदि अत्यंत कठिन न होता तो जमालुद्दीन सा विचक्षण पुरुष अफगानेस्तान को छोड़कर मिस्र को अपना घर क्यों बनाता और अमानुल्लाह सा वीर देशभक्त विदेश में अपना दिन क्यों काटता ? तात्पर्य यह कि तसव्वुफ के प्रति अफगानों की वही पुरानी भावना आज भी बनी है। उनके संबंध में याद रखना चाहिए कि वे अधिकांश सुन्नी हैं। तसव्वुफ से उनको प्रेम है और उनमें अनेक प्रसिद्ध सूफी उत्पन्न भी हो चुके हैं। पीरी-मुरीदी का भाव उनमें बराबर बना रहा है और पीरपरस्ती में वे आज भी मग्न हैं। अफगानों का अतीत आज उनके सामने घूम रहा है पर उनका कोई अपना निजी साहित्य नहीं। फारसी के पहले उनकी शिष्ट भाषा संस्कृत थी। उसकी ओर भी उनका ध्यान गया है और फलतः वे आज अपने को 'आर्य' समझ भी रहे हैं, 'तुर्क' नहीं। निदान उनकी आर्य-संस्कृति उनको तसव्वुफ से अलग नहीं कर सकती।

मुसलिम प्रदेशों के तसव्वुफ पर विचार करने के बाद अब कुछ उन देशों के तसव्वुफ पर ध्यान देना चाहिए जिनमें मुसलमान हैं तो काफी, पर उनकी गणना इसलामी देशों में नहीं होती। कहना न होगा कि भारत ही एक ऐसा समृद्ध देश है जिसमें संख्या की दृष्टि से सब देशों से अधिक मुसलमान बसते हैं, परंतु, फिर भी, वह हिंदू-देश ही समझा जाता है। जिस देश में मुसलिम संसार के चौथाई मुसलमान बसते हैं और तो भी उसको मुसलमान नहीं बना पाते उसके संबंध में सहसा कुछ कह बैठना ठीक नहीं। फिर भी प्रसंगवश यहां संक्षेप में कुछ कह देना अनिवार्य सा हो गया है।

भारत अध्यात्म का जन्मदाता और तसव्वुफ का घर कहा जाता है। आरंभ में इसलाम की धारणा इसके प्रति चाहे जैसी भी रही हो किंतु मध्यकाल के सूफी तो उसके गुणगान[1] में सदा मग्न रहे हैं। कहा तो यहां तक गाया[2] है कि अरब इस देश

---

(१) ए हिस्टरी आव पर्शियन लिटेरेचर इन माडर्न टाइम्ज, १६५–६

(२) अरब और हिंदुस्तान के तालुकात, पृ० १।

को सदा से अपना आदिम निवास और दक्षिण या सरन द्वीप को बाबा आदम का शरण्य मानते आ रहे हैं। भारत से विख्यात बुतपरस्त देश पर हजरत उमर सा कट्टर खलीफा का अक्रमण न करना और अपने अनुयायियों को भी आक्रमण करने से रोक देना, इतिहास की एक विलक्षण घटना है। यही नहीं, आगे चलकर अरबों का हिंदुओं को 'अह्ले किताब' के समान मान लेना मुसलिम संसार की एक अद्भुत् पहेली है। इस प्रकार की मजहबी गुत्थी को छोड़ हमें यह स्पष्ट कहना है कि भारत में तसव्वुफ को वह भाव-भूमि मिली जो अन्यत्र दुर्लभ थी। सिंध में अरबों का शासन जमा नहीं कि मुल्तान तसव्वुफ का अड्डा बन गया और सूफी उसके प्रचार में जुट गए। कुछ दिनों के बाद अरब तो ठंडे पड़ गए, पर तुर्कों और पठानों के लगातार आक्रमण हुए और धीरे धीरे भारत में इसलामी राज्य स्थापित हो गए। तुर्कों के पतन और मुगलों के उत्कर्ष से भारत इसलाम का 'दन बन गया। मुसलिम लड़ते और सूफी प्रेम का प्रचार करते रहे। भारत में सूफियों के कई सिलसिले चल पड़े, इनमें चिश्ती, सुहरावर्दी, कादिरी, शत्तारी, और नक्शबंदी सिलसिले अधिक प्रसिद्ध हुए। सूफियों में अनेक जिंदीक भी थे जो भारतीय परि-स्थिति में इसलाम से बहुत कुछ स्वतंत्र हो गए। सूफियों ने अरबी और फारसी में जो कुछ लिखा सो तो लिखा ही भारत की ठेठ भाषाओं को भी उन्होंने नहीं छोड़ा। हिंदी या 'भाखा' में भी अनेक सूफी कवि हुए। इनमें से कुछ तो इसलाम के पक्के पाबंद रहे और कुछ स्वतंत्र हो गए। इसलामी सूफियों में मंझन, कुतबन, जायसी, उसमान, नूरमुहम्मद आदि अच्छे कवि हुए जिन्होंने अवधी में मसनवियाँ लिखीं। गैर इसलामी अथवा 'आज़ाद' सूफियों में कबीर, दादू, यारी, दरिया आदि मौजी कवि हुए जिन्होंने 'सधुक्कड़ी' भाषा में कुछ बानियां कहीं। हिंदी में इनको संत की उपाधि मिली। इन संतों में कुछ इसलाम का उचित ध्यान रखते थे और कुछ इसकी बहुत सी बातों को पाषंड मात्र समझते थे। सूफियों के प्रयत्न से हिंदू-मुसलिम एक से हो रहे थे। मजहबी कट्टरता भी बहुत कुछ नष्ट हो चली थी कि इसी बीच में मुगलों का पतन और फिरंगियों का पदार्पण हुआ। धीरे धीरे अंगरेज भारत के विधाता बन गए। फिर तो हिंदू-मुसलिम, उर्दू-हिंदी आदि का द्वन्द्व उठा और हिंदी मुसल-

मान फिर बड़ी तत्परता से बाहर झांकने लगे। भारत के मुसलमान संघटन में सदा से तत्पर थे, पर उनकी दृष्टि इतनी पैनी न थी कि वे बँधकर किसी इसलामी साम्राज्य का प्रयत्न करते। हाँ, जब मुसलिम प्रदेशों में 'पैन इसलाम' किंवा मुसलिम एका का आंदोलन चला तब भारत के मुसलामन भी उसमें जुट गए। महासमर के भीतर उसका लग्गा टूट गया पर तो भी भारत के मुसलमान उसी लग्गी से उसको पानी पिला रहे हैं और फलतः इस समय उसकी सबसे अधिक चिंता भी इन्हीं को है। मौलाना मुहम्मद अली का यरूशलेम में दफनाया जाना और मौलाना शौकत अली का यरूशलेम में मुसलिम विश्वविद्यालय की योजना करना इसी के पक्के प्रमाण हैं। देखा ? भारत के मुसलमान किस ओर टकटकी लगाए देख रहे हैं ? इसमें संदेह नहीं कि तुर्कों के सुधारों ने इन्हें हताश कर दिया है, किंतु तो भी इन्हें तुर्की टोपी का अभिमान है और अब भी किसी 'खलीफा' की ताक में हैं। सचमुच भारत का सच्चा मुसलमान वही हो सकता है जो अरबी का आलिम, फारसी का फाजिल, दिमाग का तुर्क और जुबान का उर्दू हो और उसके रंग-ढंग वेश-भूषा में अरब, ईरान, तूरान और हिंद का मेल हो। और यदि कुछ न हो तो केवल हिंदीपन।

कमालपाशा ने खिलाफत को जो धक्का दिया उससे भारत के मुसलमान दहल गए। अब खिलाफत का प्रधान काम हो गया अधिकारों की याचना करना। मुसलिम लीग तथा अन्य इसलामी संस्थाएँ भी मुसलिम अधिकारों की चिंता में लगी हैं। कुछ मुसलमान ऐसे भी हैं जिन्हें जन्मभूमि की प्रतिष्ठा और राष्ट्र की मर्यादा का पूरा ध्यान है और जो सीमांत गांधी और मौलाना 'आजाद' के साथ स्वराज्य-संपादन में हिंदुओं के साथ हैं और हिंदू-मुसलिम-एकता पर पूरा जोर देते हैं, परंतु प्रतिदिन उनकी संख्या क्षीण होती जा रही है और उनमें मजहबी पक्षपात आता जा रहा है। बात यहाँ तक बढ़ गई है कि आज इसलाम का प्रचार नहीं, देश का बँटवारा हो रहा है। मजहब के नाम और दीन की गोहार पर चाहे जो हो जाय पर इसलाम की वर्तमान प्रगति से बहुतों को संतोष नहीं है। श्री खुदाबख्श और डाक्टर इक़बाल ने तुर्कों का पक्ष लिया था और 'इजतिहाद' का इसलाम मात्र में प्रचार चाहा था इधर अहमदिआ दल के मुसलमान इसलाम को नया रूप दे रहे हैं और कुरान की

साधुता के लिए कश्मीर[1] में मसीह की कब्र ढूढ़ रहे हैं। श्री सर सैयद अहमद खाँ, के अनुयायी इसलाम के हित में दत्तचित्त हैं और समय के अनुसार उसका अर्थ लगाते हैं। निजाम हैदराबाद इसलामी साहित्य को उर्दू में आगे बढ़ा रहे हैं। अलीगढ़ का मुसलिम विश्वविद्यालय पश्चिम की प्राणाली पर अँगरेजी में शिक्षा दे रहा है। अरबी और फारसी के अनेक मकतब चल रहे हैं। संक्षप में, चारों ओर से इसलामी साहित्य को प्रोत्साहन मिल रहा है; और वह बढ़ भी खूब रहा है। पर कहीं कोई खानकाह नहीं बनी है। उसकी ओर किसी का ध्यान नहीं है।

भारत के मुसलमानों के विपय में अब तक जो कुछ कहा गया है उसका प्रयोजन है कि हम उनकी आधुनिक प्रगति को भलीभाँति जान लें। जब तक हम भारत की मनोवृत्तियों से अच्छी तरह परिचित नहीं हो जाते तब तक हमें तसव्वुफ की वर्त्तमान स्थिति का बोध भी नहीं हो सकता। सो भारत के मुसलमानों की जिन प्रवृत्तियों का दर्शन किया गया है उनसे स्पष्ट ही है कि भारत के मुसलमान इस समय तसव्वुफ की उपेक्षा ही नहीं उसका विरोध भी कर रहे हैं। वहाबिओं की वक्र दृष्टि यहाँ भी है। अस्तु, इस समय इसलाम को यदि जरूरत है तो उन दरवेशों की जो प्रेम की ओट में इसलाम का प्रचार करें और उसकी शक्ति को अपने त्याग और विचार के द्वारा प्रगट कर मुसलमानों को पुष्ट बनाएँ; कुछ उन सच्चे सूफियों की नहीं जो किसी प्रकार के भी भेदभाव को नहीं देखते और संसार के हित में निरत रहते हैं। आज मुसलिम-संघटन की चेष्टा में लोग तसव्वुफ को भुला रहे हैं और सर आगा खाँ सा 'कान्हा' भी अपनी प्राचीन परंपरा को तिलांजलि दे इसलामी संघटन में तत्पर है। और 'हाली' तथा 'आजाद' के अनुयायी इसलामी संकीर्त्तन में लगे हैं। फारसी तथा उर्दू में जो रचनाएँ आज हो रही हैं उनमें यद्यपि वही 'इश्क़' और वही 'साक़ी' बना है तथापि उनका लक्ष्य अब तसव्वुफ नहीं इसलाम हो गया है। डाक्टर 'इकबाल' के अध्ययन से तसव्वुफ की हिन्दी प्रगति का ठीक ठीक पता चल जाता है। 'इकबाल' 'हिन्दी' से 'मुसलिम'

---

(१) दी होली कुरान, पृ० ६८६–७।

ही नहीं बने, उनका 'वतन' भी सारा जहाँ हो गया पर इस दौड़ में उन्हें सूझा भी तो 'पाकिस्तान' ही, कुछ किसी 'अल्लाह' का 'दारुल इसलाम' नहीं।

जो हो, राष्ट्रभक्त मौलाना अबुलकलाम 'आजाद' से मर्मज्ञों की कुरान की व्याख्या को देख कर यह विश्वास होने लगता है कि कुरान का एक सुहावना और सुंदर रूप भी है जिसको सूफियों किंवा मौलाना 'आजाद' ने देख लिया है। कुछ भी हो, पर सामान्यतः यहाँ की मुसलिम जनता पर सूफियों का आज भी पूरा प्रभाव है। साधारण जनता में अब भी फकीरों का वही सम्मान है। मजारों और दरगाहों की वही प्रतिष्ठा है। खानकाहों में अब भी लोग तबर्रुक के लिये जाते हैं। उनके लिये 'दुआ फ़क़ीरी रहम अल्लाह' से बढ़ कर आज भी और कुछ नहीं है। अभी 'उर्स' धूमधाम से होता है और पीर-परस्ती भी कम नहीं होती। सारांश यह कि अभी तसव्वुफ के प्रतिकूल कोई व्यापक आंदोलन नहीं उठा है। हाँ, सूफी फकीरों में से भी कुछ लोग मुसलिम बातों पर विशेष ध्यान देते जा रहे हैं और उनके प्रभाव से नाममात्र के मुसलिम भी कट्टर मुसलमान बनते जा रहे हैं। सब कुछ होते हुए भी भारत के मुसलिम सामान्यतः तसव्वुफ के कायल हैं और पीरी-मुरीदी में विश्वास रखते हैं।

भारत के अतिरिक्त सुमात्रा, जावा आदि द्वीपों में जो मुसलमान बसे हैं उनमें कभी भी इसलामी कट्टरता नहीं थी, उनमें आरंभ से ही तसव्वुफ का प्रचार और फकीरों की महिमा फैली है। वहां के मुसलमानों में अब भी बहुत कुछ हिंदूपन है। भारत में जो आंदोलन खड़े हुए और जो लोग उक्त द्वीपों में इसलाम के प्रचार के लिये गए उनका भी कुछ प्रभाव उन पर अवश्य पड़ा। पर अभी तक उनमें मजहबी कट्टरता नहीं आई। वे आज भी किसी सूफी के मुरीद हैं और किसी शाह की आराधना को किसी इसलाम से कम नहीं समझते।

---

११. भविष्य

सूफीमत के संबंध में अब तक जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि सूफियों की दृष्टि किस ओर मुड़ी है और भविष्य में उनके प्रेम में कौन से परिवर्त्तन किस ढंग पर होने वाले हैं। उनकी आधुनिक परिस्थिति को देख कुछ लोगों की धारणा हो चली है कि अब सूफियों का भविष्य अच्छा नहीं। सूफियों की भावी प्रगति को ताड़ लेना यद्यपि आसान नहीं तथापि उसकी सर्वथा उपेक्षा भी नहीं हो सकती। कारण, भविष्य हमारी आँखों से जितना ही ओझल रहता है उतना ही उसे जानने की हमारी प्रबल इच्छा भी होती है। जिन बातों की हमने इतनी छानबीन की है उनकी अवहेलना हम किस प्रकार कर सकते हैं? उनके भविष्य को देखे बिना हमें किस तरह संतोष हो सकता है? तो, उनका भावी रूप हमारी आँखों के सामने आते आते रह जाता है और हमें उसे देखने के लिये और भी उत्कट उत्कंठा हो जाती है। बस, जब हम देखते हैं कि इस छल-छंद के युग में लोग अपनी कलुषित वृतियों की तृप्ति के लिये अन्यों का विध्वंस देश-काल और जाति की ओट में गर्व के साथ करते हैं और साथ ही विश्व-प्रेम का कीर्त्तन भी करते जा रहे हैं तब हमारी आँखों के सामने अँधेरा छा जाता है और भुलावे के इस विश्वप्रेम से हमें संतोष नहीं होता। विश्व-प्रेम की वास्तविक सफलता तो सूफियों के उस प्रेम पर अवलंबित है जो मनुष्य की सामान्य वृत्तियों को ऊपर उठा उस सहज भावभूमि पर रख देता है जिसका कण-कण हमारा आलम्बन है; उस लोभ या कपट प्रेम पर कदापि नहीं जिसका संपादन प्रम की ओट में पश्चिम प्रतिदिन करता जा रहा है। इसमें संदेह नहीं कि गत महा संग्राम में अपनी कलुषित वृत्तियों के नग्न तांडव को देख यूरोप दहल उठा और व्याकुल हो विश्व-प्रेम का स्वप्न देखने लगा। परंतु उसके उस विश्व प्रेम में भी प्रेम का वास्तविक रूप न आ सका और

तांडव फिर लास्य में परिणत हो गया और धीरे धीरे फिर तांडव के रूप में विश्व में व्याप गया। कहना न होगा कि इस लास्य का भी परिणाम प्रकारांतर से संहार ही ही हो गया। सुख, संतोष, शांति आदि सद्गुणों का प्रसार तब तक ठीक से नहीं हो सकता जब तक हम पश्चिम के इस लास्य एवं छल-छंद में विश्वप्रेम की झांकी देखते हैं। इनके लिए तो देश-प्रेम और जाति-भाव की संकीर्ण सीमा को पार कर सूफियों के साधु प्रेम को अपनाना चाहिए और उसी के आधार पर सरस, सामान्य, और मानव भाव-भूमि पर विहार करना चाहिए। इतिहास इस बात का साक्षी है कि सूफी सदा से सच्चे प्रेम के आधार पर फटे हृदयों को एक करते आ रहे हैं। भविष्य में इन्हीं के सच्चे विश्व-प्रेम से विश्व के मंगल की आशा की जा सकती है। पश्चिम का विश्व प्रेम तो विप्लव का विधायक और लाभ का प्रचारक है। उसमें आनंद कहाँ?

सच्चे सूफियों ने समय की गति देख ली है। कतिपय सुख-शांति के विधान में लग भी गए हैं। वास्तव में किसी भी मत के साधु-संत देश-काल के बंधन से सदा मुक्त होते हैं। उनमें विषमता की अपेक्षा समता अधिक होती है। अतएव उनके आधार पर मतों की एकता आसानी से समझ में आ जाती है और लोग पारस्परिक विरोध को छोड़ बहुत कुछ एक हो भी जाते हैं। आज सभी देशों और मतों में जीवन लहलहा रहा है। उनके सच्चे सपूत सघटन और समन्वय में लगे हैं। नाना प्रकार के समाज तरह तरह की बातों के लिए स्थापित हो रहे हैं। सूफियों के भी आंदोलन चल पड़े हैं। गत प्रकरण में हमने देख लिया कि मुसलिम देशों में तसव्वुफ का प्रचार रोक सा दिया गया है और फलतः कहीं कहीं वह रुक भी गया है। और जहाँ कहीं आज उसका प्रचार हो रहा है वहाँ या तो राष्ट्रभावना का अभाव है या जातीयता की कमी। इसी से यह कहा जाता है कि तसव्वुफ किसी वर्ग विशेष का मत नहीं, बल्कि मानव हृदय का प्रवाह है। उसे किसी मार्ग विशेष पर ले चलना या किसी मजहब में घेर देना कठिन ही नहीं भयावह भी है। जब कभी वह सीमित हुआ तब उसमें फसाद की बू आई और संसार दहल उठा। अतएव यह निश्चित है कि राजनीति के चक्कर में तसव्वुफ का सर्वनाश नहीं हो सकता। उसका आविर्भाव किसी न किसी रूप में बराबर होता ही रहेगा। विद्या

और विज्ञान के प्रचार से उसकी बाहरी बातों में जो परिवर्तन होंगे उनसे हमें क्या लेना ? हमें तो केवल यह देखना है कि उसके वास्तविक स्वरूप में कालचक्र के प्रभाव से क्या परिवर्तन हो जायेंगे।

यह तो हम देख ही चुके हैं कि तसव्वुफ में प्रचारक बराबर होते रहे हैं। सूफियों का कहना है कि प्रचार के लिए संघ का स्थापित होना आवश्यक है। संघ के संबंध में भूलना न होगा कि जहाँ उसकी संस्थापना से किसी मत के प्रचार में सहायता मिलती है वहीं उससे रूढियों की मर्यादा भी बँध जाती है और कुछ ही समय में संघ अपने संस्थापक के लक्ष्य से गिर न जाने किस काम में किधर नँध जाता है। उसकी बातों से ऊब कर जो नए संघ सत्य-प्रकाशन के लिए स्थापित किये जाते हैं कुछ दिनों में उनकी भी वही गति होती है। इस प्रकार न जाने कितने संघ एक ही मत के अंग होने पर भी अलग अलग हो जाते हैं और कभी कभी उनमें तू-तू और मैं-मैं भी हो जाती है। संघ की इस त्रुटि को देखते हुए भी श्री इनायत खाँ ने पश्चिम में एक सूफी-संघ स्थापित कर दिया है, जिसका मुख्य काम है तसव्वुफ का प्रचार करना और लोगों को यदि चाहें तो, मुरीद भी बना लेना।

स्वामी विवेकानंद ने अपने विवेक और त्याग के बल पर पश्चिम, विशेषतः अमरीका में जो ख्याति पाई और जिस प्रकार मसीहियों में वेदांत का प्रचार हो गया उसको देख कर एक दूसरे भारतीय सज्जन को प्रोत्साहन मिला। उन्होंने देखा कि जब मसीही वेदांत का इतना आदर करते हैं कि इसके सामने इंजील को भी छोड़ देते हैं तब वे तसव्वुफ को क्यों नहीं ध्यान से सुनेंगे, क्योंकि इसकी आस्था भी किताबी और अध्यात्म भी वेदांती है। जब तसव्वुफ में उनको वेदांत की बातें मिल जायँगी तब वे अवश्य ही उसे छोड़ तसव्वुफ कबूल करेंगे और सूफी संघ में आपही आ जायँगे। निदान आज से तीस बत्तीस वर्ष पहले श्री इनायत खाँ के मानस में जो भाव उठे उनकी पूर्ति के लिये उन्हें पश्चिम जाना पड़ा। अमरीका, फ्रांस, रूस, जर्मनी, इंगलैंड प्रभृति देशों में भ्रमण करने के अनंतर उन्होंने एक संघ स्थापित किया जिसका प्रधान काम तसव्वुफ का प्रचार करना है। श्री इनायत खाँ ने शिक्षा और दीक्षा-तसव्वुफ के दोनों अंगों-पर ध्यान दिया। उनके

संघ में अनेक स्त्री-पुरुष आ मिले और उसके नियम भी बना दिए गए और स्वीट-जरलैंड का प्रसिद्ध नगर जिनेवा उसका केंद्र भी निश्चिय हो गया।

उक्त संघ बहुत कुछ थियासिफी (ब्रह्म समाज) के ढर्रे पर काम कर रहा है। उसकी ओर से बहुत सी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं जिनमें अधिकांश स्वयं इनायत खाँ 'पीर व मुरशिद' की लिखी हुई हैं। इस संघ की ओर से एक सूफी पत्रिका भी निकलती है। किताबों तथा पत्रिका को देखने से पता चलता है कि अभी सूफी-आंदोलन अपना परिचय मात्र दे रहा है और किसी विशेष रूप में सूफी-साहित्य का निर्माण नहीं कर रहा है। उक्त संघ ने प्रचार पर विशेष ध्यान दिया है। प्रत्येक देश में उसके प्रतिनिधि हैं, जो प्रचार का काम करते और अपने 'मुरशिद' की अनुमति से मुरीद भी बना लेते हैं। संघ का संचालन स्वयं खां महोदय करते थे और आप ही उसके 'पीर व मुरशिद' भी थे। दीक्षित व्यक्तियों में से कुछ उक्त संस्था के 'अतरंग' सदस्य होते हैं और उन्हीं के हाथ में उसका प्रबंध भी रहता है। जो लोग दीक्षित नहीं होते उनको तसव्वुफ की शिक्षा भर दी जाती है और वे उसके 'बहिरंग' या पोषक भर समझे जाते हैं। मुरीद जिक्र और फिक्र की पद्धति विशेष पर खूब ध्यान देते हैं और उन्हीं की कसरत में निमग्न रहते हैं। इस प्रकार पश्चिम में सूफी-मत का प्रचार व्याख्यानों और पुस्तकों के द्वारा हो रहा है। इस सूफी-आंदोलन का दावा है कि हमारा ध्येय प्रेम का प्रचार करना है, कुछ किसी से मतपरिवर्त्तन के लिये आग्रह करना नहीं।

उक्त सूफी-आंदोलन में विचारणीय बात यह है कि उसमें पीरी-मुरीदी का भाव वैसा ही बना है। प्रतीत होता है कि किसी भी गुह्य-विद्या की प्राप्ति के लिये किसी सद्गुरु का होना अनिवार्य है। फलतः, विज्ञान के प्रचार के कारण पीरपरस्ती को धक्का लगा है, किंतु वह उसे उखाड़ फेंकने में असमर्थ सिद्ध हुआ है। कारण, विज्ञान के आधार पर एक ओर जहाँ नास्तिकता का प्रचार और प्रत्यक्ष का स्वागत हो रहा है वहीं दूसरी ओर उसी के प्रमाण पर ईश्वर का प्रतिपादन और गुह्यता का निरूपण भी किया जा रहा है। विज्ञान को लेकर जो समाज आगे बढ़े हैं उनमें से अनेक गुह्य-विद्या के उपार्जन में कटिबद्ध हैं। उनके इतिहास और मानव वृत्तियों की स्वतंत्र छानबीन से

स्पष्ट अवगत हो जाता है कि मनुष्य परोक्ष वा गुह्य को त्याग नहीं सकता ; उसकी ओर अवश्य आँख बिछाए रहता है। उसकी बुद्धि चाहे जितनी विकसित हो, उसका मस्तिष्क चाहे जितना संस्कृत हो, उसकी प्रतिभा चाहे जितनी तत्पर और मेधा चाहे जितनी तीव्र हो, वह किसी भी दशा में प्रत्यक्ष अथवा कोरे विज्ञान से संतुष्ट नहीं हो सकता। वह प्रत्यक्ष में रहता और परोक्ष का स्वप्न देखता है। उसी के लिये चिंता भी करता है। विज्ञान के चरम निष्कर्ष भी प्रायः स्वतः इतने अस्थिर और संदिग्ध होते हैं कि उन्हें दूसरे कोनेवाले विज्ञानी ही नहीं मानते, फिर उनके आधार पर कोई शाश्वत और निर्भ्रांत सिद्धांत कैसे खड़ा किया जा सकता है। सूफियों के पक्ष में एक विशेष बात यह भी है कि स्वयं विज्ञान के अध्ययन में किसी जानकार विज्ञानी की आवश्यकता होती है। तो जब स्थूल द्रव्यों के विश्लेषण में किसी गुरु की सहायता अनिवार्य है तब सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्व के अनुसंधान में किसी जानकार की उपेक्षा किस प्रकार संभव हो सकती है। अतः हम देखते हैं कि तसव्वुफ में गुरु की महिमा आज भी अक्षुण्ण है और सूफी आंदोलन में पीरी-मुरीदी धूम से चल रही है। कोई कारण नहीं कि भविष्य में अहंकारी जीव भी अपनी कमी से अभिज्ञ होने पर किसी की मुरीदी न करे। वास्तव में मुरीदी का मतलब है अहंकार का नाश और प्रणिधान का उपार्जन। जब किसी को किसी तथ्य के जानने की जिज्ञासा होगी तब उसे किसी जानकार के पास जाना ही होगा। अहंभाव तो तभी तक बना रह सकता है जब तक हम में अज्ञान भरा है। जब कभी हमें यह पता चला कि वस्तुतः हम किसी कर्म के कर्त्ता नहीं हैं ; क्योंकि उस कर्म का पूरा होना, साधन होते हुए भी अपने हाथ में नहीं है, तब हमें अपने 'अहं' को छोड़कर किसी 'पर' की शरण लेनी ही पड़ेगी। उसकी कृपा से जहाँ हमें अपनी त्रुटि और सच्चे स्वरूप का बोध हो गया वहीं हम आरिफ बन गए और हमारी मुरीदी जाती रही। अस्तु, हम निःसंकोच भाव से कह सकते हैं कि विज्ञान का चाहे जितना प्रचार हो और हम अपने आप को चाहे जितना महत्त्व दें, पर हममें से पीरी-मुरीदी का सर्वथा लोप नहीं हो सकता। वह किसी न किसी रूप में हममें प्रतिष्ठित ही रहेगी और हम किसी जानकार की सेवा करते ही रहेंगे। परंतु इतना अवश्य होगा कि विद्या

और विज्ञान के प्रभाव से जपाट तथा खूसट जीव 'भेदिया' बनने का ढोंग न रच सकेंगे। वे दीन और दुनिया दोनों से अलग कर दिए जायेंगे। किन्तु सच्चे सूफी और सिद्ध मुरशिद की पूरी प्रतिष्ठा होगी और लोग उनकी मुरीदी में गर्व का अनुभव करेंगे। सच तो यह है कि इंसान बिना मुरीदी के रह भी नहीं सकता। उसके सिद्ध होने की तो बात ही निराली है।

आधुनिक अनुसंधानों ने सिद्ध कर दिया है कि आसन और प्राणायाम से शरीर तथा मस्तिष्क शुद्ध होते हैं और उनके उचित उपयोग से आयु भी बढ़ जाती है, पर सूफियों का ध्येय यह तो नहीं होता कि वे जिक्र और फिक्र के व्यायाम से आयु और स्वास्थ्य प्राप्त करें और संसार में अच्छी तरह रह सकें। उनके सामने तो सदैव प्रियतम के साक्षात्कार का प्रश्न रहता है और उसी की प्राप्ति के लिये वे रात दिन चिंतन और सुमिरन में जुटे रहते हैं। जिस महामिलन की कामना से सूफी प्रेम-पथ पर निकल पड़ते हैं उसकी पूर्ति के लिये फिक्र के अतिरिक्त इंसान और कर ही क्या सकता है? जिक्र और फिक्र करने से सूफी अपने उपास्य में तन्मय हो जाते हैं। इसी तन्मयताके लिये सूफी अभ्यास करते हैं। अभ्यास करते करते एक ओर तो साधक का चित्त साध्य में लीन हो जाता है और दूसरी ओर ध्याता अपने ध्येय का साक्षात्कार इसलिये कर लेता है कि उसे संसार की चिंता नहीं रह जाती। अभ्यास के कारण वह उससे मुक्त हो जाता है। भावना के क्षेत्र में यह एक सामान्य बात है कि जो जिसका ध्यान करता है वही वह हो जाता है। अस्तु, सूफियों के अभ्यास में विज्ञान के प्रकाशन से भी कुछ क्षति नहीं हो सकती। हाँ, यह बात दूसरी है कि मनोविज्ञान के प्रताप से उन्हें अपने लक्ष्य को भावना का प्रसव समझ लेना पड़े और साक्षात्कार की अलौकिकता को लौकिकता से बिलकुल भिन्न न मानना पड़े।

सूफीमत के इतिहास में हमने देख लिया है कि शामी मत का सारा महल इलहाम पर टिका है। उन नबियों की बातें न मानिए जो दरवेशों के परदादा और मादनभाव के जन्मदाता थे। पर उन रसूलों की उपेक्षा तो नहीं कर सकते जिन पर आसमानी किताबें नाजिल हुईं। 'वही' और 'इलहाम' में मुसलिम जो भेद करते हैं वह किसी तात्त्विक आधार पर नहीं, बल्कि व्यक्तियों पर निर्भर है। रसूलों

को सूफियों से अलग करने के लिये ही वे ऐसा करते हैं। 'वही' रसूल पर उतरती है और 'इलहाम' सूफियों को होता है, बस, यही तो उनमें भेद है? हाँ, वही और इलहाम प्रायः दोनों ही 'हाल' की दशा में होते हैं और उन्हीं के द्वारा शामी अपने मत को आसमानी सिद्ध भी करते हैं। सो, इलहाम की प्रतिष्ठा शामी मतों में तबतक खूब रही जब तक बुद्धि पाप की जननी और आदम के पतन का कारण समझी जाती थी। परंतु, जब बुद्धि-योग से आदमी आसमान में उड़ने लगा और स्वर्ग-सुख की अवहेलना कर आत्मानंद में लीन हुआ तब 'वही' और 'इलहाम' की पूछ कहाँ? इसमें संदेह नहीं कि आदत और आलस्य के कारण आज भी बहुत से लोग इलहामी हैं; पर इसी के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि ज्ञान के प्रकाश और विज्ञान के विश्लेषण से वे कभी कुछ भी प्रभावित न होंगे और सदैव उसी कठमुल्ली कठघरे में पड़े पड़े इलहाम का गुणगान करेंगे और बात बात में किसी का दीदार देखेंगे।

मसीहियों ने जब आर्य-दर्शन का अध्ययन फिर से आरम्भ किया और तर्क तथा विज्ञान के आधार पर अपने मत का विवेचन करना चाहा तब उन्हें स्पष्ट अवगत हो गया कि पादरियों की बातों पर अधिक दिन तक विश्वास नहीं किया जा सकता। दार्शनिकों में जो धार्मिक थे उन्होंने देखा कि सन्तों की अनुभूतियों को ठीक ठीक समझने के लिये वासना या बुद्धि ही सब कुछ नहीं है। वे सुन चुके थे कि परम तत्त्व अनुभवगम्य है, तर्क से उसकी सिद्धि नहीं हो सकती। वे यह भी जानते थे कि मनीषी सूफियों ने मजहबी दबाव के कारण म्वारिफ को स्वीकार किया था और किसी कदर वे इलहाम के भी कायल बने रहे थे। निदान, यूरोप के धार्मिक द्रष्टाओं ने 'इंट्यूशन' किंवा प्रज्ञा का प्रतिपादन किया। इंट्यूशन की उद्भावना से धर्म और दर्शन का यदि ठीक ठीक समन्वय हो जाता तो कोई बात न थी। किन्तु तार्किकों एवं हेतुवादियों का मुँह बंद करने के लिए विवेकी संतों ने जिस प्रज्ञा का प्रतिपादन किया उसकी प्रतिष्ठा अच्छी तरह होने भी न पाई थी कि लोग उसे ले उड़े और इलहाम की दाद देने लगे। पर थोड़े ही दिनों में यूरोप ठोस विज्ञान का भक्त बन गया और 'सुसमाचार' तथा पादरियों के कारनामों की उपेक्षा कर तत्त्व-चिंतन में

दत्तचित्त हुआ। मानस शास्त्र का आलोडन उसके लिये अनिवार्य होगया। अध्यात्म के क्षेत्र में जिन उलझनों के कारण इंट्यूशन वा प्रज्ञा की प्रतिष्ठा हुई, मनोविज्ञान में उन्हीं मजहबी बातों के आग्रह से 'सबकांशस' किंवा 'अन्तःसंज्ञा' को महत्त्व मिला 'इंट्यूशन' और 'सबकांशस' के आधार पर धार्मिक पाषंड और मजहबी मनसूबे एक बार फिर खड़े हुए ; पर परिस्थिति विज्ञान के इतने अनुकूल हो चुकी थी कि फिर उनकी धाक न जमी और लोग संतों के संदेशों तथा कवियों की वाणियों को तर्क पर कसने लगे। उनकी सचाई के लिये विज्ञान की सनद आवश्यक हो गई।

प्रज्ञा, म्वारिफ, एवं इंट्यूशन के आधार पर जिस अनुभूति वा साक्षात्कार का विधान किया जाता है उसके संबंध में भूलना न होगा कि वह बुद्धि और विवेक के प्रतिकूल नहीं होता। यद्यपि अंधविश्वासी भक्तों ने बुद्धि की पूरी निंदा की है और शामियों ने तो उसे इंसान के पतन का कारण ही मान लिया है तथापि बुद्धि ने इंसान का पिंड कभी नहीं छोड़ा और अंत में निश्चित हुआ कि विज्ञान के आधार पर बुद्धि की गवाही से ही किसी बात को सत्य की प्रतिष्ठा दी जाय। फलतः जहाँ कहीं हमारी बुद्धि चकित हो आगे न बढ़ सकेगी और हमें उस दिव्य धाम की झलक दिखाई सी पड़ेगी वहाँ हम अपनी दृष्टि को ठीक तभी कह सकेंगे जब हमें उसमें किसी प्रकार का संदेह न रह जायगा और हमारी जिज्ञासा भी तृप्त हो जायगी। यदि हम ऐसा नहीं करते तो इसका अर्थ है कि हम अपनी प्रतिभा और मननशीलता की केवल उपेक्षा ही नहीं करते बल्कि साक्षात्कार के क्षेत्र में पाषंड का प्रचार करते और इसके फलस्वरूप मानव जीवन को कलंकित भी करते हैं। जिस जाति अथवा समाज ने बुद्धि एवं विवेक की उपेक्षा कर केवल आसमानी किताबों का विश्वास किया और अपनी वासनाओं के क्रूर तांडव को ही ईश्वर का आदेश समझ लिया उसके साक्षात्कार का महत्त्व ही क्या ? विज्ञान तथा विश्लेषण के इस कठोर युग में बुद्धि का विरोध कर सिद्ध बनने की सनक अधिक दिन तक नहीं ठहर सकती। इलहामको शीघ्र ही अपना रंग बदलना होगा।

निरे इलहाम से असंतुष्ट हो सूफियों ने किस प्रकार म्वारिफ की शरण ली और उसके आधार पर किस प्रकार अपना एक अलग अध्यात्म खड़ा किया, इसका बहुत कुछ

पता हमें चल चुका है। म्वारिफ अथवा इंट्यूशन के भी वास्तव में दो[1] पक्ष हैं। एक तो वह जिसमें कलित कल्पना के आधार पर बहुत सी विलक्षण बातों की झांकी ली जाती है और जिसे हम लौकिक वा प्रकट कह सकते हैं और दूसरा वह जिसमें हम इतने तन्मय हो जाते हैं और जिसका स्वरूप इतना गुह्य होता है कि हम उसे सचमुच देख नहीं पाते और इसी से उसे अलौकिक वा गुह्य कह सकते हैं। अस्तु, किसी भी दशा में इंट्यूशन को बुद्धि का विरोधी नहीं कह सकते। हां, प्रथम में भावना की प्रधानता और द्वितीय में चिंतन की पुष्टता होती है। योग में जिस 'ऋतंभरा प्रज्ञा' का विधान किया गया है वह यों ही उत्पन्न नहीं हो जाती, उसकी उपलब्धि के लिये बहुत कुछ 'निरोध' करना पड़ता है। माना कि प्रज्ञा बुद्धि की पहुँच से आगे की चीज है, किंतु इसी से यह कैसे मान लें कि वह बुद्धि के प्रतिकूल भी है? नहीं, उसे हम बुद्धि की खरी कसौटी पर कस सकते हैं और उसकी सत्यता को किसी भी तर्क-वितर्क की खराद पर चढ़ा सकते हैं। यह ठीक है कि अनुभव की बातें तर्क से सिद्ध नहीं हो पातीं, पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे तर्क के विपरीत भी होती हैं। वास्तव में बुद्धि की भूमि में ही प्रज्ञा का उदय होता है। काम करते करते बुद्धि जब शिथिल हो सो-सी जाती है तब उसी में प्रज्ञा की स्फूर्ति होती है। किसी मनीषी ने ठीक ही कहा है कि निरी प्रज्ञा अंधी है[2]। प्रज्ञा के संबंध में स्मरण रखना चाहिए कि बुद्धि में जो नहीं आता, पर बुद्धि जिसको मानती है वास्तव में वही प्रज्ञा का विषय है। प्रज्ञा में हम विषय की चिंता तो नहीं करते, किंतु वह होता है किसी चिंता का ही परिणाम जो झट हमें अपनी झलक दिखा जाता है। सो उसके इस प्रदर्शन का कारण हमारी वह बुद्धि ही है जो उसके चिंतन में निमग्न थी पर श्रम की अधिकता के कारण सो सी गई थी। अस्तु, हमको मानना पड़ता है कि भविष्य में प्रज्ञा, म्वारिफ अथवा इंट्यूशन के आधार पर किसी ऐसे तथ्य का निरूपण नहीं किया जा सकता जिसका बुद्धि से कुछ भी संबंध न हो अथवा जो सर्वथा उसके प्रतिकूल हो।

---

(१) इन्स्टिंक्ट एंड इंट्यूशन, पृ० २६।
(२) एन आइडियलिस्ट व्यू आव लाइफ, पृ० १८१।

मनोविज्ञान के आक्रमण से मजहबी अनुभूतियों को सुरक्षित रखने का प्रयत्न ीजेम्स ने बड़ी तत्परता से किया और संज्ञा के साथ ही 'अंतः संज्ञा'(सबकांशसनेम) ा सूत्र निकाला। इसमें संदेह नहीं कि जेम्स के व्याख्यानों से संतों तथा धार्मिकों ो प्रोत्साहन मिला और वे संतों की अलौकिक बातो के प्रतिपादक बन गए, परंतु ैज्ञान के शुद्ध उपासकों को जेम्स के व्याख्यानों में शांति न मिली। उनकी समझ ं यह बात न आ सकी कि अंतःसंज्ञा अलौकिक किस न्याय से सिद्ध होती है। द्यपि श्री हाकिंग ने जेम्स के सिद्धांतों का परिमार्जन किया और उसकी त्रुटियों को देखाकर अध्यात्म को मनोविज्ञान से अलग रखने का विचार किया, तथापि उसमें ी कुछ विद्वानों को दोष दिखाई दिया और उससे सहमत न हो सके। और अंत ें श्री लूबा[1] ने तो यहाँ तक कह दिया कि वास्तव में मनोविज्ञान की दृष्टि से धार्मिक प्रनुभूतियाँ ईश्वर की अभिव्यंजना नहीं प्रत्युत मनुष्य की ही अभिव्यंजना हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि आधुनिक मनोविज्ञान संतो की अनुभूतियो में किसी अलौकिक तत्त्व का हाथ नहीं देखता अपितु उनकी प्रत्येक बात को मानस-शास्त्र[2] के भीतर सिद्ध कर देना चाहता है।

मनोविज्ञान और शुद्ध तत्त्व-चिंतन ने जितना मसीही संतों को व्यग्र किया उतना सूफियों को कभी नहीं। कारण प्रत्यक्ष है। प्रथम तो मुसलिम प्रदेशों में विज्ञान का अभी उतना प्रचार नहीं हुआ जितना मसीही देशों में है, द्वितीय यह कि सूफियों ने सदा से मजाजी के भीतर ही हकीकी का साक्षात्कार किया है। उनकी दृष्टि में लौकिक बाट का रोड़ा नहीं, अलौकिक का सोपान है। शामी-संकीर्णता को

---

(१) दी स इकालाजी आव रेलिजस मिस्टीसीज्म, पृ० ३१८।

(२) Psychology rejects the doctrine of an 'Unconcious mind' or 'subconcious' because 'all the empirically observed phenomnas which the mystics seek to base the doctrines, are easily explicable on hypotheses which are already in use and which are indispensable to psychology." (Mysticism, Freudeansim & Scientific Psycholcgy. P. 168.)

तिलांजलि दे सूफियों ने जिस अद्वैत का पक्ष लिया उसमें अल्लाह जैसा कोई ठोस पदार्थ न था। उसमें किसी प्रकार का गहरा भेद-भाव भी न था। प्रेमी और प्रिय दोनों वास्तवमें दो नहीं थे। जो कुछ विभूतियाँ विश्व में गोचर होती हैं उनको आरिफ विभु की लीलामात्र समझता है; और मानता है कि उस परम सत्ताके अतिरिक्त कोई अन्य सत्ता नहीं है : वास्तवमें वही प्रेमी और प्रिय भी है। अस्तु, हम देखते हैं कि सूफी हाकिंग के 'तत्' के कायल हैं और 'तत्त्वमसि' का आदेश भी करते हैं। उनके इस तत्त्वमसि को किसी विज्ञान का भय नहीं ; बल्कि विज्ञान भी प्रकारांतर से इसी का प्रतिपादन करता है। प्रतीत होता है कि मनोविज्ञान के कट्टर पंडित भी मानस-शास्त्र के आधार पर इसी तत्त्वमसि[1] का निदर्शन कर रहे हैं और यही कारण है कि हाल और इलहाम को अब वह प्रतिष्ठा नहीं मिल रही है जो कभी उसे सहज ही प्राप्त थी। आज तो उसे लोग किसी भूखे रोग का परिणाम समझने लगे हैं, किसी अलौकिक सत्ता का प्रसाद नहीं।

प्रज्ञा एवं अंतःसंज्ञा के संबंध में अन्वेषकों की चाहे जैसी धारणा रहे पर सूफी तो सदा से उनको प्रेम के अन्तर्गत समझते आ रहे हैं और उसी के आधार पर उनका निदर्शन भी करते रहे हैं। प्रेम के प्रदर्शन में ही सूफी पंडितों ने प्रज्ञा का प्रतिपादन किया और प्रेम के ही आवरण में सूफी-सिद्धांतों का प्रचार भी किया। इसमें तो संदेह नहीं कि सूफियों ने अपने उद्धार के हेतु ही प्रज्ञा का स्वागत नहीं किया। नहीं, उन्होंने तो अपने प्रियतम के साक्षात्कार के लिये ही उसका आश्रय लिया। प्रज्ञा की उद्भावना करानेवाला यह प्रेम ही सूफियों का सर्वस्व है। यह प्रेम ही एक ऐसी वस्तु है जिसके द्वारा हम सूफियों को वेदांतियों से अलग कर पाते हैं और उन्हें पहचानने में देर भी नहीं लगती। सूफियों के प्रेम के संबंध में हम पहले ही कह चुके हैं कि उसका आलंबन प्रायः अमरद होता है। किसी अमरद को लक्ष्य कर सूफी जिस प्रियतम का विरह जगाते हैं वह परमात्मा या परमसत्ता के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं होता। उनके आलंबन का विवरण चाहे जितना स्पष्ट और

---

(१) रेशनल मिस्टीसीज्म, पृ० ४२८।

प्रत्यक्ष हो उससे उन्हें कुछ मतलब नहीं। उनको तो 'हुस्नेबुतां' के परदे में अल्लाह का नूर देखना रहता है। उसी की व्यक्तिगत आभा को तो सूफी हुस्न कहते हैं? फिर 'हुस्न' का 'अल्लाह' से विरोध कैसा?

भक्तों के भगवान् प्रत्यक्ष होते हैं। उसकी प्रतिमा भी होती है। भक्त उसी में प्राण-प्रतिष्ठा कर उसे प्रियतम बना लेते हैं। उनके प्रियतम में जिस शील, शक्ति और सौंदर्य का विधान रहता है उसका एक ठोस इतिहास होता है। भावना के प्रचंड आवेश में उनको अपने इष्टदेव का प्रत्यक्ष दर्शन भी कभी कभी हो जाता है और उन्हें राम या कृष्ण के अवतारी रूप का आभास भी मिल जाता है। किंतु मसीही संतों की दशा इससे कुछ भिन्न है। फिर भी उन्हें भी कुमारी मरियम या मसीह का दर्शन हो ही जाता है। सूफियों में जो रसूल या मुरशिद को माशूक बनाते हैं वे मसीही संतों से अलग इसलिये हो जाते हैं कि वे इसको मजाजी के भीतर ही मानते हैं। मसीही-संतों में जो 'कैथलिक' होते हैं उनकी गणना वास्तव में भक्तों में होनी चाहिए। श्री लूथर ने जिस 'प्रोटेस्टेंट' दल का संघटन किया वह वास्तव में बहुत कुछ धर्म खोकर ही धार्मिक बना। उसमें जो संत निकले और जिन्होंने उद्धारके लिये जिस रति का पल्ला पकड़ा वह अधिकतर सूफी भक्ति-भावना के अनुरूप थी। वे पुत्र के प्रेम में पिता का प्रेम पाते थे। पर पश्चिम में विज्ञान के प्रचार के कारण उनके प्रेम प्रवाह में बाधा पड़ी और प्रेम ने एक नवीन रूप धारण कर लिया। इस प्रकार संस्कार तथा परिस्थिति के कारण एक ही भावना के अनेक भाव दिखाई देने लगे।

प्रज्ञा और अंतःसंज्ञा के संबंध में मनोविज्ञान के कट्टर पंडितों की चाहे जो धारणा हो पर प्रेम के पथिक सूफियों को उससे कुछ विशेष प्रयोजन नहीं। मतवाले सूफियों के लिये तो इश्क ही सब कुछ है। सूफियों के इश्क के संबंध में हम पहले ही कह चुके हैं कि उसका वास्तविक आलंबन अलक्ष्य होता है, पर साथ ही वह प्रत्यक्ष और मजाज़ी के भीतर अपना जलवा भी दिखाता रहता है। निष्कर्ष यह कि सूफी लौकिक प्रेम की सर्वथा उपेक्षा नहीं करते, बल्कि उसी के आवरण में परम प्रेम का विरह जगाते हैं। निदान, हम देखते हैं कि मनोविज्ञान का भय सूफियों को उतना नहीं जितना मसीही संतों को है। फलतः प्रेम के क्षेत्र में भी चिंतन का

वही परिणाम होगा जो विश्व के किसी भी पदार्थ अथवा चित्तवृत्ति की चिंता में होता है। किसी भी प्रत्यक्ष वस्तु की सत्ता पर विचार कीजिए, आपको उसमें किसी परोक्ष सत्ता का संकेत अवश्य मिलेगा। इसी परोक्ष सत्ता को सूफी अपना वास्तविक आलंबन बनाते हैं। तो भी सूफियों के प्रेमप्रदर्शन में भी कुछ परिवर्तन अवश्य होंगे। उद्भव के प्रकरण में हम बता ही चुके हैं कि अंतरायों के कारण सहज रति ने परम रति का रूप किस प्रकार धारण किया। भई! बात यह है कि मनुष्य अपने भावों को छिपाने अथवा उन्हें अलौकिक रूप देने में जितना दक्ष है उतना कोई भी अन्य प्राणी नहीं। और अपनी इसी दक्षता के बल पर तो उसने अपने को अन्य प्राणियों से दिव्य बना लिया है और दावा करता है कि उसका प्रेम काम-वासना से सर्वथा मुक्त है? पर करे क्या? उधर उसी के मनोविज्ञान[1] के पंडितों का कहना है कि उसका अलौकिक और दिव्य प्रेम भी वास्तव में काम-वासना का ही परिमार्जित रूप है। जब किसी किशोर[2] के हृदय में मनोभव की प्रेरणा होती है तब वह किसी रति की कल्पना करता है। मनुष्य ने अपने बुद्धिबल अथवा आसमानी आदेशों के आधार पर जो विधि-विधान बना लिए हैं उनके फलस्वरूप उसके संस्कार भी सामान्य प्राणियों से भिन्न, संस्कृत और प्रांजल बन गए हैं। इन्हीं संस्कारों की प्रेरणा से वह अपनी लौकिक वासना को अलौकिक रूप में देखना चाहता है। प्रवृत्ति प्रधान व्यक्तियों अथवा संसार को सुखमय समझनेवाले प्राणियों में सहज रति के प्रति कोई घृणा या जुगुप्सा का भाव नहीं होता। वे आनंद के साथ अपनी गृहस्थी चलाते हैं। पर

---

(१) साइंस एंड दी रेलिजस लाइफ, पृ० १३५।

(२) He (young Lover) does not approach her, but wanders off to the sea side and gazes at the horizon.. "Her beauty, her goodness, all her perfections are to him but proofs of God's unending love; and even her physical beauty leads not to desire but to a sacred joy in the glory, God has revealed us to the world." (Scienee And the Religious Life, P. 128-9)

निवृत्तिमार्ग के उपासकों को विरति का पक्ष लेना अनिवार्य हो जाता है, और इसके फलस्वरूप वे सामान्य रति की भर्त्सना भी करने लगते हैं। परतु उनमें जो स्वभाव से सहृदय तथा भावुक हैं और किसी प्रकार निवृत्तिप्रधान मार्ग में दीक्षित भी हो गए हैं उनके लिये तो अलौकिक रति का राग आलापना ही अवश्यंभावी है। यद्यपि इसलाम प्रवृत्तिप्रधान मार्ग है तथापि सूफियों की प्रवृत्ति इसलाम की प्रवृत्ति से सर्वथा भिन्न है। वह वस्तुतः प्रवृत्तिप्रधान नहीं कही जा सकती। सूफी भी वास्तव में संसार से विरक्त ही होते हैं और रति के आवरण में विरति अथवा परम रति का ही प्रतिपादन करते हैं। संसार उनका साध्य नहीं साधनमात्र है।

विज्ञान के प्रभाव अथवा उद्योग के उदय से पश्चिमीय सभ्यता का ध्येय यद्यपि मसीही उद्देश्यों से सर्वथा भिन्न हो गया है तथापि उसमें मसीही संस्कारों के अवशिष्ट आज भी बने हैं। संसार के कोने कोने में जिस पश्चिमीय सभ्यता का प्रकाश फैल रहा है उससे सूफी भी अछूते नहीं रह सकते। इसमें तो सन्देह नहीं कि आज-कल यह धारणा प्रबल हो जड़ पकड़ती जा रही है कि संसार से विरक्त हो एकांत में योग-साधना चित्त की दुर्बलता है और स्त्रीजाति की भर्त्सना करना तो पुराना खूसटपन। यद्यपि सूफियों ने कभी भी संन्यास का पक्ष नहीं लिया और सदैव 'प्रेम-पीर' का ही प्रतिपादन किया तथापि उनके प्रेम-प्रलाप में त्याग का भाव बराबर बना रहा : प्रेमीने प्रियतमके अतिरिक्त किसी अन्य को न जाना। और मजाजी में हकीकी का आभास मिलता रहा। पर आधुनिक परिस्थिति को देखते हुए यह कहने का साहस नहीं होता कि भविष्य में भी सूफी अपने इश्क को इसी रूप में अंकित करते रहेंगे और उसकी प्रणाली में किसी प्रकार का परिवर्त्तन न होगा।

सूफियों के प्रेम-प्रसार में परदे का भी पूरा हाथ है। पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव से परदा प्रतिदिन उठता जा रहा है और लोग प्रत्यक्षप्रिय होते जा रहे हैं। ऐसी दशा में सूफियों के प्रेम-प्रदर्शन में परदे का क्या महत्त्व होगा, यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता। किंतु इतना तो प्रकट है कि वह प्रतीक के रूप में सब भी पड़ा रहेगा। सूफियों के प्रेम-प्रसार की संभावना का प्रधान कारण यह है कि इस युग की प्रवृत्ति उनके अनुकूल होती जा रही है। आजकल हम देखते हैं कि एक ओर तो

भोग की लिप्सा प्रचंड होती जा रही है और दूसरी ओर रमणी का उससे संबंध ही नहीं गिना जाता। वह कुछ और ही समझी जा रही है। और इतने पर भी प्रकोप यह कि अर्थसंकट की घोर परिस्थिति ने संतान निग्रह को जो महत्त्व दिया है उसका प्रभाव यह पड़ रहा है कि लोग प्रणय से विमुख हो पाणिग्रहण की आवश्यकता ही नहीं समझते। अस्तु, जिस सहजानंद के संबंध में हम अब तक बहुत कुछ कह चुके हैं उसका प्रचार भी बढ़ता ही जा रहा है। कारण, उसके निरोध की आवश्यकता ही नहीं रही। हाँ, विशेषता उसमें यह आ रही है कि पुराने संस्कारों तथा शिष्ट-व्यवहारों के कारण उसके प्रकाशन में गोपन खूब होता जा रहा है। सूफियों को तो इस बात की चिंता न थी कि उनका आलंबन किसी प्रकार भी लौकिक न समझा जाय; किन्तु आजकल के अलौकिक प्रेमी के लिये यह अनिवार्य है कि वह अपने प्रेम को इस प्रकार व्यक्त करे कि उसमें कहीं इस बात की गंध न मिले कि उसके प्रेम का आलंबन कोई लौकिक व्यक्ति है। अब इस दुराव के लिये उसे बहुत कुछ प्रकृति-प्रपंच से काम लेना पड़ता है और प्रतीकों के रूप में ही अपने दिल को खोलना पड़ता है। कहना न होगा कि इस प्रकार के प्रेम-प्रसंगों में नखशिख की कोई दृढ़ योजना न होगी और प्रेमी प्रच्छन्न वा अद्भुत रूप में अपने भावों को व्यक्त करेगा। तात्पर्य यह कि भविष्य का सूफी मजाजी की उपेक्षा कर केवल हकीकी का पक्ष लेगा जो वास्तव में मजाजी का ही परिमार्जित रूप होगा और जिसमें नखशिख की अपेक्षा कुछ और ही पर विशेष ध्यान दिया जायगा। चाहे कुछ भी हो, पर प्रेम के प्रसंग में यह कभी नहीं हो सकता कि उसका सहज रति से कोई संबंध न रहे। अतः सूफियों के भविष्य के प्रेम-प्रलाप में भी 'वस्ल' की बहार होगी पर उसे व्यभिचार[1] का प्रसाद नहीं कहा जा सकता। कारण कि वह साधना का अंग जो है।

---

(१) पश्चिम के पंडितों और उन्हीं की देखादेखी कतिपय भारतीय महानुभावों का कहना है कि सूफी आचार पर ध्यान नहीं देते और पाप-पुण्य को एक ही समझते हैं। उनका यह कहना कितना निराधार है इसका पता कदाचित् रानडे महोदय के इस कथन से चल जाय—"And a Mystic saying that Mysticism starve

अब उपर्युक्त वार्ता के आधार पर निर्द्वन्द्व कहा जा सकता है कि सूफियों के प्रेम के लिये जिन बातों का होना आवश्यक है उनकी कमी आज क्या, कभी भी नहीं हो सकती। न जाने कितने दिनों से मनुष्य जिस परोक्ष सत्ता से संबंध स्थापित किए आ रहा है, जिसके प्रत्यक्षीकरण में मग्न है और जिसके संयोग के लिये नाना उपचार करने में व्यस्त है, उसकी उसी भक्ति-भावना के प्रबल आवेग के कारण जहाँ परोक्ष को प्रत्यक्ष, निर्गुण को सगुण एवं निराकार को साकार बनना पड़ता है वहीं उसके मजहबी मनसूबों तथा बाहरी दबाव वा चिंता के कारण प्रत्यक्ष को परोक्ष और मूर्त्त को अमूर्त्त भी बनना पड़ता है। जो लोग आजकल की प्रेम-कविता को ध्यान से पढ़ते हैं और यह अच्छी तरह जानते भी हैं कि कामवासना ही परिमार्जित होकर परम प्रेम का रूप धारण कर लेती है उनके सामने प्रेमी कवियों का अलौकिक 'आलिंगन', सूफियों के चिरपरचित 'वस्ल' अथवा शृंगारी कवियों के स्पष्ट अनुभावों से, सर्वथा भिन्न, कभी भी सिद्ध नहीं हो सकता। हम पहले ही कह चुके हैं कि संसार जिस गति से आगे बढ़ रहा है और जिस रूप में स्त्री-पुरुष के सहज संबंध को देख रहा है वह अधिकतर छंदमय और 'उल्लास' प्रिय है। जिस 'उल्लास' की प्रेरणा से प्राचीन नबियों ने सामान्य रति को परम रति का रूप दिया और आराधना के क्षेत्र में मादनभाव की प्रतिष्ठा की उसी उल्लास के आग्रह से आजकल भी अलौकिक प्रेम का गीत गाया जा रहा है और उसी की ओट में किसी दिव्य लोक का संदेश सुनाया जा रहा है। हाँ, इसमें अंतर यह अवश्य आ रहा है कि विज्ञान के प्रभाव के कारण आज की भाव-व्यंजना पहले से कुछ अधिक संयत, सूक्ष्म और दुरूह होती जा रही है। अस्तु, यह कहा जा सकता है कि भविष्य में भी मादन भाव की मर्यादा बनी रहेगी और लोग लगन के साथ उसका स्वागत करेंगे। पर इतना अवश्य

---

the moral sense is only attempting to throw stones at a glass house in which he is himself living. On the other hand, we find that a true life of Mysticism teaches a fullfledged morality in the individual life and of absolute good to the society." (Mysticism in Maharastra P. 27.)

होगा कि भविष्य के प्रेमी कवियों का आलंबन और भी धुँधला और अस्पष्ट होगा। सारांश यह कि जब तक मनुष्य किसी परोक्ष सत्ता में विश्वास करता है और उसे अपने पास नहीं बुला पाता तब तक उसकी खोज में लगा रहेगा। इस खोज की प्रेरणा जब किसी प्राणी की प्राप्ति के अभाव में होगी और उससे हमारा शृंगारी संबंध भी स्थापित हो गया होगा तब हमें लाचार होकर सूफी या अलौलिक प्रेमी होना होगा। निदान, हमको मानना होगा कि अंतरायों तथा व्यवधानों के कारण, भविष्य में भी, कामवासना परम प्रेम का रूप धारण करती रहेगी और भावुक मादनभाव के भक्त या सूफी बनते ही रहेंगे।

सूफीमत के मुख्य अंगों का अवलोकन हो चुका। देखना केवल यह रहा कि नजूम, झाड़फूँक और करामत आदि बाहरी बातों का संबंध तसव्वुफ से क्या होगा। इसके संबंध में भूलना न होगा कि वास्तव में इन बातों का संबंध जनता के आर्त्त हृदय से है कुछ तसव्वुफ वा सूफियों के मूल भाव से नहीं। सच्चे सूफी झाड़फूँक नहीं करते। उनकी दृष्टि में तो दुखदर्द भी प्रियतम की बानगी और प्रसाद ही है। अतः करामत के द्वारा जनता को विस्मय में डाल देना अथवा उसे किसी प्रकार मूढ़ बनाने की अपेक्षा कहीं अच्छा है उसको प्रेम-पीर सिखाना। सूफी इस प्रकार की झूठी शेखी में नहीं पड़ते और न औरों को ही इस मायाजाल में फँसने देते हैं, परंतु जब तक जनता दुखदर्द में फँसी है और साधु-संतों की शक्ति में उसे विश्वास भी है तब तक तसव्वुफ में उक्त बातों को स्थान है। यद्यपि आजकल की गति-विधि को देखने से पता चलता है कि मनुष्य अब अपनी शक्तियों का अभिमान करने लगा है और प्रणिधान से पुरुषार्थ को ही अधिक महत्त्व दे रहा है तथापि निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि भविष्य में चमत्कार और झाड़फूँक से तसव्वुफ का कुछ भी नाता न रहेगा। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अब इनके लिए मानव हृदय उपजाऊ नहीं रहा। अब तो प्रतिदिन इनकी मर्यादा न्यून ही होती जायगी। किंतु प्रेम-पीर की मधुर पुकार से तो जीव कभी बच नहीं सकता, चाहे विज्ञान के द्वारा वह जड़ भले ही बन जाय।

---

*

परिशिष्ट १

तसव्वुफ का प्रभाव

सूफी देखने में यद्यपि संसार से कुछ विरक्त दिखाई पड़ते हैं तथापि उनक मुख्य उद्देश्य अपने मत का प्रचार करना होता है। हमने पहले ही देख लिया है कि प्राचीन नबियों में कुछ ऐसे भी जीव होते थे जो सामाजिक आंदोलनों में ही नहीं, अपितु राजनीतिक हलचलों में भी पूरा योग देते थे। श्री मैक्डानल्ड[1] ने ठीक ही कहा है कि इसलाम के प्रचार के लिये नीतिज्ञ दरवेश प्रांतीय प्रदेशों में जाते और अपनी उदारता तथा प्रेम के उपदेशों से कतिपय व्यक्तियों को मूँड़ लेते थे। धीरे धीरे जब उनकी संख्या पर्याप्त हो जाती थी और उनको अपनी शक्ति में विश्वास हो जाता था तब उनका वहीं एक उपनिवेश बन जाता था, जो समय पाकर किसी मुसलिम शासन के सहारे एक साम्राज्य में परिणत हो जाता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन सूफियों का प्रचार बहुत कुछ उसी ढंग पर चल रहा था जिस ढंग पर पादरियों का चलता रहा है। प्रसिद्ध ही है कि मुहम्मद गोरी को भारत में लानेवाले व्यक्तियों में ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती का अभिशाप[2] भी था जिन्होंने उससे पहले राजस्थान में भ्रमण किया था और उसकी राजधानी अजमेर में अपना अड्डा भी जमा लिया था। कहना न होगा कि सूफियों के शाप का अर्थ उस समय इसलाम का आक्रमण ही होता था। आज हमें यद्यपि इस प्रकार के सूफी नहीं दिखाई देते जो इस प्रकार के बड़े काम कर सकें तथापि हम प्रतिदिन देखते हैं कि अनेक सूफी तबलीग में योग दे रहे हैं और इसलाम के प्रचार में

---

(१) पेर्स्पेक्ट्स आव इसलाम, पृ० २८४।

(२) प्रीमुगल पर्शियन इन हिन्दुस्तान, पृ० २८६–७।

मग्न हैं । प्रत्येक पीर की ओर से उसके कुछ खलीफे अपने संप्रदाय के प्रचार में लगे हैं और प्रकारांतर से इसलाम का हित कर रहे हैं । ख्वाजा हसन निजामी (चिश्ती) का उल्लेख भर पर्याप्त होगा । हमें इस स्थल पर इस प्रकार के प्रचार पर विचार करने की आवश्यकता नहीं । जरूरत इस बात की है कि हम थोड़े में यह दिखा दें कि तसव्वुफ के प्रचार का प्रभाव स्वयं इसलाम तथा अन्य मतों पर क्या पड़ा ; अथवा किस प्रकार सूफियों ने मानव जाति को अपना ऋणी बनाया ।

सो, तसव्वुफ के प्रभाव पर विचार करते समय यह स्मरण रखना चाहिए कि तसव्वुफ का सबसे व्यापक और पुष्ट प्रभाव स्वयं इसलाम पर पड़ा । मौलाना रूमी ने कुरान से जो गूदा निकाला, सूफी उसी के सेवन से इसलाम को मधुमय तथा सरस बनाते रहे। यदि वे ऐसा न करते तो मुसलिम उन्हीं हड्डियों के लिये परस्पर लड़ते रहते जिन्हें उन्होंने अलग फेंक दिया था । मुसलिम शासक जब अमरदपरस्ती में मस्त थे, मुसलिम सेना जब भोग-विलास और हाव-भाव में मग्न थी, मुल्ला-काजी जब घोर उपद्रव खड़ा करने में लग्न थे, जनसामान्य के लिये जब कोई निश्चित मार्ग न रह गया था, तब उस घोर परिस्थिति में, यदि सूफी आगे न बढ़ते तो कौन मानव-जीवन को सरस और आनंदमय बनाता ? कौन निरीह जनता की पुकार सुनता ? निःसंदेह उस समय सूफियों ने घूम घूम कर जो प्रेम का प्रचार किया वही इसलाम के मंगल का स्तंभ हुआ और उसी ने इसलाम के भारी महल को ढहने से बचा लिया । उनके अथक प्रयत्न से प्रायः सभी दीनदार मुसलमान किसी न किसी सूफी-संघ के भीतर आ गए और उस परम प्रियतम के वियोग में उसके 'गैर-इस-लामी' बंदों पर भी रहम करने लगे । प्रेम के उपासक सूफियों ने जनता को अच्छी तरह सुझा दिया कि अल्लाह जीवमात्र का शासक और प्रत्येक हृदय का आलंबन है । उसके साक्षात्कार के लिये दिल को साफ रखने की जरूरत है, किसी रसूल की रट लगाने की नहीं । खुदी को रखते हुए खुदा का नाम लेना अपने को गुमराह करना है, अल्लाह का आराधन नहीं ।

सूफियों के प्रयत्न से तसव्वुफ घर-घर पहुँच गया और लोगों की अभिरुचि भी इसकी ओर अधिक दिखाई पड़ने लगी । पर 'मुंडे मुंडे मतिर्भिन्ना' के अनुसार

सूफियों में भी अनेक संघ स्थापित हो गए और वे अपने-अपने सिलसिले का प्रचार करने लगे। इससे तसव्वुफ के प्रचार में नया जीवन आ गया और लोग उसकी ओर और भी चाव से बढ़ने लगे। परंतु, जैसा कि प्रायः देखा जाता है, संघ प्रेम के प्रचारक ही नहीं, व्यभिचार के अड्डे भी होते हैं। रसूल कभी-कभी आते हैं तो शैतान सदा पीछे पड़ा रहता है। निदान उसके प्रताप से अनेक सूफी अपने लक्ष्य से गिरे और बहुत से तो शैतान के पक्के मुरीद बन गए। पर सामान्यतः समष्टि-दृष्टि से जनता पर उनका प्रभाव सदा अच्छा ही रहा। उनके दोष भी गुण ही गिने गए। बात यह थी कि सूफियों में एक दल ऐसा भी था जो जान-बूझकर दुराचारों का प्रदर्शन इस दृष्टि से करता था कि लोग उससे घृणा करें और दूर रहें। इस प्रकार सूफियों के पाप भी प्रकारांतर से पुण्य या प्रेम के प्रसाद ही समझे जाते थे। सूफी वास्तव में जितने पाक थे उससे कहीं अधिक जनता को पवित्र दिखाई देते थे। समर्थ पीरों में दोष की कल्पना मुरीदों के चित्त में, कैसे उठ सकती थी? वे अपनी बाहरी आँखों को झूठ या दोषी ठहरा सकते थे, किंतु किसी फकीर में दोष नहीं देख सकते थे। किसी दरवेश की मौज को कौन जान सकता है? उसकी बातों पर गौर करना और उसके कहे पर चलना ही मुरीदों का 'फ़र्ज़' है। उसके आचार-विचार और उसके व्यवहार पर टीका-टिप्पणी करने की उनमें क्षमता कहाँ? निदान, सूफियों की दुआ और तबर्रुक से लोगों के क्लेश कट जाते हैं। तावीज़ से 'जिन्न' भाग जाते और मिन्नत से मनचाही चीज मिल जाती हैं। अन्यथा होने पर श्रद्धा और विश्वास की कमी समझी जाती है; उनकी शक्ति और सामर्थ्य की नहीं। सारांश यह कि उनके प्रसाद से लोक-परलोक दोनों ही सध जाते हैं और जनता उन्हीं के इशारे पर चलती है। जब कभी उसमें अन्यथा भाव आता है तब उस पर आपत्तियों के पहाड़ टूट पड़ते हैं और वह किसी कब्र पर चिराग जलाने या किसी फकीर से तबर्रुक हासिल करने चट पहुँच जाती है। उसके रक्षक फकीर और पीर ही हैं। मुसलिम दृष्टि से इसमें इसलाम की अवहेलना भले ही हो, पर सूफियों के प्रभाव से मुसलिम हृदय ने किया यही।

मुरीदी के प्रचारक सूफियों की संख्या कम न थी। एक शेख के कई खलीफे

और न जाने कितने धावन होते थे जो मत के प्रचार तथा सिलसिले की देख-भाल में लगे रहते थे। सूफियों के सिलसिलों की कोई सीमा नहीं। जहाँ कहीं कोई प्रतिभाशाली अभिमानी सूफी उत्पन्न हुआ कि उसका नया सिलसिला चल पड़ा। यदि वह शांत प्रकृति का हुआ और उसने अपने जीवन में अपने को अन्य सिल-सिलों से अलग न कर लिया तो उसके शिष्यों ने अगली पीढ़ी में उसे अवश्य ही अन्यों से अलग कर लिया और एक नए सम्प्रदाय को जन्म दिया। देश-काल का भी सिलसिलों पर पूरा प्रभाव पड़ा।

किसी भी सूफी सिलसिले पर विचार करते समय यह न भूल जाना चाहिए कि उसका आदि-पुरुष अथवा सूत्रधार वास्तव में रसूल, बकर, उमर, उसमान, अली किंवा कोई अन्य रसूल का प्रतिष्ठित साथी ही माना जाता है। इन महानु-भावों के नामोल्लेख का प्रधान कारण तो यह है कि मुसलिम उनके उल्लेख के बिना किसी शुभ कर्म या सिलसिले का श्रीगणेश कर ही नहीं सकता। उसका मजहब इसके लिये उसे मजबूर करता है। अस्तु, सूफियों की इस मनोवृत्ति का मुख्य कारण एक ओर तो इसलामी दबाव और दूसरी ओर उनकी अगाध श्रद्धा है। साधारण मुसलमान भी इस चेष्टा में लगा रहता है कि वह किसी खलीफा या रसूल के साथी का वंशज मान लिया जाय। परन्तु तथ्य यह है कि सूफियों के भिन्न भिन्न खानदानों का सीधा संबंध उक्त महानुभावों से कुछ भी नहीं है। उनका प्रवर्त्तक या आचार्य वास्तव में कोई पीर या मुरशिद ही है। रसूल और उनके साथियों को तो इसलाम के प्रचार से ही फुरसत न मिली, वे अलग अलग अपने अपने सिलसिले कहाँ से चलाते?

हुज्वेरी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक[1] 'कश्फुल् महजूब' में सूफियों के बारह सिलसिलों का वर्णन किया है; जिनमें केवल दो गैर-इसलामी हैं। इसलामी सिल-सिलों में सर्व प्रथम समय की दृष्टि से मुहासिबी संप्रदाय माना जाता है। उसके अनंतर क्रमशः हकीमी, तैफूरी, कस्सारी, खर्राजी, सहली, नूरी, जुनैदी खफीफी

---

(१) इसलाम इन इंडिया, पृ० २।

और सय्यारी नामक सिलसिले कायम हुए। कहने की बात नहीं कि इन संप्रदायों का नामकरण उनके प्रवर्त्तकों के नाम के आधार पर किया गया है। तैफूरी का प्रवर्त्तक बायजीद या यजीद बिस्तामी है जो इसी नाम से विख्यात है। उक्त सूफियों ने क्रमश रजा, विलायत, सुक्र, मलामत, फना व बका, मुजाहजा, इसार, शह्व गैबन व हजूर और जमा व तफरीक पर अधिक जोर दिया है।

गैर इसलामी सिलसिलों में हुज्वेरी ने एक ही का नाम दिया है जिसका प्रवर्त्तक दमिश्क का अबू हुल्मान नामक सूफी था। हुज्वेरी ने उसको हुलूली कहा है। हुलूल में अवतार का भान होता है, अतः मुसलिम उसे इसलाम से अलग मानते हैं। दूसरा सिलसिला जिसे मुसलिम इसलाम के अन्तर्गत नहीं मानते वह शायद हल्लाजी है जिसका प्रवर्त्तन हल्लाज के शिष्य फारिस ने किया था।

हुज्वेरी के अनंतर तसव्वुफ में आर्य संस्कारों का प्रवेश होता रहा और कुछ ही दिनों में उसका रूप इतना स्पष्ट और परिवर्त्तित हो गया कि लोग उसे इसलामी कहने में भी संकोच करने लगे। सूफियों में अनेक वंश ऐसे प्रतिष्ठित हो गए जो जन्मांतर[१] को मानते और सर्वदा गैर-इसलामी कहे जाते हैं। इस संबंध में यह स्मरण रखने की बात है कि इसलामी सिलसिलों में सबसे प्राचीन सिलसिला मुसाहिबी का है जो प्रथम सूफी लेखक और उक्त सिलसिले का प्रवर्त्तक है। मुसाहिबी बसरा का निवासी था। शेष प्रवर्त्तकों में खर्राज, नूरी और जुनैद बगदाद के सूफी नर-रत्न थे। हसन और राबिया भी बसरा के निवासी थे। मतलब यह कि सूफी-मत के इतिहास में बसरा का प्रमुख स्थान है। बसरा सदा से आर्य-संस्कृति का प्रांत रहा है। उस पर विचार करने से तसव्वुफ की प्रगति पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है और आर्य-प्रभाव भी स्पष्ट हो जाता है। गैर इसलामी सिलसिलों के संबंध में स्मरण रहे कि हुलूल अवतार का रूप कहा जाता है और हल्लाज भारत आया भी था। अतः इन दोनों का आर्य प्रभाव से प्रभावित होना असंभव नहीं कहा जा सकता।

---

(१) ऐन आइडियलिस्ट व्यू आव लाइफ, पृ० २८६।

सूफियों के प्रति इसलाम की चाहे जैसी धारणा रहे, उनके मठों की चाहे जितनी अवहेलना हो, वहाबी उनके प्रतिकूल चाहे जितने आंदोलन करें और उनके मत को हिंदू-मत का अंग ही क्यों न साबित करें, पर इतना तो उन्हें भी मानना ही होगा कि इसलाम का कोना-कोना तसव्वुफ के चिराग से ही रोशन है। क्या समाज, क्या दर्शन, क्या आचार, क्या विचार, क्या काव्य, क्या साहित्य, इसलाम के सभी अंगों पर तो सूफियों की छाप है और उन्हीं के रंग में तो इसलाम सबको रँगा हुआ दिखाई दे रहा है? वास्तव में तसव्वुफ इसलाम का रामरस है। उसके बिना इसलाम नीरस और फीका है।

शायद ही कोई मुसलमान ऐसा मिले जिसकी कुशल के लिये कभी किसी पीर की मिन्नत न मानी गई हो और जिसके हित के लिये कभी किसी फकीर से तावीज या दुआ हासिल न की गई हो। यह तो हुई सामान्य मुसलिम जनता की बात। पढ़े-लिखे मर्मज्ञों के विषय में हम देख ही चुके हैं कि सभी कुछ न कुछ सूफीमत से प्रभावित अवश्य हुए हैं। इसलामी[1] दर्शन की निजी सत्ता में बहुतों को संदेह है। स्वयं मुसलमान 'फ़िलसफ़ा' को यूनान का प्रसाद समझते हैं और गहरी बातचीत में अरस्तू और अफलातून का ही नाम लेते हैं, कुछ किसी अरब का नहीं। यद्यपि कुछ मुसलिम द्रष्टाओं ने यूनानी द्रष्टाओं का कहीं कहीं कुछ खंडन भी कर दिया है तथापि दर्शन के क्षेत्र में इसलाम की स्वतंत्र सत्ता नहीं ठहर सकती। रही तसव्वुफ की बात। सो उसके विषय में दुनिया जानती है कि इसलामी तसव्वुफ मौलिक न होने पर भी अपनी स्वतंत्र सत्ता रखता है; और प्रेम के क्षेत्र में तो उसका सामना करने-वाला कोई अन्य दर्शन है ही नहीं। मोतजिलियों के तर्क से जब इसलाम उत्सन्न हो रहा था तब उसकी प्रतिष्ठा तसव्वुफ ने ही तो की? सूफियों ने आर्य-दर्शन के आधार पर उनका समाधान किया और इसलाम को चिंतनशील बनने का अवसर मिला। इसलाम में जितने मनीषियों ने जन्म लिया उनमें अधिकांश सूफी थे जो सर्वथा सूफी न थे वे भी तसव्वुफ से बहुत कुछ प्रभावित थे और अंशतः सूफी-सिद्धांतों के पोषक भी

(१) ऐन आइडियलिस्ट व्यू अव लाइफ, पृ० २८६।

थे। सिना, किंदी, अरबी सभी तो सूफी थे। गज्जाली और फाराबी भी तो तसव्वुफ के संस्थापक थे! तसव्वुफ का प्रभाव मुसलिम द्रष्टाओं पर इतना व्यापक और गहरा पड़ा कि अरस्तू का रूप भी इसलाम में जाकर कुछ और ही हो गया और उसमें भी तसव्वुफ का यहाँ तक बोलबाला हो गया कि बाद के मसीही पंडितों को उसको शुद्ध और स्पष्ट करने में पूरा श्रम करना पड़ा। सूफियों के विरोध में जो मुसलिम मनीषी आगे आए उनका या तो दर्शन से कुछ संबंध ही नहीं था या कुरान और हदीस के कोरे पंडित और निरे मुल्ला थे। उनमें से भी जिनमें कुछ स्वतंत्र जिज्ञासा और छानबीन की समझ थी वे अंशतः सूफी अवश्य हो गये। विवेक और मजहब का पक्का पाबंद मुसलिम, सूफी के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता। गज्जाली से उत्तम प्रमाण इसका और कौन हो सकता है? वह इसलाम का इमाम और तसव्वुफ का आरिफ है। तसव्वुफ के विषय में उसका[1] कहना है कि जो तैरना सीख चुका हो वह प्रेम-सागर में उतर पड़े नहीं तो किनारे पर धीरे से नियमानुकूल गोता लगाए। यदि वह ऐसा न करेगा तो उसका विनाश हो जायगा: वह खिसक कर डूब जायगा। उसके मजहबी जीवन के लिये तो कुरान और हदीस ही पर्याप्त हैं।

यह तो हमने देख लिया कि इसलाम में दर्शन का जो कुछ थोड़ा-बहुत प्रचार हुआ उसका अधिकांश श्रेय सूफियों को ही है। अब हमें यह भी देख लेना चाहिए कि तसव्वुफ का प्रभाव मुसलिम साहित्य पर क्या पड़ा। इसमें तो किसी भी अभिज्ञ को आपत्ति नहीं हो सकती कि इसलामी साहित्य में दर्शन तसव्वुफ की राह से आया और सूफियों ने ही काव्य में दर्शन का सत्कार किया। नहीं तो सीधे सादे और उग्र इसलाम में उसको जगह कहाँ थी? अरब मरना-मारना, जी लेना-जी देना खूब जानते थे, प्रमदाओं से प्रेम भी डटकर करते थे, संग्राम में शाइरों की ललकार भी गूँज उठती थी, पर वे किसी बात पर टिक कर विचार नहीं कर पाते थे। वे प्रत्यक्ष-प्रिय और स्पष्ट थे। किसी विचार में डूब जाना वे नहीं जानते थे।

---

(१) दी हिस्टरी आव फिलासफी इन इसलाम, पृ० १६५।

गुह्य बातों के शांत चिंतन में उन्हें आनंद नहीं मिलता था। उनमें पुरुषार्थ था, किंतु वे अर्थ और काम से आगे नहीं बढ़ पाते थे। इसलाम ने धर्म की भावना उनमें कूट कूटकर भर दी ; पर उनमें परमार्थ और प्रेम का व्यापक प्रचार न हो सका। यह काम सूफियों ने किया और उनके प्रसाद से कठोर अरब भी तसव्वुफ के भक्त बन गए। अरबी कविता में सूफियों का मन लगा तो मुसलिम साहित्य भी तसव्वुफ से भर गया।

हाँ, अरबी में अधिकतर दार्शनिक ग्रंथ ही लिखे गए। मजहबी जबान होने के कारण उसमें इसलाम का तो पूरा प्रसार हुआ पर तसव्वुफ की उतनी प्रतिष्ठा न हुई और उसका साहित्य भी उससे उतना न भरा जितना फारसी का।

फारसी भाषा की रमणी-सुलभ कोमलता प्रेम-प्रलाप के सर्वथा उपयुक्त थी। फलतः सूफियों ने इसमें खूब अपना जौहर दिखाया और प्रेम के करुण भावों से इसे आप्लावित भी कर दिया। फिरदौसी के अतिरिक्त एक भी उत्तम कवि ऐसा न हुआ जो फारसी में कविता करे और तसव्वुफ से बचा रहे। ईरान की पराधीनता ने जिस कविता को जन्म दिया उसमें 'इश्क' और 'शराब' के अतिरिक्त और जो कुछ है वह भी सूफियों के रंग में रँगा हुआ है। सूफियों के प्रेम-प्रवाह में वह लपट है जो अनृत को भस्म कर ऋत को प्रकाशित कर देती है और हम उसके प्रकाश में प्रकट देख पाते हैं कि फारसी का मुसलिम साहित्य भी तसव्वुफ के नूर से ही रोशन है।

सचमुच तसव्वुफ के प्रभाव में आ जाने से इसलाम कोमल, कांत और उदार हो गया। जहाँ कहीं सूफी पहुँचे, इसलाम की कट्टरता कम हुई। उसमें हृदय का प्रसार हुआ और जनता प्रेम-पीर की खोज में लगी। सूफियों के प्रयत्न से लोग समझ गए कि बुतपरस्ती भी एक तरह से खुदापरस्ती ही है और मुशरिक तो वस्तुतः वह है जो नफ़सपरस्त है और अपने को कर्त्ता समझता तथा खुदी में मस्त रहता है। बुत-परस्त तो खुदी का तोबा करता और अपने अहंभाव को त्यागकर उसी बुत में अल्लाह का साक्षात्कार कर उसी के द्वारा अपने सत्य-स्वरूप में तल्लीन हो जाता है, अथवा कण-कण में अपना दिलदार देखता और रह-रहकर अपने

प्रियतम से आँखमिचौनी खेलता है. और अन्त में उसी में लुप्त भी हो जाता है। वह संसार में सच्चे बंधुभाव का प्रचार करता और प्राणिमात्र को प्रेम का संगीत सुनाता है। इसलाम की प्रगति पर ध्यान देने से अवगत होता है कि उचित अवसर पर यदि सूफी इसलामी संप्रदायों में प्रेम का प्रचार न करते और आरिफ वादियों का मुँह तर्क से बंद नहीं कर देते तो शायद इसलाम का अंत उसीके बंदे परस्पर लड़-भिड़कर सहसा कर बैठते और उसके नाम के कुछ निशान ही शेष रह जाते।

इसलाम जिस रूप में आज प्रचलित और प्रतिष्ठित है उसमें सूफियों का कितना योग है यह हम निश्चितरूप से ठीक-ठीक नहीं कह सकते ; पर इतना तो मानना ही होगा कि वहाबियों के घोर आंदोलन में कुछ सार अवश्य है। इसलाम के प्रचार में दरवेशों का पूरा हाथ था तो इसलाम के दर्शन में ज्ञानियों का पूरा योग है। इतना ही नहीं, इसलाम के साहित्य में प्रेमियों का पूरा प्रलाप है, इसलाम की उपासना में पीरोंका विशेष ध्यान है, इसलाम की कुशल में मजारों का पूरा विधान है, कहाँ तक कहें, इसलाम के रसूल और अल्लाह में भी तो सूफियों का पूरा पूरा नूर और हक है ? संक्षेप में कहने का सार यह कि सूफी अपने को 'बातिन' और मुसलिम को 'ज़ाहिर' का भक्त समझते हैं। आधुनिक इसलाम में बातिन और जाहिर एक में मिल गए हैं। आज अरब का उम्मी रसूल कोरा रसूल ही नहीं है बल्कि वह तो अल्लाह का 'नूर' और इसलाम का 'कुत्ब' या 'इंसानुल कामिल' भी बन गया है। संसार उसी के इशारे पर चल रहा है। सचमुच इसलाम में तसव्वुफ वह वर्षण है जो किसी भयंकर आँधी को शांत कर पृथिवी को सरस और प्रकृति को प्रसन्न कर देता है और जिसके प्रभाव से सृष्टि हरी-भरी हो लहलहा उठती है और जिसके प्रवाह से फटे हृदय भी घुल-मिलकर एक हो जाते हैं।

इसलाम में तसव्वुफ प्रतिदिन बढ़ता रहा और उसके मलहम से विजित जातियों का घाव भरता गया। लोग उसकी मुरीदी करने लगे। मसीही जिनकी सभ्यता, संस्कृति और साहित्य का आज पता ही नहीं चलता, जिनकी बात ही आज प्रमाण मानी जाती है जो अपने को सत्य का ठेकेदार और शील का आदर्श समझते है, उन पर भी सूफियों का ऋण लदा। उनके बाप-दादों ने भी उनकी मुरीदी

की। कोई कुछ भी कहे, पर यूरोप का इतिहास इसे भुला नहीं सकता। फिरंगी इसको अस्वीकार कर नहीं सकते। उनमें से अधिकांश इसे मानते भी खूब हैं।

मुहम्मद साहब के निधन के उपरान्त सहसा इसलाम स्पेन तक छा गया और मसीही उसके विरोध तथा यूरुसेलम की संरक्षा में जी-जान से लग गए। 'क्रूसेड' शब्द आज भी उसकी याद दिलाता है। वस्तुतः स्पेन, सिसली और क्रूसेड ही वे मार्ग हैं जिनके द्वारा तसव्वुफ यूरोप में प्रविष्ट हुआ और मसीही संघ पर अपनी छाप छोड़ गया। पोपों के प्रकोप, पादरियों की संकीर्णता एवं प्रचारकों की वंचना से जिस समय यूनानी दर्शन का लोप हो चला था और मसीही संघ पारस्परिक संघर्ष में पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा की मनमानी व्याख्या में मग्न था और अपने आपको परमेश्वर के लाड़ले एकाकी पुत्र का भक्त समझता था उस समय सूफियों के नूर ने ही मसीहियों को वह प्रकाश दिखाया जिसको भूल जाने के कारण उसी की खोज में वे परस्पर भिड़ रहे थे और अपने को इतने पर भी धन्य ही समझते थे। कहना न होगा कि मसीही मत का वास्तविक उत्कर्ष इसलाम के अपकर्ष के साथ हुआ। जब पारस्परिक विद्रोह और भोग-विलास की प्रचुरता के कारण इसलाम जर्जर और शीर्ण हो गया तब यूरोप का सितारा चमका और मसीहियों ने अपनी चमक-दमक से जग को मोह लिया।

तसव्वुफ का प्रधान लक्षण प्रेम अथवा मादनभाव ही है। अतः सर्व-प्रथम हमें यह देख लेना है कि मसीहियों पर उसका प्रभाव क्या पड़ा। सूफियों के आलंबन के विषय में हम बहुत कुछ जानते हैं। यहाँ कुछ मसीहियों के आलंबन के विषय में भी विचार कर लेना चाहिए। श्री लूबा[1] का निष्कर्ष है कि रति के भूखे प्राणियों ने मसीह या मरियम को अपना आलंबन बनाया। पुरुष ने कुमारी मरियम को और स्त्री ने मसीह को अपना आलंबन चुना। विचारणीय बात यहाँ यह है कि परम प्रचारक पौलुस ने तो केवल संस्था को दुलहिन और मसीह को पति कहा था किन्तु कुमारी मरियम का प्रवेश मसीही साधना में कैसे हो गया। यदि यह एक

(१) दी साइकालोजी आव रेलिजस मिस्टीसीज़्म, पृ० १९३।

अलग प्रश्न है तो स्मरण रखना होगा कि पौलुस वा यूहन्ना क्या, किसी भी मसीही भक्त ने मरियम को रति का आलंबन नहीं बनाया, हाँ विक्टोरिनस[1] ने प्रतीक के अधार पर अवश्य ही मरियम तथा पवित्र आत्मा को एक करने का प्रयत्न किया। परंतु मसीही संघ ने उसको स्वीकार नहीं किया। मसीही इतिहास में इस बात का प्रमाण नहीं मिलता कि मध्यकाल में कुमारी मरियम किस प्रकार आलंबन बन गई। मसीह भी पहले केवल संस्था के दुलहा माने जाते थे, व्यक्ति विशेष के सो भी नहीं। श्री लूबा ने भी इन आलंबनों के इतिहास पर विशेष ध्यान नहीं दिया। उनको तो बस यह सिद्ध करना था कि भक्तों की प्रेम-भावना भी प्रेम की सामान्य भाव-भूमि पर ही प्रतिष्ठित होती है कुछ किसी अलौकिक दिव्य रति-भूमि पर नहीं। अस्तु, विज्ञान की दृष्टि और मानस-शास्त्र के विचार से वह भी सामान्य रति के ही अंतर्गत है : उसकी कोई अलग अनोखी स्वतंत्र सत्ता नहीं। सो, आलंबन की अलौकिकता के विषय में हम जानते ही हैं कि अंतरायों के कारण सामान्य रति को ही परम रति की पदवी प्राप्त होती है। इधर श्री लूबा[2] भी यही कहते हैं कि जिन प्राणियों की काम-वासना किसी कारण-विशेष-वश अतृप्त रह जाती है वे ही उसकी तृप्ति के लिये मसीह या मरियम को आलंबन बनाते और उनसे भीतर ही भीतर प्रणय या संभोग चाहते हैं। तो मध्यकाल में यूरोप में भी ऐसे व्यक्तियों की कमी तो न थी? जनसामान्य की बात जाने दीजिए, शिष्ट समाज में भी प्रेम-कचहरियों[3] की कमी न थी। मसीही संत भी काम-वासना और भोग-विलास में इतने मग्न हो रहे थे कि मठों[3] की पवित्रता थिर रखने के लिये उन पर कठोर शासन करना पड़ता था। उस समय एक ओर तो मसीह के सच्चे संत विरति को महत्त्व दे रहे थे और दूसरी ओर उनके संघ में व्यभिचार बढ़ता जा रहा था। इधर चारों ओर सूफी प्रेम-पीर का प्रचार कर रहे थे। ऐसी परिस्थिति में मसीही-

(१) क्रिस्चियन मिस्टीसीज्म, पृ० १२७।

(२) दी साइकालोजी आव रेलिजस मिस्टीसीज्म, पृ० २६७।

(३) ए शार्ट हिस्टरी आव वीमेन, पृ० २४२।

संतों में नए सिरे से परम रति का प्रचार हुआ तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? होना भी तो यही था ?

मसीहियों का आलंबन सूफियों के प्रेम के आलंबन से अधिक स्पष्ट और सीधा था। मसीह और उनकी चिर कुमारी माता को 'त्रयी'[१] में स्थान मिल चुका था। मसीह ने विरति का प्रति-पादन किया था। इसलाम की भांति मसीही मत में विवाह आधा स्वर्ग न था। मसीही संत किसी भी दशा में लौकिक प्रेम को अलौकिक प्रेम की सीढ़ी नहीं समझ सकते थे। उनकी दृष्टि में किसी को काम-भाव से देखना पाप था। निदान, उनको परम प्रेम के प्रसार के लिये स्पष्टतः परम आलंबन चुनना पड़ा। उनके यहाँ मसीह और कुमारी मरियम की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। उनकी अलौकिकता में मसीहियों को संदेह न था। मसीही संतों के सामने मसीह और मरियम की रूप-रेखा आ चुकी थी। फलतः उन्होंने अपनी अपनी वासना वा रुचि के अनुकूल मसीह वा मरियम को अपनी रति का आलंबन बनाया। किसी कठोर 'अमरद' की आवश्यकता उनको न पड़ी।

सूफियों के परम प्रेम से मसीहियों को प्रोत्साहन मिला। उनके आलंबन का मार्ग प्रशस्त हो गया। मुसलिम शासन में जो मसीही थे उन पर तो सूफियों का प्रभाव पड़ ही रहा था, अन्य देशों से भी लोग स्पेन में अध्ययन करने आते थे। उस समय स्पेन मसीहियों का विद्या-गुरु तथा यूरोप का शिक्षक था। टॉलेडो में विद्या का केंद्र था। सिसली में भी मुसलिम शासन स्थापित हो गया था। रोमकों में भी सूफी प्रेम-प्रचार कर रहे थे। क्रूसेड का संघर्ष इसलाम से था ही। यूरुसेलम

---

(१) पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा को वास्तव में मसीही त्रयी कहते हैं। पवित्र आत्मा का स्थान कुमारी माता को क्यों मिला ? यह भी चिन्त्य है। किन्तु इतना तो प्रकट ही है कि मध्ययुग में कुमारी मरियम की उपासना खूब हुई और यह इसी का परिणाम है कि 'हौवा' की सन्तान 'मुक्ति की खान' बनी किसी भी वीर के लिये परमात्मा के साथ ही प्रमदा की पूजा भी अनिवार्य हो गई। इसके लिये विशेषतः देखिए 'दी लेगसी आव दी मिडिल एजेज़' पृ० ४०४, ४०६।

की रक्षा के लिए जो मसीही कटिबद्ध थे वे सूफियों के प्रेम से सर्वथा अनभिज्ञ न थे। निष्कर्ष यह कि मुसलिम संस्कार स्पेन, सिसली और क्रूड के द्वारा मसीही मत में घर कर रहे थे और तसव्वुफ तो चारों ओर से अपना रंग ही जमा रहा था। उसकी रँगरेलियों और प्रेम-प्रमोद को देखकर रति के भूखे मसीही तड़प उठे और सहज रति की तृप्ति के लिये मसीह या मरियम के पीछे मत्त हो गए। पुरुष संग्राम में मग्न थे, पादरी संघ के संचालन तथा मत के प्रचार में तल्लीन थे, अतः मरियम के वियोगी कम निकले; पर मसीह के विरह ने उनकी दुलहिनों को बेतरह सताया—किसी को स्वप्न में प्रेम-बाण लगा, किसी का गंधर्व-विवाह हो गया, किसी को प्रेम की अँगूठी मिली, किसी की मसीह से मँगनी हो गई; संक्षेप में सभी का नाम मसीह से जैसे-तैसे जुट ही गया और सबको मसीह के वियोग में आनंद आने लगा। संत टेरेसा और कैथरीन के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि सूफियों का प्रभाव किस प्रकार मसीहियों पर पड़ रहा था, और किस प्रकार सूफी मसीहियों के गुरु बनते जा रहे थे। जो लोग यूरोप के मध्यकालीन इतिहास से अभिज्ञ हैं वे खूब जानते हैं कि मसीहियों की भक्ति-भावना में उस समय जो परिवर्तन या परिवर्द्धन हुए उनका प्रधान कारण तसव्वुफ ही था।

तसव्वुफ में केवल प्रेम का प्रलाप ही नहीं अपितु उसमें उसके स्वरूप का निदर्शन भी हुआ था। उसके अध्यात्म के परिशीलन से पता चलता है कि प्रतिभाशाली सूफी किस तत्परता से आर्य-दर्शन को इसलामी रूप दे रहे थे। प्लोटिनस और वेदांत के आधार पर सूफियों ने अपने अध्यात्म को खड़ा किया और कतिपय मुसलिम मनीषियों ने यूनान के अन्य द्रष्टाओं के विचारों पर टीका टिप्पणी भी की। मसीहियों के प्रकोप और मसीही मत की संकीर्णता के कारण यूरोप यूनानी विद्वानों को भूल सा गया था। जब इसलाम की उथल-पुथल से यूरोप आक्रांत हो गया और मुसलिम पंडितों ने यूनानी मीमांसकों की पूरी व्याख्या भी कर ली तब मसीहियों का ध्यान फिर यूनानी दर्शन की ओर गया और अपने मत की पक्की प्राण-प्रतिष्ठा के लिये उसकी शरण ली। सिना, किंदी, फाराबी और रुश्द आदि मुसलिम विवेचकों के प्रयत्न से यूनानी दर्शन को जो रूप मिल गया था

उसका अध्ययन यूरोप ने किया और फिर आधुनिक दर्शन को जन्म दिया। मसीहियों ने इस प्रकार आगे चलकर जिस दर्शन का सत्कार किया वह बहुत कुछ तसव्वुफ से प्रभावित था। प्रभावित व्यक्तियों में संत थामस एकनिस का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उसको मसीही संघ में वही प्रतिष्ठा प्राप्त है जो इसलामी दल में गज्जाली को। दोनों ही महानुभावों ने प्रचलित मत और भक्ति-भावना का संबंध निर्धारित किया और दोनों ही व्यक्तियों ने भक्ति-भाव को मजहब से श्रेष्ठ माना। संत थामस ने भी धर्मपुस्तक को प्रमाण माना, पर उसके अर्थ और व्याख्यान का अधिकारी संघ को ही सिद्ध किया। मुसलिम विवेचकों की मीमांसा से अरस्तू पर जो सूफी मुलम्मा चढ़ गया था, उसने उसका मार्जन किया और मुसलिम व्याख्याकारों की कड़ी आलोचना की। उसने आप्त वचन के साथ ही तर्क को भी प्रमाण माना और अध्यात्म का आदर किया। उसका कहना[1] है कि मसीह के भक्त इस बात को सदा स्मरण रखें कि कोरा तर्क या विज्ञान नरक का पंथ है। वह स्वतः अंधकार या नीहार है। उसके प्रकाशन के लिये धर्मपुस्तक वा आप्तवचन आवश्यक है। संत थामस मुसलिम पंडितों का चाहे जितना खंडन करे उस पर तसव्वुफ का प्रभाव स्पष्ट और पर्याप्त है। एक[2] पंडित ने ठीक ही कहा है कि तेरहवीं शती में प्राची और प्रतीची का जितना गहरा मानसिक संबंध था उससे अधिक आज तक न हो सका। कहना न होगा कि इस संबंध में सूफियों का पूरा योग था और उन्हीं के प्रयत्न से यह संयोग जुटा भी था।

प्राची और प्रतीची के इस संयोग ने दांते को जन्म दिया। दांते के काव्यानंद में यूरोप मग्न हो गया। अरबी की भाँति दांते भी एक रमणी पर मुग्ध था। उसका[3] दावा है कि मेरी प्रेयसी बेट्रिस का रूप ज्यों ज्यों निखरता जाता है त्यों त्यों मेरा प्रेम और भी प्रबल और परिमार्जित होता जाता है। यहीं, उसकी

---

(१) लेगसी आव इसलाम, पृ० २४८।
(२) ” ” पृ० २८२।
(३) ” ” पृ० २२७।

आध्यात्मिक अनुभूति भी साथ ही साथ अधिक गंभीर और सघन होती जाती थी, और वह उसके हुस्न के सहारे जन्नत की ओर बढ़ता जा रहा था। उसने भी अरबी की तरह अपनी कविता का रहस्य खोला, इश्क मजाजी के परदे में इश्क हकीकी का जमाल देखा। दांते ने स्वर्ग, नरक और साक्षात्कार आदि का प्रतिपादन जिस ढंग से किया वह अरबी का अनुकरण सा प्रतीत होता है। उसके 'परगेटरी' के अवस्थान में मुसलिम प्रभाव (बरज़ख) लक्षित होता है। दांते[1] स्वयं स्वीकार करता है कि इटली में कविता का उत्कर्ष उन शासकों के समय में हुआ जो मुसलिम कविता के प्रशंसक और इसलामी साहित्य के प्रेमी थे। कुछ भी हो, दांते के[2] स्वर्ग-गमन में मुहम्मद साहब के मिअराज (स्वर्गारोहण) का भान होता है और उसके प्रेम तथा अन्य बातों में इसलामी प्रवादों एवं सूफियों के विचारों का आभास मिलता है। दांते के आधार पर निर्विवाद कहा जा सकता है कि मसीही संतों तथा समाजों पर सूफियों का प्रभाव कितना गहरा, व्यापक और उदार पड़ा। न जाने कितने कवियों ने प्रेम का राग आलापा और सूफी कवियों के सुर में सुर मिलाया। उनके इश्क हकीकी के गीतों का हमें क्या पता! हमारे लिये तो एक दांते ही पर्याप्त है।

स्पेन, सिसली और इटली तक ही यह प्रेम-प्रवाह सीमित न रहा। इसने तो सारे यूरोप को प्रेम से आप्लावित कर दिया। फ्रांस, जर्मनी प्रभृति देशों में भी प्रेम के पुजारी उत्पन्न हो गए। कुछ तो मसीह या कुमारी मरियम के प्रेम में मग्न हुए, उनकी विरह-वेदना में तड़प उठे और कुछ सत्य-जिज्ञासा में लगे। उनके प्रेम-प्रवाह और तत्त्वचिंतन के विश्लेषण से अवगत हो जाता है कि उनमें सूफियों का कितना रंग जमा है। सूसो[3] का निश्चय है कि उद्दंड और तरुण हृदय बिना प्रेम के नहीं फलता। उसका प्रेम इतना उन्मत्त और प्रबल था कि उसने अपनी छाती में

(१) लेगसी आव इसलाम, पृ० ५४।
(२) ,, ,, ,, पृ० २२७।
(३) क्रिस्चियन मिस्टीसाइम, पृ० १७२।

मसीह का नाम अंकित करा लिया था। उस समय की यह धारणा सी हो गई थी कि प्रेमी अपराध नहीं कर सकता। ज्ञान के क्षेत्र में भी पूरी छान-बीन हो रही थी। अमलरिक अद्वय का निरूपण कर प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता का निराकरण करता था तो एग्बर्ट जीवात्मा और परमात्मा में उष्णता और अग्नि किंवा सुरभि और पुष्प का संबंध स्थापित करता था। जान ममत्व और अहंकार को पाप का मूल कहता था। निष्कर्ष यह कि उस समय मसीही संत और सूफी क्या भक्ति-भाव, क्या विचार सभी क्षेत्रों में एक से हो रहे थे। उनमें जो कुछ अन्तर था वह संस्कार या श्रद्धा के कारण था। मसीही मसीह और सूफी मुहम्मद को महबूब बताते थे; पर वास्तव में थे दोनों परम प्रियतम के वियोगी। सूफी अमरदपरस्त थे और किसी के हुस्न को जमाल का द्योतक समझते थे, पर मसीही संत मसीह या मरियम-परस्त थे और उन्हीं के प्रेम को परमात्मा का पूजन समझते थे। उनमें केवल आलंबन के स्वरूप की भिन्नता थी; किसी भक्ति के मूल भाव की नहीं।

उपासना के क्षेत्र में भी मसीही सूफियों की पद्धति पर चल रहे थे। उनकी जिक्र की पद्धति मसीही संतों को प्रिय लगती थी[1]। लल्ल ने सूफियों की देखा-देखी परमेश्वर के शत नामों की उद्भावना की और उन पर एक पोथी भी लिख डाली। उसने संगीत पर भी ध्यान दिया। पादरियों के शिक्षण के लिये लल्ल ने एक कालेज का विधान कर मसीही संतों के लिये मुसलिम साहित्य का द्वार खोल दिया। प्राची-साहित्य का टोलेडो में जो अध्ययन हो रहा था उसका मुख्य उद्देश्य था पादरियों का अन्य शामी मतों से अभिज्ञ होना और वाद-विवाद में उनसे विजय प्राप्त कर लेना। इसलिये मसीही पंडितों को इसलामी साहित्य का परिशीलन करना पड़ा। तसव्वुफ के अधार पर मसीहियों ने मसीही मत का इस ढब से प्रकाशन किया कि मसीही मसीह के भक्त बने रहे और इसलाम का भय भी जाता रहा। उस समय मार्टीन से अरबी के प्रकांड पंडित और लल्ल से मेधावी भक्त मसीही संघ के विधायक थे जो तसव्वुफ के आधार पर मसीही मत को मधुर बना रहे थे।

---

(१) दी लेगसी आव इसलाम, पृ० ११५।

सूफियों का प्रभाव यूरोप पर इतना गहरा पड़ा कि उसको छिपा रखना असंभव है। स्पेन के कतिपय अर्वाचीन पंडितों की धारणा है कि इसलाम उसके पतन का कारण हुआ। हो सकता है, हमें इससे बहस नहीं। हमें तो देखना यह है कि तसव्वुफ ने स्पेन को किस प्रेम, किस संगीत और किस साहित्य का अधिपति बनाया। पहले हम कह ही चुके हैं कि मध्यकाल में टोलेडो विद्या का केंद्र था और चारों ओर से लोग स्पेन में पढ़ने के लिये आते थे। इस समय सचमुच ही स्पेन यूरोप का विद्या गुरु था और सूफियों के प्रसाद से विद्या का धनी बन बैठा था। सूफी केवल कवि ही नहीं थे, उनको नजूम, हिकमत और इलाज से भी प्रेम था। उमर प्रसिद्ध नजूमी और गणितज्ञ था। जाबिर हिकमत के लिये प्रसिद्ध था। उनके ग्रंथों का अध्ययन हुआ और यूरोप ने उनसे लाभ उठाया। दर्शन के संबंध में हम पहले ही कह चुके हैं। निदान, अब काव्य के विषय में भी कुछ जान लेना चाहिए।

कहा जाता है कि यूरोप में रोमांस का उदय[1] मुसलिम शासन के कारण हुआ। सो रोमांस-कविता के न जाने कितने सांकेतिक शब्द अरबी और फारसी शब्दों के रूपांतर मात्र हैं और न जाने कितने उनके आधार पर गढ़े गए हैं। रोमांस कविता के भाव और बहुत कुछ उसके हाव भी सूफी कवियों के हैं। रोमांस भाषा तो मुसलिम शासन की ही देन है। विदेशी शासन में देशी भाषा की उन्नति होती ही है। प्रचारक देशी भाषा को अपनाते और उसी में गीत गाकर अनपढ़ जनता को मोह लेते हैं। उनके उपाख्यान और कहानियों को ठेठ भाषा में सुननेवाले जितने मिलते हैं उतने साहित्यिक भाषा की परिपक्व बातों को समझनेवाले नहीं। अतएव यदि स्पेनमें मुसलिम शासन में रोमांस का उदय हुआ तो यह कोई अनहोनी बात नहीं हुई। सूफी प्रेम-कहानियों के द्वारा, कल्पित और मनोहर उपाख्यानों के आधार पर सरल जनता को सदा से मोहते आ रहे हैं। अवश्य ही उनके प्रेम-प्रवाह ने मध्यकालीन मसीहियों में उदारता और[2] सहानुभूति के बीज बोए और उन्होंने मसीही संघ से कुछ आगे

(१) दी लेगसी आव इसलाम, पृ० १६१।

(२) दी लेगसी आव इसलाम, पृ० ४।

बढ़कर मानव-भाव-भूमि को देखने का साहस किया। अब तो जो उनके संसर्ग में आया, उदार बना ; शेष अपनी क्रूरता में मग्न रहा।

हाँ, तो इसलामी शासन ने यूरोप को जगा दिया। किन्तु भारत में ज्यों-ज्यों उसका आतंक फैला त्यों-त्यों यूरोप में उसका पतन होता गया और धीरे धीरे क्रमशः यूरोप से मुसलिम शासन उठ गया और तुर्कों का शासन आज नाममात्र को उसके एक कोने में रह गया है। परंतु उधर इसलाम की प्रचंडता के कारण यूरोप भारत से अलग सा पड़ गया था तो इधर वह फिर भारत से स्वतंत्र संबंध स्थापित करने की चिन्ता में लगा था। घूमते फिरते अंत में एक अरब[1] की कृपा से उसे भारत आने का जल-मार्ग मिल ही गया, जो स्थल-मार्ग से कहीं अधिक लाभकर सिद्ध हुआ। फिर क्या था, यूरोप व्यापार का अधिपति बना और एशिया के अनेक खंड उसके शासन में आ गए।

यूरोप इसलामी शासन को भूल सा गया था। मसीही संतों के प्रेम-प्रवाह ने स्वतंत्र रूप धारण कर लिया था। किसी को तसव्वुफ की खबर न थी। यूरोप में मसीही साहित्य का प्रचार अच्छी तरह हो गया था। मुसलिम बातें विद्वानों के मस्तिष्क या किताबों में दबी पड़ी थीं। जन-सामान्य से उनका कोई संबंध न था। संयोगवश प्रतीची को प्राची के अध्ययन की फिर आवश्यकता पड़ी। शासन के सुभीते के लिये प्रजा की मनोवृत्तियों से परिचित होना अनिवार्य तो था ही, व्यापार के उत्कर्ष के लिये भी ग्राहकों के संस्कारों का बोध होना कम आवश्यक नहीं था। फलतः यूरोप भारत तथा अन्य देशों के अध्ययन में लगा। कतिपय पंडितों को प्राची के साहित्य-मथन में अपूर्व आनंद मिला। वे फिर यूरोप को उससे परिचित कराने लगे। यूरोप में फिर प्रेम और अध्यात्म का उदय हुआ। उनके आविर्भाव से यूरोप में रोमांस के दिन फिरे। सूफियों का रंग फिर जमने लगा। मुसलिम शासन में जो आख्यान, कथानक अथवा उपाख्यान यूरोप में प्रचलित हो गए थे उनके आधार पर उपन्यासों की नींव पड़ी। प्रेम के प्रसंग फिर नए ढंग से छिड़

(१) अरब और हिंदुस्तान के ताल्लुक़ात, पृ० ६२।
(२) दी लेगसी आव इसलाम, पृ० १६६।

और गजल, कसीदे तथा मसनवियों के प्रचलित भाव यूरोप के काव्य में स्पष्ट दिखाई पड़ने लगे। फ्रांस, जर्मनी और इँगलैंड प्रभृति देशों में छंदी दल उभर पड़ा, और बायरन, गेटे, शेली सरीखे हृदय-पारखी कवियों ने प्राची के प्रेम को पहचाना। परंतु प्राची के प्रतिदिन के पराभव और यूरोप की गोरी संकीर्णता के कारण उसको उचित महत्त्व न मिला। भोग-विलास की लिप्सा और विषय-वासना के लोभ ने उसको और भी धर दबाया। वह बहुत कुछ भ्रष्ट रूप में जनता के सामने आने लगा। आधुनिक काव्य-धारा में प्रेम-प्रवाह तो मिला, पर उसमें वह रंग कहाँ जो तसव्वुफ में उमड़ रहा था! यूरोप आज छल-छंद का पोषक है। उसे प्रेम से कहीं अधिक छंद ही भाता है। उसके सामने उमर खय्याम का स्वच्छंद आदर्श है कुछ रूमी, फारिज अथवा हाफिज जैसे संयत सूफियों का उदात्त भाव नहीं। वासना के विलासी, असफल हो, प्रेम के जो दिव्य गीत गाते हैं उनमें संवेदना की सहज झंकार नहीं मिलती। वासना की ओट में छंद का प्रचार करना तसव्वुफ का पक्का प्रेम नहीं, हृदय की एक घातक चाल है जिसे आज-कल के विरही लक्षणा के आधार पर विलक्षणता के साथ अपनाते और उसे हिंदीवालों के सामने दिव्य कर दिखाते भी खूब हैं। सूफी इसे इश्क हकीकी या सच्ची वेदना नहीं कह सकते। शायद इश्क मजाजी कहने में भी उन्हें संकोच हो। कारण, इसमें दुराव ही नहीं छुनाव भी खूब रहता है। जो हो, सूफियों का प्रभाव यूरोप की अपेक्षा भारत पर कहीं अधिक पड़ा। अध्यात्म की दृष्टि से तसव्वुफ में भारत के लिये कोई नई बात भले ही न रही हो पर उसमें प्रेम का प्रतिपादन और मादनभाव का प्रदर्शन कुछ नवीन अवश्य था। निदान, भारतीय भक्तिभावना में सूफियों ने जो योग दिया उससे एक संत-धारा फूट निकली। वेदांत के कतिपय आचार्यों पर भी सूफियों का प्रभाव कुछ पड़ा और फलतः भारत में भी अनेक पंथ चल पड़े। क्या आचार, क्या विचार; क्या भाषा, क्या भाव; क्या धर्म, क्या कर्म; हमारे सभी अंगों पर सूफियों की गहरी छाप है। सूफियों ने भारत में राम-रहीम की एकता का जो चलता प्रयत्न किया उसके कारण संस्कारों की कठोर भिन्नता रहते हुए भी हिंदू और मुसलमान बहुत कुछ एक से दिखाई दे रहे थे; पर अब पश्चिम की जातीयता और नीति की बयार

के कारण उनमें कुछ अनबन सी हो चली है। भारत के भविष्य में सूफियों का क्या हाथ होगा यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता; पर इतना तो सत्य है कि हिंदू-मुसलिम-एकता का प्रशस्त मार्ग वही है जिस पर सूफी आजतक चलते आए हैं और इसलाम के पक्के पाबंद भी बने रहे हैं। भारत को बहुत से पंडितों ने तसव्वुफ का घर कहा है और मुसलिम भी उसे आदम का अड्डा मानते ही हैं। बस, ऐसी स्थिति में यह संभव नहीं कि भारत और तसव्वुफ के संबंध को यहाँ खोल कर स्पष्ट दिखा दिया जाय। भारत में रह कर सूफियों ने जो कुछ किया उसका परिचय स्वतंत्र रूप से फिर कभी दिया जायगा। यहाँ तो इतना ही कह देना प्रर्याप्त है कि यदि सूफी न होते तो इसलाम भारत में कभी भी जड़ नहीं पकड़ता। इसलाम के प्रति हमारी जो कुछ श्रद्धा है उसका सारा श्रेय इन्हीं सूफियों को है। नहीं तो क्रूर मुसलमानी शासन को कौन पूछता? सच तो यह है कि भारत को आज उन्हीं सच्चे सूफियों की जरूरत है जो काबा और बुतखाना को एक ही समझते और खुद दिल के चिराग से रोशन होते हैं; कुछ किसी आसमानी किताब के अंधभक्त की नहीं।

भारत की भाँति ही भारत के उपनिवेशों में भी इसलाम का प्रचार हो गया। जावा, सुमात्रा, बोर्नियो प्रभृति द्वीपों में भारत के तिजारती मुसलमान जाते थे और अवसर देखकर तलवार भी चला लेते थे। एशिया में इसलाम को जिस व्यापक और प्रतिष्ठित मत का सामना करना पड़ा वह कृपालु बौद्धमत था। अशोक ने बौद्ध शासकों के सामने जो आदर्श प्रस्तुत किया वह देश-दृष्टि से घातक ही था। इसलाम की सफलता का एक प्रधान कारण बौद्धमत का तृष्णाक्षय भी है। अहिंसावादी बौद्धों ने भारत के बल-वीर्य को बहुत कुछ पंगु और भ्रष्ट कर दिया था। उधर उनके सद्-गुणों और सद्भावों को सूफियों ने ग्रहण कर लिया था। उसके कारण इसलाम भी अब भला दीखता था। इधर मुसलिम बन जाने से लोग इसलामी क्रूरता से बच भी जाते थे और उन्हें अनेक सुविधाएँ भी मिल जाती थीं। फलतः उक्त द्वीपों में भी इसलाम का प्रचार हो गया। किन्तु यह इसलाम मुल्ला या काजियों का बँधा हुआ कठोर इसलाम न था; प्रत्युत यह तो सूफियों का स्वच्छ और उदार इसलाम था। इस प्रकार सूफियों के प्रयत्न एवं हिंदू-मुसलिम संस्कारों के संयोग से जिस संकर-मत का प्रसार

चीन आदि भूखंडों में हो रहा था उसका उम्मी रसूल के मूल इसलाम से नाम मात्र का नाता था। उधर सूफियों के प्रेम तथा अपनी उदात्त वृतियों की प्रेरणा से चीन के उदार शासक[१] मुसलमानों को मसजिद बनवाने की केवल अनुमति ही नहीं देते थे, अपितु स्वयं भी अपनी प्रिय मुसलिम प्रजा के मंगल के लिये उसे बनवा भी देते थे। परन्तु इसलाम के कर्मठ उपासकों की चालों से जब चीनी परिचित हो गए तब सूफियों के मार्ग में भी कुछ बाधा पड़ने लगी और मुसलिम जनता ने भी विवश हो बहुत कुछ चीनी संस्कृति और सभ्यता का स्वागत किया। चीनी संख्या और बल में कुछ कम न थे जो मुसलिम सहसा उन्हें दबा लेते। निदान, उन्हें चीनियों की शरण में रहना पड़ा। उन पर चीनियों का पूरा प्रभाव पड़ा, किंतु वे स्वतः चीनियों को प्रभावित न कर सके। जो इसलाम चीन में रहा वह तसव्वुफ के रूप में ही रहा और फलतः कट्टर इसलाम से बहुत कुछ दूर भी रहा। जापान पर तो उसका असर एक प्रकार से कुछ भी न हुआ। पर जावा, सुमात्रा आदि द्वीपों पर इसलाम का शासन हो गया और सूफियों तथा ताजिरों के साथ मुसलिम संस्कार भी उनमें फैल गए। किंतु मुसलमान हो जाने पर भी उनमें प्राचीन संस्कारों तथा आचार-विचारों की ही प्रधानता रही और इसलाम कबूल करने पर भी वे हिंदू-मत के ही अधिक समीपी सिद्ध हुए। वास्तव में उनके मत को इसलाम नहीं, तसव्वुफ कहना चाहिए। वे पीर-परस्ती और मुरीदी के पक्के भक्त हैं और सभी मुहम्मद साहब को खुदा का महबूब मानते हैं।

इस प्रकार अरब के उम्मी रसूल का एकदेशी मत विश्वव्यापक बन गया और संसार के सभी मत उसके संसर्ग में आ गए। सूफियों के शील-स्वभाव तथा प्रेम को देखकर अन्य मतावलंबी उसके प्रति उदार हुए। शामी मतों में मूसा का मत सबसे पुराना था। यहोवा के उपासकों ने प्रेम को खदेड़ दिया था। यहूदी मादन-भाव से चिढ़ते थे। उनमें संकीर्णता, कठोरता और कर्मकांडों की प्रधानता थी। किन्तु जिस भाव को शामी भक्तों ने परमेश्वर की प्रसन्नता के लिये उखाड़ फेंका था वही कालांतर में तसव्वुफ के रूप में पनपा। उसका रूप इतना रम्य था, उसकी

---

(१) इसलाम इन चाइना, पृ० ९७-८।

रूप-रेखा इतनी मनोरम थी, उसके रंग-ढंग इतने मोहक और भव्य थे कि कठोर यहूदी भी उसकी ओर लपक पड़े। यहूदी मत से गुह्यता का सर्वथा लोप तो हो नहीं गया था, वह तो प्रच्छन्न रूप से उसमें चली ही आती थी। निदान जो सूफियों ने मादन-भाव और गुह्यविद्या को फिरसे प्रतिष्ठित कर दिया और मसीही भी उनके अनुष्ठान में जो लग गए, तो अकेले यहूदी ही कब तक उसका विरोध करते। उनमें भी 'कबाला' का सत्कार हुआ और मादन-भाव तथा गुह्य कृत्यों की प्रतिष्ठा हुई। स्पेन में मसीहियों की तरह यहूदियों ने भी सूफियों से बहुत कुछ सीखा था। उनका पवित्र नगर यरुशलेम तो मुसलिम शासन में था ही; फिर उनमें कबाला का प्रसार क्यों न होता? मसीही भी तो 'मिस्टिक' बन गए थे; फिर यहूदी ही क्यों पीछे रहते? निष्कर्ष यह कि शामी मतों में सूफियों के प्रयत्न से फिर मादन-भाव की प्रतिष्ठा हुई और गुह्य विद्या का प्रचार भी भरपूर हो गया। उनके अधिदेव की जातीय कट्टरता जाती रही और वह भी भक्तों का प्यारा भगवान् सा बन गया।

उपर्युक्त विवेचन से इतना तो स्पष्ट ही हो गया होगा कि तसव्वुफ का सभी मतों पर कुछ न कुछ आभार अवश्य है। सूफी संसर्ग में आएँ, उनसे संपर्क बढ़े और उनका किसी हृदय पर कुछ भी प्रभाव न पड़े, यह असंभव है। सूफी वास्तव में प्रेम के साथी हैं। उनका व्यापार त्याग से बढ़ता और संग्रह से नष्ट हो जाता है। उनके पास वेदना का अनमोल हीरा है। लोगों ने इस हीरे का सौदा किया। जो प्रणयी थे उनको उसका फल मिला, जो विषयी थे उसको चाट चाट कर मर मिटे। सच तो यह है कि सूफियों के इश्क ने बहुतों को बरबाद किया और अधिकतर लोग हकीकी की ओट में मजाजी के ही शिकार हुए। फिर भी यह कहना ही पड़ता है कि सूफियों ने क्या मुहम्मदी, क्या मसीही, क्या यहूदी, क्या हिंदू, संसार के सभी मतों में प्रेम का प्रसार किया उनमें से जिन लोगों को उनकी अनुभूति और वेदना का ठीक-ठीक अनुभव हुआ वे तो इश्कमजाजी के 'जीने' से अपने प्रियतम के पास पहुँच गए, पर जिन लोगों को आशिक बनने का खब्त सवार हुआ उनके सामने हुस्न का ऐसा जाल बिछा कि वे उसीमें फँसकर रह गए। वे मजाजी के जीने से लुढ़क पड़े और रति के पुल से खसक कर भवसागर में डूब गए। उनका उद्धार न हुआ।

परिशिष्ट २

तसव्वुफ पर भारत का प्रभाव

भारत की नष्ट मर्यादा को देखकर सहसा यह विश्वास नहीं होता कि कभी उसके भी सपूत संसार में आनंद की वर्षा करते थे और लोक-हित की कामना से पश्चिम में भी अध्यात्म का प्रचार करने में मग्न थे। यही कारण है कि अनेक प्रमाणों के उपलब्ध होने पर भी तसव्वुफ के उद्भट समीक्षक इसके विवेचन में भारतीय प्रभाव पर विशेष ध्यान नहीं देते और प्रसंग आने पर प्रायः कह बैठते हैं कि इतिहास के आधार पर हम इस प्रकार की प्रतिज्ञा नहीं रख सकते कि तसव्वुफ 'भारत का प्रसाद' अथवा 'वेदांत का मधुर गान' है। इधर हम देखते हैं कि भारतवासी यद्यपि इतिहास में कच्चे थे और इतिवृत्त के यथातथ्य विवरण मात्र को [1]इतिहास नहीं समझते थे तथापि उनके व्यापक और विशाल वाङ्मय में भी अनेक स्थल ऐसे आ गए हैं जिनके द्वारा यह सिद्ध किया जा सकता है कि तसव्वुफ पर भारत का पूरा पूरा प्रभाव है। तसव्वुफ के बाह्य प्रभावों पर विचार करते समय पश्चिम के प्रकांड पंडित अनेक मतों का उल्लेख करते हैं जिनमें नास्टिक, मानी और नव अफलातूनी प्रधान हैं। यहूदी और मसीही मत तो सूफियों के पूर्वजों के मत हैं। सूफीमत के समीक्षण में उनकी उपेक्षा भला किस प्रकार संभव है? रही भारत के प्रभाव की बात, तो इसके विषय में उनका पक्ष स्पष्ट है। बाद के तसव्वुफ पर वे भारत के वेदान्त एवं बौद्ध मत का प्रभाव मानते हैं आदि के तस-

---

(१) इतिहास की परिभाषा—''धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितं। पूर्ववृत्तं कथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते''—से स्पष्ट हो जाता है कि भारतवासी केवल इतिवृत्त को इतिहास नहीं समझते थे।

व्वुफ पर नहीं ; किन्तु जिन लोगों ने वेदान्त और तसव्वुफ का स्वतंत्र अध्ययन किया है उनकी दृष्टि में तसव्वुफ वेदांत का मधुर रूपान्तर ही है, कुछ और नहीं। इस रूपांतर की अवहेलना इतिहास के आधार पर नहीं हो सकती। प्रमाणों का परितः परिशीलन न कर सहसा यह कह बैठना कि तसव्वुफ पर भारत के प्रभाव को बढ़ाना आर्य-भक्तों का काम है व्यर्थ की वितंडा है, कुछ सत्य का निरूपण नहीं। तसव्वुफ को शामी विचार-परंपरा में बिल्कुल खपा देना असंभव है। उसके अध्यात्म को आर्यों का प्रसाद स्वीकार करना ही होगा। जो विचार-धारा किसी प्रबल प्रवाह में पड़ कर भी अपना रंग नहीं बदलती और अपने रूप पर स्थिर रहती है उसके स्रोत तथा प्रवाह का पता लगाना कुछ कठिन नहीं होता। रही इतिहास की साखी। इसके संबंध में निवेदन है कि इतिहास के आधार पर भी सिद्ध किया जा सकता है कि तसव्वुफ पर भारत का प्रभाव अति प्राचीन काल से सिद्ध है और इसे अनेक लोग स्वीकार भी करते आ रहे हैं। स्वयं इसलाम के भीतर कभी कभी हिंदू-मत के नाम पर इसकी भर्त्सना की गई है और इसको अनिसलामी[१] घोषित कर दिया गया है।

ठोस इतिहास पर विचार करने के पहले कतिपय उन प्रवादों पर भी ध्यान देना चाहिए जो प्रस्तुत विषय के विवेचन में सहायक हैं। सर्व प्रथम शामियों के आदि पुरुष बाबा आदम को लीजिए। उनके संबंध में सूफियों का कथन है—

"जब आदम सबसे पहले हिंदुस्तान में उतरे और यहाँ उन पर वही आई तो यह समझना चाहिए कि यही वह मुल्क है जहाँ ख़ुदा की पहली वही नाजिल हुई।"[२]

इसलिये रसूल ने फरमाया—

"मुझे हिंदुस्तान की तरफ़ से रब्बानी ख़ुशबू आती है।"[३]

इन 'रवायतों' पर विश्वास न करते हुए भी मौलाना सुलैमान नदवी भारत

---

(१) वहाबी आज भी तसव्वुफ को हिन्दुओं का मत समझते हैं और सूफियों को अहले हनूद' तक कह देते हैं।

(२) अरब और हिंदुस्तान के तालुक़ात, पृ० ३।

(३) ,, ,, ,, , ,,

को मुसलमानों का पिदरी वतन मानते हैं। आदम के विषय में कहा जाता है कि उनके पतन का कारण गोधूम[1] था। उनकी पत्नी हौवा ने एक दिन इबलीस के सुझाने पर उनसे दृढ़ आग्रह किया कि यह वह फल है जिसके आस्वादन से परम मंगल का विधान होता है। आदम अपनी प्रेयसी के इस अनुरोध को टाल न सके। फलतः अल्लाह ने उन्हें स्वर्ग से खदेड़ दिया। पतित हो आदम २०० वर्ष तक दक्षिण[2] अथवा सरन द्वीप में तप करते रहे। फिर जिबरील की प्रेरणा से अरब गए और वहाँ उनको हौवा मिली। हौवा के ऋतु-स्नान के लिये जमजम का स्रोत निकला। अल्लाह की प्रेरणा से उसकी आराधना के लिये आदम ने काबा का निर्माण किया और जिबरील ने उन्हें उनके पूजन की पद्धति बतला दी। हौवा आदम से दो वर्ष बाद मरी। बाढ़ के बाद आदम का शव यरुशलेम लाया गया। संक्षेप में यही आदम का इतिहास है।

अब इन प्रवादों के आधार पर हम अधिक से अधिक इतना ही कह सकते हैं कि आदम जातिविशेष के नेता थे। उनके समाज में स्त्री प्रधान थी। किसी गोधूम-प्रान्त के लिए उन्हें संग्राम करना पड़ा था। विजित होकर उन्हें दक्षिण या सरनद्वीप में शरण लेनी पड़ी थी और अन्त में विवश होकर उन्हें अरब जाना पड़ा और वहीं उनके मंगल का विधान हुआ। आराधना के लिए मक्के में काबा बनवाया और उसमें लिंग की प्रतिष्ठा की।

इधर वेद, ब्राह्मण, पुराण प्रभृति भारत के प्राचीन वाङ्मय के अवलोकन से अवगत होता है कि किसी समय भारत में पणि जाति की प्रधानता थी। आर्यों के आक्रमण से व्यग्र होकर अन्त में रसा की तलेटी से खसक कर पणियों को एक ओर सौवीर और बवेरू तथा दूसरी ओर बंग तथा दक्षिण को प्रस्थान करना पड़ा। धीरे-धीरे जब आर्यों का प्रसार पूर्व और दक्षिण में भी हो गया तब विवश होकर पणियों को समुद्र पार कर पश्चिम में बसना पड़ा। पणि जाति के समुचित समीक्षण

---

(१) फल के विषय में शामियों में मतभेद है; पर मुसलिम गेहूँ को ही उक्त फल मानते है, बुद्धि या किसी अन्य फल को नहीं।

(२) एंसाइक्लोपीडिया आव इसलाम, प्र० भाग, पृ० १२७।

के आधार पर बसु महोदय[1] ने स्पष्ट कर दिया है कि वास्तव में पणि का ही दूसरा नाम फ़ोनीशी है। उनका कहना है कि कोचबिहार से जाकर पणि जाति ने शाम के किनारे अपना अधिकार जमाया और व्यापार[2] के लिये स्पेन को भारत से मिला लिया। मौलाना सुलैमान साहब का दावा[3] है कि फ़ोनीशी अरब थे जो शाम के तट पर जा बसे थे। डांट महोदय का, शामी कथानकों के आधार पर, निष्कर्ष[4] है कि प्राचीन सभ्यता का केन्द्र कहीं बंग के आस पास था और 'ईडेन' भारत में था। कुरान[5] में कहा गया है कि अल्लाह ने कृष्ण पंक की सूखी मिट्टी से आदम को बनाया। मतलब यह कि भारत आदम का जन्मस्थान हो सकता है और पणि जाति से उनका संबंध भी स्थापित किया जा सकता है। उनके विषय में जो कुछ कहा गया है वह अच्छी तरह पणि जाति में घट जाता है। हिन्दुओं की दृष्टि में मक्के में महादेव[6] जी का मन्दिर था और काबे में आज भी शिवलिंग मौजूद है।

बेल महोदय[7] का कथन है कि हिन्द शब्द का प्रयोग ग्रीक तथा लैटिन भाषा में इतना अस्थिर और संदिग्ध होता रहा है कि उससे भारत, दक्षिण अरब, अबीसीनिया या एशिया के किसी तट का निश्चित बोध नहीं होता। प्रायः उसका तात्पर्य

---

(१) दी सोशल हिस्टरी आव कामरूप, प्रथम भाग, द्वितीय अध्याय।

(२) पणि व्यापारजीवी थे। पणिर्वणिग्भवति पणिः पणनाद्वणिक् पण्यं नेनेक्ति (निरुक्त २. ५. ३)

(३) अरब और हिन्दुस्तान के तालुकात, पृ० ७।

(४) दी सेंटर आव ऐंशियंट सिविलोज़ेशन, पृ० १५७।

(५) दी एंसाइक्लोपीडिया आव इसलाम, प्रथम भाग, पृ० २१७।

(६) श्रीज्ञानेन्द्रदेव सूफी ने इस संबंध में 'विशाल भारत' में एक लेख लिखा था जो संदिग्ध प्रतीत होता है। परंतु श्री खुदाबख्श की प्रसिद्ध पुस्तक कंट्रीब्यूशन टू दी हिस्टरी आव इसलामिक सिविलीज़ेशन, पृ० ४८ पर इसका उल्लेख है। और इस देश में प्रवाद भी ऐसा ही प्रचलित है।

(७) दी ओरिजिन आव इसलाम, पृ० ३१।

लाल सागर के तटवर्ती प्रान्तों और दक्षिण अरब से लिया जाता है। स्वयं अरब हिन्द शब्द को किस दृष्टि से देखते थे इसे भी देख लें। अरबों को यह शब्द इतना प्रिय था कि मक्के के पास की पहाड़ी पर जो दुर्ग है उसे आज भी 'जेबल हिन्दी'[1] दुर्ग कहते हैं और अरबी साहित्य में तो 'हिन्दा' नाम की रमणी तथा 'हिन्द' नाम का राजा अमर हो गया है। हिन्द शब्द का रहस्य चाहे जो हो "अरबों के हिन्दुस्तान के तिजारती तालुकात मसीह से कम अज कम दो हज़ार पहले से हैं[2]।" सुलैमान के जो जहाज 'ओफिर' तक आते थे वे भारत से अनेक द्रव्य ले जाते थे। यूरोप के साथ भारत का जो व्यापार स्थलमार्ग से होता था उसके मध्यस्थ यहूदी थे। इब्रानी भाषा में अनेक शब्द ऐसे हैं जिनका संबंध द्रविड भाषा से है। 'तुकी' और 'अहलिम' इसी प्रकार के शब्द हैं जो द्रविड भाषा में 'मोर' और 'वूदार लकड़ी' के वाचक हैं। श्रीमुकुर्जी[3] का कहना है कि भारत के व्यापार का सर्वप्रथम लिखित प्रमाण जो मिलता है वह पश्चिमीय एशिया और मेसोपोटामिया के साथ के व्यापार का है।

शामी जातियों के साथ भारत का केवल व्यापारिक संबंध न था। वस्तुओं के साथ विचारों का आदान-प्रदान भी होता था। वसु महोदय की दृष्टि में हित्ती और मित्रानी वास्तव में क्षत्रिय और मित्रानिक के द्योतक हैं[4]। मनु (१०-४३,४४) में कहा गया है कि भारत के क्षत्रिय बाहर गए और ब्राह्मणों के अभाव के कारण अपने संस्कारों से च्युत हो शूद्र बन गए। असीरिया के मूल में 'असुर' शब्द तो है ही छांदोग्य का 'उलूलवः' और शतपथ का 'हेलवः हेलवः' भी विचारणीय है। कुछ लोगों[5] ने इनमें शामी शब्द 'इलो' का संकेत किया है। 'इलो' का

---

(१) दी होली सिटीज इन अरेबिया, प्रथम भाग, पृ० ११७।

(२) तालुकात, पृ० ७७।

(३) ए हिस्टरी आव इंडियन शिपिंग, पृ० ८४।

(४) दी सोशल हिस्टरी आव कामरूप, पृ० १३०।

(५) हिस्टरी आव इंडियन फिलासफी, द्वितीय भाग, पृ० १०४-५।

अर्थ इब्रानी भाषा में 'देवता' होता है। छांदोग्य में एक शब्द 'तज्जलन्'[1] है जिसका 'तजल्ली' से साम्य है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मसीह के बहुत पहले से उन प्रान्तों से भारत का संबंध रहा है जिनमें तसव्वुफ का उदय तथा विकास हुआ। परंतु इस संबंध से अभी स्पष्ट न हो सका कि भारत की धर्म-भावना का प्रसार भी उनमें हो गया था। अतएव कुछ इस बात पर भी विचार कर लेना चाहिए कि उक्त देशों में कभी भारतीय धर्म का प्रचार था अथवा नहीं। सो संघ की स्थापना हो जाने से बौद्धों के लिये यह सुगम हो गया था कि वे भारत के बाहर अन्य देशों में भी सद्धर्म का प्रचार करें। महाराज अशोक के गिरिनार तथा शाहबाजगढ़ी के शिलालेखों से स्पष्ट अवगत होता है कि अतियोक नामक यवन राजा के राज्य तथा निकटवर्ती प्रान्तों में महाराज ने औषधि तथा प्रचारक भिक्षु भेजे थे। कहना न होगा कि इस अंतियोक का शासन सीरिया तथा पश्चिमीय एशिया पर था। अशोक की इस 'धर्म-विजय' का फल यह हुआ कि कट्टर यहूदियों में भी कोमलता आ गई और उनमें भी निवृत्तिमार्ग को स्थान मिला। लोकमान्य तिलक का कथन है—

"अशोक के शिला लेख में यह बात लिखी है कि यहूदी लोगों के तथा आस-पास के देशों के यूनानी राजा एंटियोकस से उसने संधि की थी।.........इसके सिवा प्लूटार्क ने साफ साफ लिखा है कि ईसा के समय में हिंदुस्तान का एक यती लाल समुद्र के किनारे एलेक्जेंड्रिया के आस प स के प्रदेशों में प्रतिवर्ष आया करता था। तात्पर्य, इस विषय में अब कोई शंका नहीं रह गई है कि ईसा से दो तीन सौ वर्ष पहले ही यहूदियों के देश में बौद्ध यतियों का प्रवेश होने लगा था; और जब यह संबध सिद्ध हो गया, तब यह बात सहज ही निष्पन्न हो जाती है कि यहूदी लोगों में संन्यास प्रधान एसी पंथ का और फिर आगे चलकर संन्यासयुक्त भक्ति-प्रधान ईसाई धर्म का प्रादुर्भाव होने के लिए बौद्ध-धर्म ही विशेष कारण हुआ होगा।[2]"

---

(१) छा० उ०, तृ० अ० १४.१।

(२) गीता रहस्य पं० मु० पृ० ५९२।

गाडर्ड[1] महोदय ने एसीन-संप्रदाय की पूरी पूरी छान-बीन कर यह घोषित किया है कि एसीन-संप्रदाय का यदि तीन चौथाई बौद्ध मत का प्रसाद है तो एक चौथाई यहूदियों का। श्री स्प्रिंगेट को भी इसमें सन्देह नहीं है। उनको तो 'पश्चिम' में बौद्ध मत का पूरा प्रसार दिखाई देता है।[2] कहने की बात नहीं कि मसीह के गुरु (यूहन्ना), जिन्हें मारगोलियथ साहब सूफी समझते हैं, वास्तव में इसी संप्रदाय के भिक्षु थे। ईसा के प्रवास के संबंध में लोकमान्य तिलक का निष्कर्ष है—

"बाइबिल में इस बात का कहीं भी वर्णन नहीं मिलता कि ईसा अपनी आयु के बारहवें वर्ष से लेकर तीस वर्ष की आयु तक क्या करता था और कहाँ था। इससे प्रगट है कि उसने अपना यह समय ज्ञानार्जन, धर्म-चिंतन और प्रवास में बिताया होगा। अतएव विश्वास-पूर्वक कौन कह सकता है कि आयु के इस भाग में उसका बौद्ध-भिक्षुकों से प्रत्यक्ष या पर्याय से कुछ संबंध हुआ ही न होगा? क्योंकि उस समय यतियों का दौरदौरा यूनान तक हो चुका था। नैपाल के एक बौद्धमठ में स्पष्ट वर्णन है कि उस समय ईसा हिन्दुस्तान में आया था और वहाँ उसे बौद्ध-धर्म का ज्ञान प्राप्त हुआ।"[3]

ईसामसीह भारत भले ही न आए हों किन्तु उन पर भारत का प्रभाव प्रत्यक्ष है। हापकिंस[4] महोदय का मत है कि ईसा पर आर्य प्रभाव स्पष्ट है पर वह भारत के अतिरिक्त ईरान में भी पड़ सकता है। यही सही; किन्तु ईरान में भी तो

---

(१) वाज़ जीजस इन्फ्लूएंस्ड बाई बुद्धीज़्म, पृ० ११४।

(२) सेक्रेट सेक्टस आव सीरिया एंड दी लेबनान, पृ० ९५।

(३) गीता रहस्य, पृ० ५९३।

(४) हापकिंस महोदय का यह भी कथन है कि चतुर्थ इंजील और भगवद्गीता में इतना साम्य है कि वे एक दूसरे से प्रभावित अवश्य हैं। हमारी समझ में प्राचीनता के नाते इंजील पर गीता का प्रभाव अवश्यंभावी है। (दी रेलिजंस आव इंडिया, पृ० ३८९, ४२९, ५२५, ५६७ आदि।)

(५) एंसाइक्लोपीडिया आव रेलिजंस एंड एथिक्स।

भारतीय विचार-धारा कभी से फैल रही थी ! जो हो, ईसा की भक्ति-भावना में प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी भी रूप में भारत का पूरा पूरा योग है। और, यदि यह ठीक है तो कोई कारण नहीं कि तसव्वुफ के विकास में ईसा मसीह के प्रमाणपर भी भारतका योग क्यों न माना जाय और उसे भारतीय प्रभाव से अछूता क्यों छोड़ दिया जाय।

पारसी शामियों के पड़ोसी थे। शामी मत के विकास में उनका पूरा हाथ रहा। 'धर्मपुस्तक' में इस बातका उल्लेख है कि मसीह के स्वागत के लिए कुछ मग गए थे। मग को सूफियों ने अपना गुरु माना है। नास्टिक मत का प्रवर्तक साइमन नामक मग था। उसने जिस संप्रदाय का प्रवर्तन किया उसका अधिकांश बौद्धमत पर अवलंबित था। नास्टिक बुद्ध का पर्यायवाची शब्द जान पड़ता है। निदान नास्टिक मतके प्रभाव में भारत का भी भाग है ही। फलतः पर्यायरूप में भारत ने तसव्वुफ को प्रभावित किया और सूफियों का एक नाम नास्टिक भी हो गया। नास्टिकों से कहीं अधिक शक्तिशाली मानीमत के प्रचारक हुए। मानीमत ने स्वयं मुहम्मद साहब को भी प्रभावित किया। मानीमत का तसव्वुफ के विकास में पूरा योग रहा और हल्लाज जैसे प्रसिद्ध सूफी इसी मत के अनुयायी के रूप में बदनाम हो मारे गए। इस मत का प्रवर्तक मानी बौद्धमत का ज्ञाता था। जिज्ञासा की प्रेरणा से उसने भारत तथा चीन में भ्रमण किया। मसीही लेखकों ने उसे[२] टिरिबिंथ (त्रिविंशत) बुद्ध कहा है। पीरोज[३] की मुद्राओं पर उसके साथ जो 'बुल्द' शब्द मिलता है उसे बुद्ध का अपभ्रंश कहा गया है। अस्तु, इन पुष्ट प्रमाणों के आधार पर हमें कहना पड़ता है कि नास्टिक तथा मानी मत के द्वारा भी तसव्वुफ में भारत का पूरा पूरा योग सिद्ध हो जाता है। इसकी अवहेलना हो नहीं सकती।

---

(१) दी अर्ली डेवेलप्मेंट आव मोहम्मेडनीज़म, पृ० १४-५।

(२) थीइज़्म इन मेडीवल इंडिया, पृ० ९१।

(३) ओरिजिन आव मानीकीज़्म, पृ० १६ (मुसलिमरिव्यूअ १९२७ ई०)।

सिकंदरिया के नवअफलातूनीमत के संबंध में निवेदन है कि वह स्वतः भारत का ऋणी है। उसके पहले भी अफलातून, पैथोगोरस आदि अनेक यूनानी मनीषी भारत की विचार-धारा से अभिषिक्त हो चुके थे। भारत के संपर्क में आ जाने से यूनानी दर्शन में जो परिवर्त्तन हुए उनके निदर्शन की आवश्यकता नहीं। दर्शन-शास्त्र के अनेक मर्मज्ञों ने मुक्तकंठ से इसे स्वीकार किया है[१]। अशोक ने सद्धर्म-प्रचार का जो प्रबंध किया था वह निष्फल नहीं गया। शाहबाजगढ़ी के शिलालेख में इस धर्म-[२]विजय का स्पष्ट उल्लेख है। भड़ौच के एक योगी ने एथेंस में तुषाग्नि में प्राण-विसर्जन किया था। भागवतधर्म[३] की उपासना भी यूनानियों में प्रचलित हो चली थी। संक्षेप में, उस समय भारत की विचार-धारा का सर्वत्र स्वागत हो रहा था और यवन तथा रोमक[४] सभी उसमें निमग्न थे। प्लोटीनस तो तृष्णा-क्षय के लिये ईरान तक आया ही था। भारतीय दर्शन के आधार पर ही उसने अफलातून के प्रेम तथा पंथ को पुष्ट किया। बस, भारत के संसर्ग से यूनान में जो दार्शनिक लहर उठी, सिकन्दरिया में जो जिज्ञासा जगी, उसके प्रवाह से शामी मतों में चिंतन की प्रतिष्ठा हो गई और सूफियों ने प्लोटिनस को 'शेख अकबर' की उपाधि दी। विचार करने की बात है कि मुसलिम मीमांसकों ने फिलासफी को यूनान का प्रसाद माना है पर कहीं तसव्वुफ को यूनान की देन नहीं कहा है बल्कि उसे हिन्दू-मत के रूप में वक्र-दृष्टि से देखा है और इसी नाते उसकी भर्त्सना भी की है। हाँ, तसव्वुफ शब्द में ग्रीक 'सोफ़' कहा जाता है पर वह सबको मान्य नहीं।

तसव्वुफ पर भारतीय प्रभाव के खंडन में प्रायः सीरिया का नाम लिया जाता

---

(१) एन आइडियलिस्ट व्यू आव लाइफ़, पृ० १३० ।

(२) "यह धर्मविजय देवताओं के प्रिय (अशोक ने) यहाँ (अपने राज्य) तथा ६ सौ योजन दूर पड़ोसी राज्यों में प्राप्त की है जहाँ अंतियोक नामक यवन-राजा राज्य करता है।"

(३) अर्ली हिस्टरी आव दी वैष्णव सेक्ट, पृ० ५७।

(४) ज० रो० ए० सो०, १९०४ ई०, पृ० ५०।

(५) ए लिटेरेरी हिस्टरी आव पर्शिया, पृ० ४२०।

है। कहा जाता है कि आरंभ में सीरिया में ही सूफी फकीर मिलते हैं। ठीक है। पर इससे यह कहाँ सिद्ध हो पाता है कि सीरिया में भारतीय संस्कार थे ही नहीं। यदि आरंभ के सूफी तपस्वी और एकान्तप्रिय थे तो आरंभ के भिक्षु भी तो ऐसे ही थे। सच पूछिये तो यह इस बात का पक्का प्रमाण है कि सीरिया के बौद्ध भिक्षुओं ने ही आरंभ में फकीरी का चोला धारण किया और शामी मत को स्वीकार कर अपनी प्राण-रक्षा करते हुए परम पद के भागी बने। इतिहास से यह बात सिद्ध है कि सीरिया[१] में भारतीय संस्कार काम कर रहे थे और संकट के समय[२] सीरिया के सपूत भागकर भारत आए थे। सीरिया के फकीरों में प्रेम का अभाव था तो प्रेम का प्रसार सर्व प्रथम बसरा के सूफियों, विशेषतः हसन और राबिया में हुआ। कहना न होगा कि अरब बसरा[३]-प्रांत को हिंद का अंग समझते थे। यहाँ भी भारत का प्रभाव प्रकट है।

किंतु तसव्वुफ पर ज्यों ज्यों यूनानी एवं मसीही प्रभावों का खंडन होता गया त्यों त्यों लोग कुरान को तसव्वुफ का स्रोत मानने लगे, और इस बात को भूल ही गये कि कुरान पर भी अन्य मतों का प्रभाव पड़ सकता है। स्वाभाविक तो यह था कि कुरान का इस दृष्टि से परितः परिशीलन किया जाता और स्पष्ट रूप में देख लिया जाता कि व्यापारी मुहम्मद की विचार-धारा में कितना भारतीय अथवा अशामी है। परंतु धर्म-संकट अथवा किसी अन्य कारण से अब तक ऐसा नहीं किया गया। हर्ष की बात है कि सैयद सुलैमान साहब को कुरान पाक में तीन शब्द[४] हिंदी के मिलते हैं और मौलाना मुहम्मद अली को कुरान में ईसा मसीह की समाधि[५] का संकेत दिखाई देता है जो उनकी दृष्टि में कश्मीर में है। दाराशिकोह[६] का तो कहना ही है कि कुरान में

---

(१) क्रिश्चियन मिस्टीसीज्म, पृ० १०४।

(२) ए कम्पेरेटिव ग्रैमर आव दी ड्रवेडियन लैंग्युएज, पृ० १९।

(३) हिस्टरी आव दी पारसीज, प्र० भा०, पृ० २७।

(४) अरब और भारत के संबंध, पृ० ६१।

(५) दी होली कुरान, पृ० ६८६-७।

(६) मजमा-उल-बहरैन, पृ० १३।

उपनिषदों का निर्देश है। हमारी समझ में कुरान में जो इस प्रकार के भाव आते हैं कि जिधर देखो उधर अल्लाह है, वह हमारे निकटतम है, व्यापक है, अंतर्यामी है, आदि वे सब उपनिषदों[1] के प्रसव हैं। कारण, इस प्रकार की भावना सर्वथा अशामी है। शामियों में अल्लाह का उदय एक सेनानी अथवा शासक के रूप में हुआ, विश्वात्मा एवं व्यापक रूप में कदापि नहीं। कतिपय मनीषियों ने माना है कि मुहम्मद साहब हेरा की गुहा में योग-संपादन में मग्न थे और कतिपय योग-मुद्राओं से परिचित भी थे। मक्का की भाँति प्रसिद्ध व्यापार-केन्द्र में भारतीय पदार्थों के साथ ही साथ भारतीय भावोंका व्यापार संगत और स्वाभाविक प्रतीत है। हो सकता है कि कुरान का लुकमान भारतीय हो ; क्योंकि उसका रूप-रंग सर्वथा भारतीय है, यूनानी या मिस्री नहीं।

प्रसंगवश इतना और निवेदन कर देना है कि इसलामी पंडितों के सामने कुरान में वर्णित 'हनीफ़' और 'शेबी' जातियों का विकट प्रश्न बराबर बना रहा है। वस्तुतः मुहम्मद साहब के मत का इन जातियों से गहरा संबंध है। उनके मत को अनेक बार हनीफी मत कहा गया है। शेबी व्यापारी थे, स्नान के लिये प्रसिद्ध थे, बलय पहनते थे, कपाल और नक्षत्रों की पूजा करते थे, शिर पर मुकुट धारण करते तथा सुन्दर भवनों में रहते थे। उनका मत नूह का मत कहा जाता था। नूह का संबंध दक्षिण के त्रोणीपुरम्[2] से जोड़ा जाता है। फिर भी सहसा यह नहीं कहा जा सकता कि हनीफ एवं शेबी जातियों का भारत से कुछ संबंध है। हनीफ का पणि और शेबी का शैव से साम्य दिखाई पड़ता है। हनीफ और शेबी तटवासी अरब थे जो मध्य के अरबों से सर्वथा भिन्न थे।

प्राची में तो भारतीयों के अनेक उपनिवेश थे परन्तु प्रतीची में उनका उल्लेख प्रायः नहीं मिलता। सिकंदरिया में भारतीयों का एक छोटा सा उपनिवेश था[3]।

---

(१) उपनिषदों और कुरान के इस संबंध पर स्वतंत्र विचार 'मुसलमानों की संस्कृत-सेवा' में किया जायगा। स्मरण रहे कि हिदा नाम की हेरा की रानी ने अपने राज्य में एक मठ बनवाया था।

(२) स्टडीज इन टैमिल लिटरेचर एण्ड हिस्टरी, पृ० ८९।

(३) इंडिया ओल्ड एण्ड न्यू, पृ० १२३।

सकोत्रा में हिन्दू निवास करते थे[1]। सैयद सुलैमान साहब जाटों के संबंध में कहते हैं कि "छठीं सदी ईसवी में अरब उनसे वाकिफ थे और हज़रत अली ने बसरा का खज़ाना उन्हीं की निगरानी में छोड़ा था। अमीर माविया ने उनको रूमियों के मुकाबिले के लिये शाम के साहिली शहरों में ले जाकर बसाया और वलीद बिन अब्दुल मुल्क ने अपने जमाने में उनको अंतोलिया में ले जाकर आबाद किया।"[2] आरमीनिया में भागवतों का एक उपनिवेश था[3] जिसको सं० ३५७ में मसीहियों ने नष्ट कर दिया। मतलब यह कि पश्चिम में भी भारतीय यत्र-तत्र बस गये थे और अपने विचारों का प्रदर्शन कर रहे थे। अबूजैद सैराफी का कथन है—

"चुनांचे यह हिन्दू सैराफ (इराक की बन्दरगाह) आते हैं और कोई (अरब) ताजिर[4] उनकी दावत करता है तो वह कभी सौ और कभी सौ से ज्यादा होते हैं; मगर उनके लिये इसकी जरूरत होती है कि हर एक के सामने अलहदा एक तबक रखा जाय जिसमें कोई दूसरा शरीक न हो[5]।"

निदान, हम देखते हैं कि पश्चिम में भी हिन्दू-संस्कारों का प्रचार था और वहाँ उनके अनेक अड्डे भी स्थापित थे। मुसलिम साहित्य में मसीही संतों के साथ जो जुन्नार का विधान मिलता है वह इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि वे कभी आर्य-धर्मावलंबी थे और धर्मपरिवर्त्तन के अनन्तर भी प्राचीन संस्कारों के प्रेमी बने रहे।

इसलाम स्वीकार कर लेने पर भी अरब व्यापारी भारत से व्यापार करते रहे। वे सरन द्वीप में आदम के चरण-चिन्ह की यात्रा करते थे। बुजुर्ग बिन शहरयार ने जिनको 'बेकर' लिखा है। वे वास्तव में वीर-कौल थे जो एक प्रकार के तान्त्रिक

---

(१) अरब और भारत के संबंध, पृ० ५।

(२) अरब व हिन्द के तालुकात, पृ० ११।

(३) ज० रो० ए० सो०, १९०४, पृ० ३०९।

(४) अरब हिंदू व्यापारियों को बानियाना तथा अरब व्यापारियों को ताजिर कहते हैं।

(५) अरब व हिन्द के तालुकात, पृ० ८४।

बौद्ध थे और अरबों का सत्कार करते थे। प्रकारान्तर से वीर-कौल भारत के पतन के कारण हुए।

फरिश्ता[1] के कथनानुसार सन् ४० हि० में सरन द्वीप का राजा मुसलमान हो गया था। फरिश्ता के प्रमाण का पता नहीं। पर बुजुर्ग बिन शहरयार[2] लिखता है कि जब सरनद्वीप तथा आसपास के लोगों को मुहम्मद साहब का हाल मालूम हुआ तब एक समझदार आदमी को पता लगाने के लिये अरब भेजा गया। उस समय हजरत उमर का जमाना था। वह आदमी रास्ते में मर गया। पर उसका दूसरा साथी सरनद्वीप पहुँच गया। उससे उमर महोदय की रहन-सहन सुनकर लोग मुसलमानों के साथ और भी अच्छा व्यवहार करने लगे।[2] जो हो उमर ने स्वतः हिंद से बुतपरस्त देश पर आक्रमण नहीं किया; किंतु उन्हीं के शासन में थाना (बंबई के पास) अरबों के अधिकार में आ गया। उचित अवसर पाकर अरबों ने सिन्ध पर अपना सिक्का जमा लिया। सिन्ध के मुसलमान मक्का जाने लगे और धीरे धीरे मुल्तान तसव्वुफ का केन्द्र हो गया। अरब और हिंद के सयोग से बेसर[3] नाम की एक संकर जाति उत्पन्न हो गई। इस प्रकार भारत और अरब की घनिष्टता और भी बढ़ गई और सूफी वेदांत से सीधे प्रभावित होने लगे।

उमय्यावंश के पतन से ईरान का सौभाग्य जगा। संस्कृति के विचार से अरब ईरान का दास बन गया। अब्बासियों की कृपा से बगदाद विद्या का केन्द्र बना। यूनान तथा भारत के पंडित आमंत्रित हुए। अनेक ग्रंथों के अनुवाद किए गए। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस विद्या-व्यायाम की मूल प्रेरणा 'वरामका' लोगों

---

(१) अरब व हिन्द के तालुकात, पृ० २६२।

(२) अरब व हिन्द के तालुकात, पृ० २६२।

(३) बेसर और सोमरा जातियों पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि अरब और भारतीय कितने हिलमिल गये थे। सोमरा अरबों में एक हिंदू कबीला था और बेसर (खच्चर) एक संकर जाति थी। देवल स्मृति में जो शुद्धि की चर्चा है उसका संकेत शायद इसी ओर है। इस प्रसंग में नवसारी की संधि भी विचारणीय है।

की ओर से हुई जो आरम्भ में बौद्ध थे फिर मुसलिम बन गये[1] । बरामका के मंत्रित्व में अनेक ग्रंथ संस्कृत से अरबी में अनूदित हुए । कहा जाता है कि इन अनूदित ग्रन्थों में कोई वेदान्त संबंधी ग्रंथ नहीं मिलता । ठीक है, पर इससे यह निष्कर्ष तो नहीं निकलता कि हारू रशीद तथा मंसूर के शासनकाल में जो व्यापक शास्त्र-चिंतन चल रहा था उसका भारतीय दर्शन अथवा वेदांत से कुछ संबंध ही न था ? वेदांत के विषय में इतना याद रखना चाहिये कि इसकी गणना रहस्य-विद्या में होती है और इसका वितरण भी अधिकारियों में ही होता है । वेदांत में जो अनेक वाद चल पड़े हैं वे अपेक्षाकृत इधर के हैं । शांकर वेदांत को बौद्ध दर्शन से विशेष सहायता मिली । ईरान प्रभृति प्रांतों में महायान शाखा का बोल बाला था जिसमें धीरे धीरे बहुत कुछ गुह्यता और भक्ति का योग हो गया था। महायान के भीतर जो सहजयान आदि अनेक यान चल पड़े थे उन्हीं से सूफियों का विशेष परिचय हुआ । इन यानों का निर्वाण कोरा निर्वाण न था । नहीं, इनमें आनन्द का भी पूरा प्रबंध था[2] । बुद्ध को सूफियों ने किस दृष्टि से देखा इसका पता शायद इतने से ही ठीक ठीक चल जाता है कि सूफी "बुत के बदले में कोई ले तो खुदा देते हैं" । अर्थात् सूफी बुत के लिये खुदा को अलग डाल देते हैं । हाँ, तो सैयद सुलैमान साहब को इस बात का गर्व होना चाहिये कि उन्होंने अपनी खोज से सिद्ध कर दिया कि हसरिया वस्तुतः खिजिरिया या समनिया (श्रमण) से बना है[3] । इस प्रकार इसलाम के भीतर 'बोज आसफ़' के साथ ही साथ बुद्ध के दो और रूप हो गए । सूफियों का बुत और खिज्र से घना

---

(१) अल्लामा सैयद सुलैमान नदवी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'अरब व हिंद के तालुक़ात' में इसे भलीभाँति दिखा दिया है कि वास्तव में 'बरामका' बौद्ध थे । उन्होंने इसे 'परमक' का परिणाम बताया है ।

(२) कुछ विद्वानोंने हीनयानी निर्वाण के आधार पर 'फ़ना' को निर्वाणसे भिन्न सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, पर यह उनका शुद्ध भ्रम है । बाद के 'यानों' के निर्वाण में आनन्द का विधान हो गया था ।

(३) अरब व हिन्द के तालुकात, पृ० २२६–३० ।

संबंध है। इसलाम में खोज़ आसफ़ पैगंबर माने जाते हैं और बुत परम प्रियतम का प्रतीक। सूफी खिज्र को अपना पथप्रदर्शक मानते ही हैं।

बसरा एवं बगदाद को सूफियों का केन्द्र समझ कर तथा ईरान में तसव्वुफ की प्रधानता देखकर समीक्षकों ने तसव्वुफ को आर्य-संस्कारों का अभ्युत्थान घोषित किया और आर्यदर्शन के अभिज्ञों ने इसे स्वीकार भी कर लिया। परतु ब्राउन, निकल्सन प्रभृति फारसी तथा अरबी के पंडितों ने इसका विरोध किया और जहाँ तक उनसे बन पड़ा ईरान और भारत के प्रभावों को कम करने की भरपूर चेष्टा की। उनके अनेक मनमाने प्रमाणों को निर्मूल सिद्ध करने के उपरान्त अब हमें देखना यह है कि मिस्र के जूलनून तथा स्पेन के अरबी नामक दूर के सूफी आचार्यों की साक्षी पर क्या सचमुच आर्य प्रभाव खंडित हो जाता है। सौभाग्य से हमारे पास कुछ ऐसे प्रमाण प्रस्तुत हैं जो उनके इस अमोघ अस्त्र को भी निष्फल करने में समर्थ हैं। सिकंदरिया में भारतीय भाव किस प्रकार काम कर रहे थे इसको हम पहले ही देख चुके हैं। यहां यह स्पष्ट करना है कि जूलनून भी उनसे प्रभावित हुआ था। प्लोटिनस की भाँति ही जूलनून ने भी ईरान की यात्रा की और बगदाद[1] को अपना अड्डा बनाया। परिणाम यह हुआ कि आर्य-संस्कारों के प्रचारक के कारण उसे 'जिंदीक' और 'मलामती' की उपाधि तथा अंत में प्राण-दंड मिला। अस्तु, यहाँ भी निर्विवाद कहा जा जा सकता है कि जूलनून के आधार पर भी तसव्वुफ पर भारतीय प्रभाव सिद्ध है। जूलनून के विचार बहुत कुछ अनिशलामी अथवा भारतीय हैं जो ईरान की यात्रा (बगदाद) में हाथ लगे थे और आगे चलकर उसके प्राण-दंड के कारण भी हुए।

दूर होते हुए भी मिस्र भारत से निकट है, पर स्पेन तो भारत से सचमुच बहुत ही दूर है। अतएव यह किसी के मन में आ नहीं सकता कि कोई स्पेन का वासी भी भारतीय भावों से अभिषिक्त हो सकता था। निदान कहा गया है कि अरबी भारतीय प्रभाव से सर्वथा मुक्त है। दर्शन की दृष्टि से अरबी जितना भारतीय वेदान्त का ऋणी है उतना अन्य कोई सूफी आचार्य नहीं। कारण स्पष्ट है। हल्लाज के समय

---

(१) एंसाइक्लोपीडिया आव इसलाम, प्रथम भाग, पृ० ६६४।

में वेदान्त का रूप उतना व्यक्त और व्यापक न हो सका था जितना अरबी के समय तक हो गया। हल्लाज[1] के भारत-भ्रमण का दृढ़ प्रमाण है किंतु अरबी की भारत-यात्रा का कोई उल्लेख नहीं। पर अरबी ने जो पूर्व की यात्रा की थी उसका विवरण[2] कुछ इस प्रकार है—सन् ५९८ हि० में स्पेन से उसने प्रस्थान किया। उसी साल मक्का पहुँचा। फिर सन् ६०१ में बारह दिन तक बगदाद में रहा। सन् ६०८ में फिर बगदाद वापस आया और सन् ६११ में फिर मक्का पहुँचा। अंत में दमिश्क को अपना निवास-स्थान बनाया और वहीं सन् ६३८ में सदा के लिये सो रहा। कहा जाता है कि एक योगी की सहायता से उसने अमृतकुंड[3] के अनुवाद का संशोधन भी किया था जिसे अमीदीने मिरातुलमानी[4] के नाम से कुछ पहले तैयार किया था।

उपर्युक्त विवरण के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि सन् ५९८ हि० से लेकर सन् ६३८ हि० तक अरबी का स्पेन से कोई संबंध न रहा। जीवन के इस अंतिम ४० वर्ष को एशिया में व्यतीत करनेवाला व्यक्ति एशिया का न हुआ यह आश्चर्य की बात है। कब्र तो उसकी अब भी एशिया में ही है। लोग उसे स्पेनी समझा करें। तो विचारणीय बात यह है कि अरबी ने प्रथम बार बगदाद में केवल १२ दिन निवास किया और फिर शीघ्र ही कहीं अन्यत्र की यात्रा की। फिर सन् ६०८ में लौटकर बगदाद आया। बगदाद से कहाँ गया और सन् ६०१ से सन ६०८ तक कहाँ रहा इसका सन्तोष-जनक उत्तर हमारे पास नहीं है। पर हम उसकी यात्रा की प्रगति, प्रवृत्ति तथा विचार-धारा के आधार पर तुरत कह सकते हैं कि

(१) ए लिटरेरी हिस्टरी आव पर्शिया, प्रथम भाग, पृ० ४३१।

(२) एंसाइक्लोपीडिया आव इसलाम, प्रथम भाग, (अरबी पर निबंध)।

(३) दी रेलिजस ऐटीच्यूड एंड लाइफ़ इन इसलाम, पृ० १०१।

(४) सैयद सुलैमान साहब का कहना है कि अमृतकुंड का अरबी में अनुवाद एक नवमुसलिम पंडित और एक सूफीने मिलकर 'ऐनुलहयात' के नामसे किया था। सम्भव है कि एक ही ग्रंथ का अनुवाद भिन्न भिन्न समयों में भिन्न भिन्न व्यक्तियों ने किया हो।

वह बगदाद से भारत आया और यहीं सात वर्ष तक सत्संग करता रहा। भारत से लौटने पर फिर वह बगदाद गया और सन् ६०८ से सन् ६११ तक वहीं बना रहा। सन् ६११ में फिर मक्का गया और अंत में दमिश्क को अपना घर बना लिया। अस्तु, इस भ्रमण तथा सत्संग में जो भारतीय भाव हाथ लगे उन्हीं की प्रेरणा से उसने तसव्वुफ में 'वहदतुलवजूद' का प्रतिपादन किया और सिद्ध सूफियों में अद्वैतवादी ख्यात हुआ। यदि उसने एक योगी की सहायता से अमृतकुंड के अनुवाद का संशोधन किया तो निश्चय ही वह भारतीय-भावों का भक्त और ज्ञाता था। उस पर भारत का प्रकट प्रभाव है, और है वह अपने प्रौढ़ विचारों के लिये भारत का सर्वथा ऋणी।

अरबी के अद्वैतवाद से व्याकुल हो जिली ने भारत[१] का भ्रमण किया और शायद काशी में कुछ दिनों तक रहा भी। जो हो, जिली ने अरबी के पक्ष का खंडन बहुत कुछ उसी ढंग पर किया जिस ढंग पर रामानुज ने शंकर के पक्ष का किया था। तसव्वुफ में उसने 'इंसानुलकामिल' की प्रतिष्ठा की और मुहम्मद साहब को 'इंसानुलकामिल' सिद्ध किया। कहना न होगा कि यह 'इंसानुलकामिल' हमारे यहाँ के 'पुरुषोत्तम' अथवा 'पूर्ण पुरुष' की इसलामी प्रतिध्वनि है और इस बात की स्पष्ट घोषणा है कि तसव्वुफ भारत का पक्का ऋणी है। जिली के उपरांत भारत तसव्वुफ का भर्त्ता बन गया और न जाने कितने सूफी अपना देश छोड़ भारत में आ बसे। उनके संबंध में कुछ निवेदन करना व्यर्थ है। भारत आज भी सूफियों का प्रधान आश्रय है। हिन्द के मुसलमान कितने दिनों से 'हज्ज' के द्वारा इसलाम में भारतीय भावों का प्रसार कर रहे हैं इसे कौन नहीं जानता? फिर भी पश्चिम के पंडित न जाने कैसा 'इतिहास' पढ़ते हैं जो आरंभ के सूफियों पर भारत का प्रभाव नहीं मानते। नहीं, उन्हें उस 'खूनी' इतिहास को भुला कर भारत के प्रेम-प्रसार पर ध्यान देना चाहिए और फिर मुहँ खोल कर प्रकट कहना चाहिए कि वास्तव में हमारा मत क्या है।

---

(१) स्टडीज़ इन इसलामिक मिस्टीसीज्म, पृ० ८१।

कुछ भी हो, पर इतना अवश्य निश्चित है कि तसव्वुफ का उदय फिर तभी हो सकता है जब भारत[1] की अध्यात्म विद्या का फिर मुसलिम देशों में प्रकाश और अरबी, ईरानी तथा तुर्की आदि प्रसिद्ध मुसलिम भाषाओं में संस्कृत ग्रंथों का अनुवाद हो। पर यहाँ तो सिरे से बयार ही कुछ और बह रही है। जिधर देखो संस्कृत का विरोध हो रहा है। फिर इसे करे कौन? तो भी एक अभिज्ञ ईरानी मनीषी का कहना यही है—

"India may lead the whole of Western Asia, provided the vast moral and philosophical treasure lying hidden in Sanskrit, is translated, commented upon and explained in Iranian and Arabic and other more important Asiatic languages."

किन्तु क्या कभी ऐसा हो सकता है?

---

(१) आउटलांइस आव इसलामिक कलचर, भाग२, पृ० ५४८।

१. व्यक्तिवाचक अनुक्रमणिका

भ

म

---

२. संकेतवाचक अनुक्रमणिका

अ

आ

प

फ

ब

अनुक्रमणिका

३. उद्धृत अँगरेजी ग्रन्थों का पता

A Comparative Grammar of the Dravidian Languages,
by Rt. Rev. Robert Caldwell, D. D., LL. D.
London, Kegan Paul. 1913.

A History of Hebrew Civilization,
by A. Bertholet, translated by A. K. Dallas. M A.
London, G. G. Harrap & Co. 1926.

A History of Indian Shipping and Maritime Activity,
by Radha Kumud Mookerji, M. A. Calcutta. 1912.

A History of Persian Literature in Modern Times,
by E. G. Browne, Cambridge, 1924.

A Literary History of the Arabs,
by Reynold A. Nicholson, M. A. London,
T. Fisher Unwin, 1914.

A Literary History of Persia Volume I,
by E. G. Browne M. A., M. B. London. 1909.

An Idealist View of Life,
by S. Radhakrishnan, London.G. Allen & Unwin,1932.

Arabian Society at the Time of Mohammad,
by Pringle Kennedy, C. I. E., M. A., B. L.,
Thacker Spink & Co, Calcutta. 1926.

Asianic Elements in Greek Civilization,
by Sir William M. Ramsay, D. C. L., LL. D.
John Murray, Albemarle Street, London, 1928.

A Short History of Women,
by John Langdon, Davies, Jonathan Cape, London, 1927.

Aspects of Islam,
by D. B. Macdonald, M. A., D. D.,
The Macmillan Company, 1911.

Christian Mysticism,
by William Ralph Inge. D. D , Dean of St. Paul's London,
Metheun & Co. 36 Essex Strecet. 1913.

Contribution to the History of Islamic Civilization,
by S. Khuda Bukhsh, University of Calcutta, 1929.

Dictionary of Islam,
by T.P. Hughes, London, W.H. Allens and Co.

Dr. Modi Memorial Volume,
by Editorial Board, Bombay, 1930.

Early Zorastrianism,
by James Hope Moulton., London. 1913.

Encyclopaedia of Religions and Ethics,
by James Hastings, Edinburgh, T. and T. Clark,
38 George Street.

Encyclopaedia of Islam,
London, Luzac and Co., 46 Great Russallstreet.

Essential Unity of All Religions,
by Bhagavan Das M. A., D. Litt. Adyar, Madras, 1932;
The Kashi Vidya-Pitha, Benares. 1939.

History of Indian Philosophy Vol. II,
by S. K. Belvalkar & R. D. Ranade, Poona, 1927.

History of the Parsis Part I,
by Dosabhai Framji Karaka, C. S. I., London, 1884.

India and Its Faith,
by James Bisset Pratt, Ph. D., New York, 1915,

India Old and New,
by E.Washburn Hopkins,M.A.,Ph.D.,New York, 1902,

Instinct and Intuition:
by George Binney Dibblee, M.A , London, Faber & Faber limitted, 1929.

Islam in China,
by Marshall Broomhall, B. A. London, Morgan & scott, Ltd., 1910.

Islam in India,
by Jaffar Sharif, Translated by G. A. Herclots M. D. Oxford, 1921,

Israel,
by Adolphe Lods., Translated by S. H. Hook, Kegan & Paul, London 1932.

Moslem Mentality,
by L. Levonian B.A., M.R.A.S. London, George Allen & anwin Ltd., Museum Street, 1929.

Muslim Theology,
by Duncan B. Macdonald, M. A , B. D. London, George Routlege & Sons, Ludgate Hill, 1903.

Mysticism, Freudeanism and Scientific Psychology,
by Knight Dunlap, Baltimore, St. Louis C. V. Mosby Company, 1920.

Mystical Elements in Mohammad,
by J. C. Archer, B. D., Ph. D., Yale University Press, New Heaven, 1929.

Mysticism in Maharashtra,
(History of Indian Philosophy, Vol 7)
by R. D. Ranade, Poona, Aryabhushan Press, 1933.

Notes on Mohammadanism,
by Rev, F.P. Hughes. M.R.A. S. Wm. H. Allen & Co.,
13 Waterloo Place, S.W., London, 1894.

Origin and Evolution of Religion,
by E. W. Hopkins, Ph. D., LL. D., London, 1924.

Origin of Manicheism,
Muslim Review,Vol.II,1927,Muslim Institute Calcutta.

Outlines of Islamic Culture,
by A. M. A. Shushtery, Bangalore, 1938.

Persian Literature,
The World's Great Classics, University Edition
The Colonial Press. London,

Pre Mughal Persian in Hindustan,
by Muhammad 'Abdu'l Ghani, M.A.,M. Litt,
The Allahabad Law Journal Press, Allahabad,1941.

Poems From Divan of Hafiz,
by G. L. Bell, London, 1928.

Rabia the Mystic,
by Margaret Smith,M.A.,Ph.D.,Cambridge U.Press,1928.

Rational Mysticism,
by William Kingsland, London, 1924.

Science and the Religious Life,
by Carl Rahn, New Heaven,Yale University Press,1928.

Secret Sects of Syria and the Lebanon,
by Bernardh H. Springett, P. M., P. Z.
George Allen and Unwin, London, 1922.

Saints of Islam,
by Husain R. Sayani B. A., Luzac & Co. London, 1908.

Six Lectures,
Lahore, The Kapur Art Printing Works, 1930.

Social Teachings of the Prophets and Jesus,
by C. F. Kent, Ph. D., Litt. D.,
Yale University Press, New York, 1925.

Studies in Ancient Persian History,
by P. Kershasp. London, 1905.

Studies in Islamic Mysticism,
by R. A. Nicholson, D. Litt. LL. D. Cambridge, 1921.

Studies in the Psychology of the Mystics,
by Joseph Marechal, S. J., Translated
by Algar Thorald, London.

Studies in Tamil Literature and History,
by V. R. Ramachandra Dikshitar M.A., London, 1930.

Studies in Tasawwuf,
by Khan Sahib, Khaja Khan, Madras, 1923.

Theism in Medaeval India.
J. Estlin Carpenter, D. Litt.
Williams & Norgate, London, 1921.

The Avariful Marif,
Translated by Lieut. Col. H. Wilberforce Clearke,
Calcutta, 1891.

The Centre of Ancient Civilization,
by H. D. Daunt, London, 1926.

Tne Early Development of Mohammadanism,
D. S. Margoliouth, D. Litt. Williams And Norgate,
14 Henrietta Street, London,1914.

The Early History of the Vaishnava Sect,
by Hemchandra Ray-Chaudhuri, M. A.,
University of Calcutta, 1920.

The Faith of Islam,
by Rev. Edward Sell D. D., M. R. A. S.
6 St. Martins Place, London; W.C. 2. 1920

The Fourth Gospel,
by E. F. Scott D. D., Edinburgh, 1926.

The History of Philosophy in Islam,
by Dr.T. J. De Boer, Translated by E. R. Jones, B. D.,
London, Luzac & Co., 1933.

The Holy Cities of Arabia,
by Eldon Ruther, G. P. Putnam's Sons, Ltd.,
London & New York, 1925.

The Holy Quran,
by M. Muhammad Ali, M. A., LL.B. Lahore, 1920.

The Idea of Personality in Sufism,
by R. A. Nicholson, Cambridge University Press,1923.

The Influence of Islam,
by E. J. Bolus, M. A., B. D., Lincoln Williams, 1932.

The Legacy of Islam,
edited by T. Arnold & A Guillaume,
Oxford University, 1931,

The Legacy of the Middle Ages,
edited by G. G. Crump. & E. F. Jacob, Oxford. 1926.

The Muslim Creed,
by A. J. Wensinck, Combridge University Press,
Fetter Lane, London, 1932.

The Muslim Doctrine of God,
by Samuel M. Zwemer, London, 1905.

The Mystics of Islam,
by R. A. Nicholson, London, 1914.

The Origin of Islam in its Christian Environment,
by Richard Bell., M. A., B. D.
Macmillan & Co. London, 1926.

The Philosophy of Plotinus,
by William Ralph Inge, C. V. O., D. D.
Longmans, Green & Co. London, 1923.

The Psychology of Religious Mysticism,
by James H. Leuba. London, Kegan Paul, 1925.

The Religion of the Hebrews,
by John Punnett Peters, Ph. D. Sc. D., D. D.
Cambridge U. Press, 1923.

The Religions of India,
by E. W. Hopkins Ph. D., London, 1896.

The Religion of Men,
by Rabindra Nath Tagore,
George A. & Unwin, London, 1930.

The Religions of the Semites,
by W. Robertson Smith. M.A., L. L. D.,
A. & C. Black, London,1927.

The Religious Attitude and Life in Islam,
by D. B. Macdonald, M. A. B. D. Chicago, 1912.

The Social History of Kamrupa
by Nagendra Nath Vasu.Calcutta, 9 Visva Kosh Lane, Bagbazar, 1922.

The Song of Songs,
by William Watter Cannon,Cambridge U.Press. 1913.

The Spirit of Isalm,
by Amir Ali, Syed, London, 1922.

The Thirteen Principal Upunishads,
by Robert Ernest Hume,M.A., Ph. D., New York.

The Traditions of Islam,
by Alfred Guillaume, M. A. Oxford, 1924.

The Treasure of the Magi,
by James Hope Moulton D. Litt., London. 1927.

Umar Khayyam and His Age,
by Otto Rothfeld, I. C. S.. Bombay, D. B. Taraporevala Sons & Co., 190, Hornby Road, 1922.

Was Jesus Influenced by Buddhism,
by, Dwight Goddard,Thetford. Vermont, U.S.A.,1927.

Wither Islam,
edited by H.A.R. Gibb. London, Victor Gollancz Ltd., 14, Henrietta Street, Covent Garden, 1932.